यू० पी० सरकार द्वारा पुरस्कृत

राजस्थान का पिंगल साहित्य

[राजस्थान के कवियों द्वारा रचित ब्रजभाषा साहित्य का इतिहास]

लेखक

डा० मोतीलाल मेनारिया, एम. ए., पी-एच. डी.

हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर प्राइवेट लिमिटेड, बम्बई-४.

द्वितीय संशोधित संस्करण
दिसम्बर, १९५८

मूल्य आठ रुपया

प्रकाशक : नाथूराम प्रेमी, मैनेजिंग डाइरेक्टर,
हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर (प्राइवेट) लिमिटेड, हीराबाग, गिरगाँव, बम्बई-४.
मुद्रक : ओमप्रकाश कपूर, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी (बनारस) ५३७०-१५

निवेदन

राजस्थान के कवियों ने अपनी काव्य-रचनाओं का निर्माण मुख्यतः दो भाषाओं में किया है, डिंगल और पिंगल। डिंगल मारवाड़ी का पर्यायवाची शब्द है और पिंगल व्रजभाषा का। अपने इस ग्रंथ में मैंने राजस्थान के पिंगल साहित्य का क्रमबद्ध इतिहास प्रस्तुत किया है।

इसमें पिंगल भाषा के ४६४ कवियों का विवरण दिया गया है, जिनमें ६२ कवि ऐसे हैं जो अभी तक अज्ञात थे और जिनका पता सर्वप्रथम मैंने अपनी खोज से लगाया है। शेष कवियों में से लगभग आधे कवियों का वर्णन शिवसिंह सरोज, दि मॉर्डन वर्नाक्युलर लिटरेचर ऑव हिंदुस्तान, मिश्रबंधु-विनोद इत्यादि ग्रंथों में मिलता है और बाकी के नाम राजस्थान के इतिहासकारों, साहित्यान्वेषकों, संग्राहकों आदि की पुस्तकों में इधर-उधर बिखरे पाये जाते हैं। परन्तु इन कवियों के परिचय आदि जो इन ग्रंथों में मिलते हैं वे प्रायः अपूर्ण अथवा इतिहास की दृष्टि से भ्रान्तिदायक हैं। विशेषकर मिश्रबंधु-विनोद तो भूलों से भरा हुआ है। उसमें शायद ही कोई ऐसा पृष्ठ मिले जिस में कोई न-कोई अशुद्धि न हो। कहीं कवि का निर्माण-काल ठीक नहीं है, कहीं उसके पिता अथवा आश्रयदाता का नाम अशुद्ध दिया हुआ है, कहीं एक ही ग्रंथ को तीन-चार कवियों के नाम पर लिख दिया गया है, तथा इसी प्रकार की और भी कई भूलें उसमें दृष्टिगोचर होती हैं। इस ग्रंथ में मैंने इन भूलों को ठीक किया है और साथ ही इन ग्रंथों में जिन कवियों के विवरण अधूरे रह गये हैं उनको पूरा भी किया है। इसके लिए मैंने राजस्थान के प्रायः सभी हस्तलिखित पुस्तकों के भंडारों को टटोला है और अपनी एकत्र की हुई इतिहास-सामग्री का उपयोग किया है, जिसका निर्देश स्थान-स्थान पर इस पुस्तक की पाद-टिप्पणियों में किया गया है।

यह एक साहित्यिक शोध का ग्रंथ है, अतएव इसके लिखने में मैंने किसी कवि अथवा ग्रंथ की आलोचना करने की अपेक्षा उसके ऐतिहासिक पहलू पर

विशेष जोर दिया है। कविताओं के नमूने भी केवल उन्हीं कवियों के दिये है जो बिलकुल नये है अथवा हिंदी-साहित्य के इतिहास संबंधी प्रकाशित ग्रंथों में नहीं मिलते है।

राजस्थान के पिंगल साहित्य के निर्माण में जैन कवियों का भी पूरा सहयोग रहा है। परंतु इनके ग्रंथ धार्मिक विषयों पर अधिक हैं और 'साहित्य' शब्द का जो अर्थ आजकल लिया जाता है उसके अंतर्गत उनकी समाई नहीं होती। अतएव मैंने अधिकांश जैन कवियों को छोड़ दिया है और केवल उन्हीं को लिया है, जिनकी रचनाओं में साहित्यिक गुण पाये जाते हैं।

जिन कवियों की रचनाओं को मैंने साहित्य, इतिहास, भाषा शास्त्र इत्यादि की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण समझा उन कवियों का वर्णन मैंने विस्तार-पूर्वक इस पुस्तक के मूल भाग में किया है और शेष का परिशिष्टों में। परिशिष्टों में आये हुए कुछ कवियों के काल आदि का ब्योरा उन्हीं के ग्रंथों के आधार पर दिया गया है, और वह ठीक है। परन्तु कुछ के काल आदि का निर्णय उनके आश्रयदाता राजा-महाराजाओं के शासन-समय, उनके समकालीन कवियों की रचनाओं, उनके ग्रंथों की कुछ पीछे की लिखी हुई हस्तलिखित प्रतियों आदि के आधार पर किया गया है और इसलिए उनके जो संवत् दिये गये हैं वे लगभग ठीक है, निश्चयात्मक नहीं है। यह एक प्रकार की कच्ची सामग्री (Raw Material) है जिसको यह सोचकर इस पुस्तक में सम्मिलित किया गया है कि भविष्य में यदि कोई विद्वान् पिंगल साहित्य संबंधी इस शोध कार्य को आगे बढ़ाने के लिए हाथ में लेंगे तो उनको कुछ सहारा मिलेगा।

हिंदी भाषा में कुछ शब्द ऐसे हैं जिनके दो रूप प्रचलित हैं; जैसे, मीराँ–मीरा, राठौड़–राठौर, वाणी–बानी, चौहाण-चौहान, महाराणा–महाराना, चित्तौड़–चित्तौर आदि। राजस्थान में इनका पहला रूप प्रचलित है। परन्तु हिंदी के विद्वानों में दूसरे रूप का चलन अधिक देखने में आता है। मैंने प्रथम रूप को अपनाया है और मीराँ, राठौड आदि लिखा है। यह ठीक भी है। क्योंकि ये शब्द राजस्थान में इसी तरह लिखे और बोले जाते है। डा० ओझा आदि विद्वानों ने भी इनको इसी तरह लिखा है।

मैं भी हिंदी का एक तुच्छ सेवक हूँ और मुख्यतः हिंदी-सेवा के उद्देश्य से ही मैंने यह ग्रन्थ तैयार किया है। यदि इससे हिंदी की कुछ गौरव-वृद्धि हुई तो मैं अपने परिश्रम को सार्थक समझूँगा।

अंत में यहाँ मैं श्रीमान् मोहनवल्लभजी पंत एम० ए०, प्रोफेसर, महाराणा भूपाल कॉलेज, उदयपुर, को धन्यवाद देना भी अपना परम कर्त्तव्य समझता हूँ, जिन्होंने इस पुस्तक की पाण्डुलिपि को आद्योपान्त पढने का कष्ट उठाया और उसमें अनेक सुधार-संशोधन किये। श्रद्धेय पंतजी हिंदी के एक अधिकारी विद्वान एवं मर्मज्ञ समालोचक हैं और उनके पथ-प्रदर्शन से मुझे बहुत लाभ हुआ है। वस्तुतः यदि इस पुस्तक में कोई अच्छाई है तो उसका श्रेय श्री पंतजी ही को है।

उदयपुर (मेवाड़)
ता० २०–७–१९५२

मोतीलाल मेनारिया

द्वितीय संस्करण की भूमिका

'राजस्थान का पिंगल साहित्य' का यह द्वितीय संस्करण हिन्दी-पाठकों की सेवा में उपस्थित किया जा रहा है। इसकी विषय-सामग्री में कोई परिवर्तन नहीं किया गया है; प्रथम संस्करण के अनुसार ही है। प्रूफ संशोधन की जो त्रुटियाँ उसमें रह गई थीं केवल उनको ठीक किया गया है। यू० पी० सरकार ने इस पुस्तक पर मुझे प्रथम पुरस्कार प्रदान किया है और राजस्थान आदि राज्यों के शिक्षा-विभागों ने इसे अपने यहाँ के पुस्तकालयों के लिए स्वीकृत किया है। उनकी इस कृपा से मुझे बहुत प्रोत्साहन मिला है और उसी बल पर यह द्वितीय संस्करण प्रकाशित किया जा रहा है। इस बार इसके प्रकाशन का भार श्रद्धेय नाथूराम जी प्रेमी, मैनेजिंग डाइरेक्टर, हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर (प्राइवेट) लि०, बम्बई ने अपने कन्धों पर लिया है। प्रेमीजी हिन्दी के परम हितैषी एवं प्रतिष्ठित प्रकाशक ही नहीं, बल्कि उच्च कोटि के विद्वान् तथा साहित्यान्वेषी भी हैं। मैं उनके प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता हूँ।

२९-११-५८

मोतीलाल मेनारिया

विषय-सूची

संकेत-चिह्न

अ० सं० पु० = अनूप संस्कृत पुस्तकालय, बीकानेर

ग्रं० = ग्रंथ

ज० = जन्म-काल

ना० प्र० स० = नागरीप्रचारिणी सभा, काशी

नि० का० = निर्माण-काल

पु० = पुल्लिंग

बे० प्रे० = बेलवेडियर प्रेस, इलाहाबाद

म० = महाराजा

मृ० = मृत्यु-काल

र० = रचना

वि० = विवरण

वें० प्रे० = श्री वेंकटेश्वर प्रेस, बंबई

स० भं० उ० = सरस्वती भंडार, उदयपुर

स्त्री० = स्त्रीलिंग

हिं० सा० स० = हिंदी-साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग

पहला अध्याय

पृष्ठभूमि

राजस्थान भारत का एक सुप्रसिद्ध ऐतिहासिक प्रदेश है। इसे भारत की वीरभूमि कहा गया है। यहाँ का इतिहास भारत की वीरता का इतिहास है। इसके सिवा यह साहित्य और कला का भी केन्द्र रहा है। महाकवि माघ और प्रसिद्ध ज्योतिषी ब्रह्मगुप्त यहीं के निवासी थे।[1] भक्त मीराँबाई और नागरीदास ने यहीं जन्म लिया था। कविकुल-चूड़ामणि बिहारी और पद्माकर यहीं के आश्रित थे।

प्राचीन नाम—प्राचीन समय में इस प्रान्त के लिए किसी एक नाम का प्रयोग नहीं होता था। इसके भिन्न-भिन्न भाग भिन्न-भिन्न नामों से प्रसिद्ध थे। पुराणों के अनुसार वर्तमान अलवर जयपुर राज्य के कुछ अंशों को मत्स्य देश कहते थे।[2] मत्स्य के दक्षिण में धुंधुमार (ढूँढाड़) देश का उल्लेख आता है। अजमेर के निकट का प्रदेश पुष्करारण्य और आबू के आसपास का शाल्वदेश कहलाता था। बीकानेर के प्रदेश का नाम जांगल प्रसिद्ध था।[3] पश्चिमी राजस्थान प्रायः समूचा भूतत्व की दृष्टि से मरुकान्तार कहलाता था। मेवाड़ का नाम शिविदेश था जिसकी राजधानी मध्यमिका थी।[4] डूँगरपुर-बाँसवाड़ा के सम्मिलित राज्यों के लिये (वार्गट) वागड़ नाम प्रयुक्त होता था और अब भी वह भाग उसी नाम से प्रसिद्ध है।[5]

राजस्थान—इस समय यह प्रान्त राजपूताना और राजस्थान दोनों नामों से प्रसिद्ध है। जिस समय अंग्रेजों का सम्बन्ध इस प्रान्त के साथ हुआ उस समय इसके अधिक भाग पर राजपूत राजाओं का अधिकार था। इसलिए उड़ियाना, तिलंगाना आदि के अनुकरण पर उन्होंने इसका नाम भी राजपूताना, अर्थात्

---

१. ओझा; राजपूताने का इतिहास, पहली जिल्द, पृ० १३२ और १४६। एम० कृष्णमाचार्य; हिस्ट्री ऑव क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर, पृ० १५४।

२. नागरी-प्रचारिणी पत्रिका, भाग २, पृ० ३३३।

३. ओझा; बीकानेर राज्य का इतिहास, पृ० १०२।

४. नागरी-प्रचारिणी पत्रिका, भाग २, पृ० ३३५।

५. ओझा; डूँगरपुर राज्य का इतिहास, पृ० १।

राजपूतों का देश रख दिया। इसका राजस्थान नाम भी बहुत प्राचीन नहीं है। सर्वप्रथम जार्ज टॉमस ने अपने 'मिलिटेरी मैमोयर्स' (सं० १८५७) में और उनके पश्चात् कर्नल टॉड ने अपने 'एनल्स ऐंड एंटिक्विटीज़ आव राजस्थान' (सं० १८८६) में इसके लिए इस शब्द का प्रयोग किया था जो राजाओं तथा उनके स्थान का सूचक है और लोक-प्रचलित 'रायथान' शब्द का रूपान्तर है। वैसे 'राजस्थान' शब्द का प्रयोग उल्लिखित 'मैमोयर्स' से पूर्व के लिखे राजस्थानी भाषा के 'नैणसी की ख्यात' (सं० १६८७-१७२७) और 'राजरूपक' (सं० १७८८) ग्रंथों में भी देखने में आता है। परन्तु वहाँ यह शब्द राजस्थान प्रान्त के अर्थ में नहीं, प्रत्युत 'राजधानी' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है:—

"संमत १६७२।। रांणो अमरसिंघ साहजादे खुरम सूं मिलियो।। तठा पछै राणो अमरसिंघ उदैपुर आयो ।। तठा पछै राजस्थान उदैपुर हुवो" ।।

—नैणसी की ख्यात[६]

"सप्तपुरी सिरताजं, कन अपवर्ग हूंत समकारण ।
उत्तम धाम अजोध्या, आंपै नाम धाम पुर ऊपर ।। २५ ।।
थिर ते राजसथानं, महि इक छत्र भोम सामर्थ ।
एकं आण अखंडं, खंडण माण प्राण नवखंडं" ।। २६ ।।

—राजरूपक[७]

राजनीतिक विभाग—भारत की स्वतंत्रता के पूर्व राजस्थान छोटे-बड़े २१ राज्यों में बँटा हुआ था[८] और अजमेर-मेरवाड़े का प्रदेश और अलग था। इन सब राज्यों को मिलाकर अब राजस्थान को भी एक प्रशासनीय इकाई अथवा संघ का रूप दे दिया गया है। कुछ राजनीतिक कठिनाइयों के कारण अजमेर-मेरवाड़ा अभी इसमें नहीं मिल पाया है। परन्तु भाषा, संस्कृति, रहन-सहन, जनतत्त्व इत्यादि की दृष्टि से वह राजस्थान का एक अविभाज्य अंग है और उसकी आर्थिक तथा भौगोलिक स्थिति कुछ ऐसी है

६. सरस्वती-भंडार, उदयपुर, की हस्तलिखित प्रति, पृ० २७।
७. राजरूपक (ना० प्र० सभा द्वारा प्रकाशित); पृ० १०—११।
८. उदयपुर, डूँगरपुर, बाँसवाड़ा, प्रतापगढ़, जोधपुर, बीकानेर, किशनगढ़, जयपुर, अलवर, बूँदी, कोटा, सिरोही, जैसलमेर, करौली, झालावाड़, भरतपुर, धौलपुर, टोंक, शाहपुरा, लावा और कुशलगढ़।

कि वह पृथक् नहीं रह सकता। अतः कभी न कभी उसका भी इसमें सम्मिलित हो जाना निश्चित है।

प्राकृतिक विभाग—अर्वली[१] पर्वत श्रेणी ने इस प्रान्त को दो भागों में विभक्त कर दिया है, उत्तर-पश्चिमी और दक्षिण-पूर्वी। उत्तर-पश्चिमी भाग में बीकानेर, जैसलमेर, जोधपुर, और जयपुर राज्य के शेखावाटी प्रदेश का अंश है। यह भाग मारवाड़ या मरुदेश कहलाता है। इसमें समस्त प्रान्त का ३/५ भाग आ गया है। यह भाग रेतीला एवं अनउपजाऊ है और यहाँ वर्षा बहुत कम होती है। जोधपुर में वर्षा का औसत १३ इंच, बीकानेर में १२ इंच तथा जैसलमेर में ७ इंच के लगभग है। इस तरफ थार का एक बहुत बड़ा रेगिस्तान है और भारत के अन्य प्रान्तों की अपेक्षा इधर अकाल भी अधिक पड़ते हैं। शीतकाल में इधर बहुत अधिक सर्दी तथा उष्णकाल में बहुत अधिक गर्मी पड़ती है और लू-आँधियाँ बहुत चलती हैं। यहाँ विशेषकर एक ही फसल सियालू की होती है, उनालू की बहुत कम। जलवायु शुष्क किन्तु स्वास्थ्यप्रद है। यहाँ घोड़े, ऊँट, बैल आदि जानवर बहुत अच्छे होते हैं।

दक्षिण-पूर्वी भाग में जयपुर, अलवर, भरतपुर, धौलपुर, करौली, किशनगढ़, टोंक, कोटा, बूँदी, झालावाड़, मेवाड़, डूँगरपुर, प्रतापगढ़, बाँसवाड़ा, सिरोही, शाहपुरा, कुशलगढ़, लावा और अजमेर-मेरवाड़े का इलाका है। इस विभाग में वर्षा अपेक्षाकृत कुछ अच्छी होती है और भूमि भी अधिक उपजाऊ है।

---

१. 'अर्वली' शब्द डिंगल भाषा के 'आड़ावळा' शब्द का विकृत रूप है। अंग्रेजी भाषा के उच्चारण की अपूर्णता के कारण 'आडावळा' का 'अर्वली' हो गया है। डिंगल भाषा के प्राचीन ग्रंथों में 'आडवळा' ही लिखा मिलता है:—

अति आणद ऊमाहियौ, नहइ ज पुगळ वट्ट।
नीजइ पुहरि उलंघियौ, आड़वळा गै घट्ट॥
आडवळ आघो फरइ, एवड मौहि असन्न।
तिण अजाँण ढोलइ तणौं, मूरख भागइ मन्न॥

—ढोला मारू रा दूहा (सं० १५३०)

दुवै फौज फब्बै गिरराज ढाणे
उभै जाणि आड़ावळा खेत आणे

—रतन रासौ (सं० १७७२)

मेवाड़ में वर्षा का औसत २४ इंच, झालावाड़ में ३७ इंच और बाँसवाड़े में ३८ इंच के लगभग है। अधिक ऊँचाई के कारण आबू पर वर्ष में ५७-५८ इंच के लगभग वर्षा होती है। जल की अधिकता से इस तरफ कई घने जंगल हैं जिनमें इमारती काम के लिये उपयोगी लकड़ी के अतिरिक्त तरह-तरह के फल-फूल भी होते हैं। इस भाग में फसलें साधारणतया दो होती हैं—उनालू और सियालू। परन्तु जलवायु की आर्द्रता के कारण लोगों को प्रायः मलेरिया और मंदाग्नि की शिकायत रहती है।

भौगोलिक स्थिति का प्रभाव—राजस्थान की प्राकृतिक स्थिति और जलवायु का प्रभाव इसके इतिहास, इसकी संस्कृति और इसके निवासियों की रहन-सहन एवं आचार-विचार पर बहुत पड़ा है। यहाँ के लोग बड़े परिश्रमी, बड़े साहसी एवं बड़े कष्ट-सहिष्णु होते हैं। चित्रकला, संगीत और कविता के ये बड़े प्रेमी होते हैं और अपने पूर्वजों की गौरव-गाथाओं के सुनने-सुनाने में बड़ा रस लेते हैं। इनमें धर्म-भीरुता, रूढ़िवादिता और यशःप्रियता कुछ विशेष देखने में आती है। यहाँ की राजपूत जाति की वीरता और वैश्य जाति की व्यापारिक बुद्धि एवं दानशीलता विश्व-विख्यात है। इसके सिवा यहाँ की भील जाति भी अपने पुरुषार्थ, अपनी स्वामिभक्ति और अपने अतिथि-सत्कार के लिए बहुत प्रसिद्ध है। बहुत दीर्घ काल तक इस जाति ने राजपूतों को उनके स्वाधीनता-संग्राम में सहायता दी है। महाराणा प्रताप के मुख्य साथी भील ही थे। जिस समय औरंगजेब ने उदयपुर पर आक्रमण किया उस समय महाराणा राजसिंह की सेना में ५०००० भील थे।[10] आजकल भील एक जंगली जाति मानी जाती है। परन्तु एकता और स्वावलंबन ये इस जाति के दो ऐसे गुण हैं जो भारत की अन्य किसी जाति में इतनी अधिक मात्रा में नहीं पाये जाते।

संगीत—केवल वीरता के क्षेत्र में ही नहीं, संगीतकला, चित्रकला, शिल्पकला और साहित्य के क्षेत्र में भी राजस्थान ने बहुत प्रसिद्धि प्राप्त की है। संगीत का आदर यहाँ के राजदरबारों एवं देव-मंदिरों में निरंतर रहा। यहाँ के रागों में 'मीराँबाई का मलार' बहुत प्रसिद्ध है। इसके अतिरिक्त राग माँड और राग सिंधू ये दो राग राजस्थान के खास अपने है। राग माँड शृंगार रस के लिये बहुत उपयुक्त है। इसका उत्पत्ति-स्थान जैसलमेर माना गया है।[11] राग सिंधू वीर रस का राग है। प्राचीन काल में रण-

---

१०. ओझा; उदयपुर राज्य का इतिहास, पृ० ५५८।

११. ओझा; राजपूताने का इतिहास, पहली जिल्द, पृ० ३१।

प्रयाण के समय ढोली और ढाढी लोग इसे सेना के आगे गाते हुए चलते थे। डिंगल भाषा के कवियों ने इसका वर्णन किया है।[12] युद्ध का अवसर न होने से यह राग अब शनैः-शनैः विस्मृत होता चला आ रहा है। संगीत-शास्त्र संबंधी प्राचीन संस्कृत ग्रंथों में इस राग का नामोल्लेख नहीं मिलता। परन्तु अठारवीं शताब्दी और उसके बाद के कुछ ग्रंथों में इसका नाम देखने में आता है। उदयपुर के सरस्वती-भंडार में 'रागमाला' की एक चित्रित प्रति सुरक्षित है। यह कदाचित् महाराणा जयसिंह के राजत्व-काल (सं० १७३७-५५) में तैयार की गई थी। इसमें राग सिंधू को राग दीपक का पुत्र बतलाया गया है। इसमें राग सिंधू का एक भव्य चित्र भी है।

संगीतकला के साथ-साथ संगीत-साहित्य को भी राजस्थान से बहुत प्रोत्साहन मिला है। संगीत-शास्त्र संबंधी कई उत्कृष्ट ग्रंथ यहाँ लिखे गये हैं जिनमें संगीत-कला के विविध अंगों का बड़ा सूक्ष्म और वैज्ञानिक विवेचन मिलता है। इनमें मेवाड़ के महाराणा कुँभाजी (सं० १४९०–१५२५) के रचे तीन ग्रंथ बहुत प्रसिद्ध हैं—संगीत-मीमांसा, संगीतराज और सूडप्रबंध।[13] इनमें संगीतराज सब से बड़ा है। कहा जाता है कि इसमें १६००० श्लोक थे।[14] परंतु आजकल यह ग्रंथ पूरा नहीं मिलता। जयपुर के कछवाहा राजा भगवंतदास (सं० १६३०–४६) के पुत्र माधवसिंह बड़े संगीत-प्रेमी थे। उन्होंने खानदेश के पुंडरीक विट्ठल से 'राग-मंजरी' नाम का एक ग्रंथ लिखवाया था[15] जो प्रकाशित भी हो चुका है। भगवंतदास से कोई दो सौ वर्ष

१२. (क) हुवो अति सींधवौ राग, वागी हकों।
गाट आया पिसण, घाट लागी थर्का॥
—ईसरदास (सं० १५९५–१६७५)

(ख) सखी अमांणो साहिबो, निरभै कालो नाग।
सिर राखे मिण सम्भ्रम, रीझै सिंधू राग॥
—बाँकीदास (सं० १८२८–९०)

(ग) आलस जागे ऐस मे, बपु ढीलै विकसत।
सींधू सुणियाँ सो गुणौ, कवच न मावै कंत॥
—सूरजमल (सं० १८७२–१९२५)

१३. हरबिलास सारडा; महाराणा कुंभा, पृ० १६६।

१४. एम० कृष्णमाचार्य; हिस्ट्री आव क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर, पृ० ८६२।

१५. ओझा; राजपूताने का इतिहास, पहली जिल्द, पृ० ३२।

पश्चात् महाराजा प्रतापसिंह (सं० १८३५–६०) जयपुर के राजसिंहासन पर आसीन हुए। इनके समय में 'राधा-गोविंद-संगीत-सार', 'राग-रत्नाकर' और 'स्वर-सागर' तीन बहुत उत्तम कोटि के ग्रन्थ इस विषय पर लिखे गये।[१६] इसी प्रकार बीकानेर के महाराजा अनूपसिंह (सं० १७२६–५५) ने भी अपने राजाश्रित पंडित भाव भट्ट से 'संगीत-अनूपांकुश', 'अनूप-संगीत-विलास' और 'अनूप-संगीत-रत्नाकर' नामक तीन ग्रन्थ बनवाये थे।[१७]

चित्रकला—राजस्थान चित्रकला के लिए संसार भर में प्रसिद्ध है। यहाँ के राजकीय चित्रालयों तथा राजपूत सरदारों के घरों में प्राचीन चित्र बहु-संख्या में पाये जाते हैं, जिनमें कोई-कोई चार सौ वर्ष तक के पुराने हैं। ये चित्र एक विशेष शैली में अंकित किये गये हैं जिसे कला-विशेषज्ञों ने 'राजस्थानी शैली' नाम दिया है। इन चित्रों में देवी-देवताओं, राग-रागिनियों, पौराणिक कथाओं, सामंतों, युद्ध-घटनाओं आदि के चित्र अधिक देखने में आते हैं। ये चित्र बहुधा मोटे बाँसी कागज पर मिलते हैं। रंगों की उज्ज्वलता, कल्पना की सुघड़ता और वातावरण की तीव्रता इन चित्रों की मुख्य विशेषताएँ हैं। इनमें आलंकारिकता कुछ अधिक पाई जाती है, पर भाव-कोमलता का भी सर्वथा-अभाव नहीं है। इनके द्वारा गुप्तकालीन तथा उससे पूर्व की भारतीय चित्रकला का भी अच्छा आभास मिलता है। इन चित्रों में अनेक ऐसे हैं जिन पर मुगल-शैली का यथेष्ट प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। ये चित्र अकबर-जहाँगीर के समय या उसके बाद के हैं। इनमें मानव आकृति के यथार्थ चित्रण की ओर विशेष ध्यान दिया गया है। सौन्दर्य और अभिव्यक्ति की दृष्टि से ये चित्र अनुपम हैं।

फुटकर चित्रों के अतिरिक्त संस्कृत, राजस्थानी, फारसी आदि भाषाओं के चित्रित ग्रन्थ भी राजस्थान में बहुत मिलते हैं। ये ग्रन्थ खुले पत्रों के रूप में भी मिलते हैं और सजिल्द पुस्तकाकार में भी। खुले पत्रोंवाले चित्रित ग्रन्थों को राजस्थान में 'जोतदान' कहते हैं। इन ग्रन्थों के चित्रों के चारों ओर सादी कोर होती है और प्रत्येक चित्र के ऊपर उससे संबंधित पूरा छंद अथवा उस छंद का संक्षिप्त गद्यात्मक विवरण लिखा रहता है। रामायण, महाभारत पृथ्वीराज रासौ आदि बड़े आकार के ग्रन्थों की केवल मुख्य-मुख्य घटनाओं के चित्र बनाये गये हैं, पर 'बिहारी-सतसई' जैसे छोटे ग्रन्थों के प्रत्येक पद्य का

---

१६. ब्रजनिधि-ग्रन्थावली (ना० प्र० सभा द्वारा प्रकाशित); पृ० ४८ (भूमिका)।
१७. ओझा: बिकानेर राज्य का इतिहास, पृ० २८६।

चित्रांकन किया गया है। जयपुर के पोथीखाने में रज्मनामा (महाभारत का फारसी में सारांश) की एक सचित्र प्रति सुरक्षित है जो मुगल सम्राट् अकबर की आज्ञा से तैयार की गई थी।[१८] इसमें १६९ चित्र हैं। इस पर चार लाख रुपया खर्च हुआ था और अकबरी दरबार के चौदह चित्रकारों ने इस पर काम किया था।[१९] यह ग्रन्थ भारतीय चित्रकला के भंडार का अनमोल रत्न है और मुद्रित भी हो चुका है। इस प्रकार की चित्रित पोथियों का सबसे बड़ा संग्रह उदयपुर के 'सरस्वती-भंडार' में पाया जाता है जहाँ लगभग ५० ग्रंथ विद्यमान हैं।

शिल्प—संगीतकला और चित्रकला के समान प्राचीन काल में राजस्थान की शिल्पकला भी बहुत बढ़ी-चढ़ी थी। आबू, चित्तौड़, नागदा, चंद्रावती, झालरापाटन आदि स्थानों के कुछ प्राचीन देवालयोंमें खुदाई का काम इतना सुन्दर और बारीकी के साथ किया गया है कि उसे देखकर मनुष्य चकित रह जाता है। इसी तरह बहुत से अन्य स्थानों में भी शिल्प-चातुर्य के उत्कृष्ट नमूने पाये जाते हैं। उदयपुर से कोई सवा सौ मील पूरब दिशा में बाड़ोली नामक एक छोटा-सा प्राचीन गाँव है जो नवीं-दशवीं शताब्दियों में बहुत समृद्ध था और भद्रावती नामसे विख्यात था। यहाँ शिव, विष्णु, गणेश, त्रिमूर्ति आदि के कई जीर्ण-शीर्ण मन्दिर हैं जिनकी कारीगरी की भारतीय शिल्प के विशेषज्ञ फर्ग्यूसन ने भूरि-भूरि प्रशंसा की है, और शेषशायी नारायण की मूर्ति के सम्बन्ध में तो यहाँ तक कह दिया है कि मेरी देखी हुई हिंदू मूर्तियों में यह सर्वोत्तम है।[२०] प्रसिद्ध इतिहासकार कर्नल टाड ने भी यहाँ की तक्षण-कला को अद्भुत और वर्णनातीत बतलाया है।[२१]

भाषा—प्राचीन काल में राजस्थान की राजकीय भाषा संस्कृत थी। विद्वान् लोग अपने ग्रंथोंकी रचना इसी भाषा में करते थे और यहाँ के दानपत्र तथा शिलालेख आदि भी इसी भाषामें लिखे जाते थे। लेकिन जनसाधारण की भाषा प्राकृत थी। अशोक के समय का एक स्तम्भ-लेख जयपुर राज्यान्तर्गत

---

१८. टी० एच० हेंडले: मेमोरियल्स ऑव दि जयपुर एग्जिबिशन, भाग चतुर्थ, भूमिका, पृ० १।

१९. वही; पृ० २।

२०. दि हिस्ट्री आव इंडियन ऐंड ईस्टर्न आर्किटेक्चर, पृ० १३४।

२१. दि एनल्स ऐंड एंटिक्विटीज आव राजस्थान (क्रुक्स का संस्करण), पृ० १७५२–१७६४।

बैराट गाँव से मिला है जो उस समय की प्राकृत में है। प्राकृत के बाद यहाँ अपभ्रंश का प्रचार हुआ। इसमें भी प्रचुर साहित्य रचा गया जिसका अधिकांश श्रेय जैन विद्वानों को है।

डिंगल—लगभग छठी से लेकर तेरहवीं शती तक अपभ्रंश यहाँ की साहित्यिक भाषा के पद पर आरूढ़ रही। तदनन्तर इसका प्रभाव क्षीण होने लगा और इसी के लोकप्रचलित रूप राजस्थानी ने इसका पद ग्रहण करना प्रारम्भ किया जिसका एक रूप (मारवाड़ी) डिंगल नाम से विख्यात हुआ।

डिंगल भाषा में चारण लोगों ने अधिक लिखा है। इसलिए कोई-कोई डिंगल साहित्य को चारण साहित्य भी कहते हैं। राजस्थान मे इस जाति के लोग पहले पहल मारवाड़ में आकर बसे थे। वहाँ से धीरे-धीरे राजस्थान की दूसरी रियासतों में फैले और अपने साथ अपनी भाषा को भी ले गये। इस प्रकार इसका प्रवेश राजस्थान की अन्य रियासतों मे हुआ। राजपूतों और चारणोंका पारस्परिक संबंध बहुत प्राचीन काल से चला आ रहा था। उन्होंने डिंगल भाषा-साहित्य को बहुत प्रोत्साहन दिया। मध्यकालीन हिंदू-मुसलिम संघर्षके वातावरण और राजनीतिक घटनाचक्रोंसे भी बहुत मदद मिली। राजा-महाराजाओं द्वारा सम्मानित होते देख अन्य जातियों के लोगों ने भी इसे अपनाया और इसमें साहित्य-निर्माण करना प्रारम्भ किया। डिंगल साहित्यके दो सर्वश्रेष्ठ काव्य 'ढोला मारूरा दूहा' और 'वेलि क्रिसन रुकमणी री' चारणेतर कवियों ही के रचे हुए हैं। डिंगल का सर्वोत्तम गद्य-ग्रंथ 'नैणसी री ख्यात' भी एक वैश्य लेखक की रचना है।

डिंगल साहित्य प्रधानतया वीर रसात्मक है। इसमे राजपूत जाति के इतिहास, उसकी संस्कृति एवं उसकी भाव-भावनाओं की बड़ी सुन्दर व्यंजना हुई है। स्वर्गीय रवीन्द्रनाथ ठाकुरने इसकी प्रशंसा मे लिखा है कि "भक्ति-रस का काव्य तो भारतवर्ष के प्रत्येक साहित्य में किसी न किसी कोटि का पाया जाता है। राधा-कृष्ण को लेकर हर एक प्रान्त ने मंद या उच्च कोटि का साहित्य पैदा किया है। लेकिन राजस्थान ने अपने रक्त से जो साहित्य निर्माण किया है उसके जोड़ का साहित्य और कहीं नहीं पाया जाता। और उसका कारण है। राजस्थानी कवियों ने कठिन सत्यके बीच में रहकर युद्धके नगारोंके बीच अपनी कविताएँ बनाई थीं। प्रकृति का तांडव रूप उनके सामने था। क्या आज कोई केवल अपनी भावुकता के बल पर फिर वही काव्य-निर्माण कर सकता है?

"इस साहित्यमें जो भाव है, जो उद्वेग है वह राजस्थान का खास अपना है। वह केवल राजस्थान के लिये ही नहीं, सारे भारतवर्ष के लिये गौरव की वस्तु है"।[२२]

रवि बाबू का यह कथन अक्षरशः सत्य है। वास्तव में यह साहित्य है ही ऐसा। युद्ध का, रणभूमि का, वीरोल्लास का, जैसा सजीव, ओजपूर्ण और मार्मिक चित्रण डिंगल साहित्यमें मिलता है वैसा भारत की अन्य किसी प्रांतीय भाषा में नहीं मिलता। विशेषकर वीर महिलाओंके हृदयस्थ भावों का वर्णन तो डिंगलके कवियोका ऐसा सुन्दर और स्वाभाविक बन पड़ा है कि देखकर मन मुग्ध हो जाता है:—

> म्हणी सबरी हूं सखी, दो उर उलटी दाह।
> दूध लजाणे पूत सम, वलय लजाणै नाह॥ १॥
>
> नायण आज न मॉड पग, काल सुणीजै जंग।
> धारां लागीजै धणी, तो दीजै घण रंग॥ २॥
>
> विण मरियाँ विण जीतियाँ, जो धव आवै धाम।
> पग पग चूड़ी पाछटूं, हूं रावत री जाम॥ ३॥
>
> खग वाहूँ उळझै घणी, मैंगळ रहिया भूम।
> नणदल ऊँची बाँध थो, बाजूबँद री लूम[२३]॥ ४॥

---

२२. राजस्थान वर्ष २, अंक ४, पृ० ७२। मार्डन रिव्यू, दिसंबर सन् १९३८, पृ० ७१०।

२३. हे सखी! और सब बाते मुझे सहन हो सकती हैं किन्तु यदि पति मेरी चूड़ियों को लजा दे और पुत्र मेरे दूध को, तो ये दो बाते मेरे लिये समान रूप से दाहकारी एवं हृदय को उलट देनेवाली है॥ १॥ हे नाइन! आज मेरे पैरमें महावर मत लगा, कल युद्ध सुना जाता है। यदि मेरे पति धारा-तीर्थ में स्नान करे अर्थात् तलवार की धार से कटकर युद्ध मे काम आवे तो फिर (सती होने के समय) खूब रंग देना॥ २॥ हे सखी! यदि मेरे पति बिना मृत्यु या बिना जीत के घर आ गये तो मै पग-पग पर अपनी चूड़ियो के टुकड़े कर डालूँगी! मै भी राजपूत की बेटी हूँ॥ ३॥ हे ननद! हाथी झूम रहे है और मै तलवार चलाना चाहती हूँ। मेरे भुजबंद की लटकन को ऊपर बाँध दो। यह बहुत उलझती है॥ ४॥

चौदहवीं शताब्दी में जिस समय राजस्थान में राजस्थानी भाषा का उदय हो रहा था लगभग उसी समय शूरसेन देश अथवा ब्रजमंडल में ब्रजभाषा विकसित हो रही थी जिसका आधार शौरसेनी अपभ्रंश था। प्रारंभ में यह 'भाखा' कहलाती थी[२४] पर बाद में ब्रजभाषा नाम से पुकारी जाने लगी। डा० धीरेन्द्र वर्मा के मतानुसार सर्वप्रथम भिखारीदास ने अपने 'काव्य-निर्णय' (सं० १८०३) में 'ब्रजभाषा' शब्द का प्रयोग किया था।[२५] परन्तु उनका यह कथन ठीक नहीं। भिखारीदाससे भी बहुत पहले के कवियों की रचनाओं में यह शब्द मिलता है:—

(१) मरुभाषा निरजल तजी, करि ब्रजभाषा चोज।
अब गुपाल या तें लहैं, सरस अनोपम मोज॥[२६]
—गोपाल-कृत रसविलास (सं० १६४८)

(२) मृगभाषा तें अधिक है, ब्रजभाषा सौं हेत॥
ब्रजभूषन जा कौं सदा, मुख भूषन करि लेत॥[२७]
—समरथ-कृत रसिकप्रिया की टीका (सं० १७५५)

२४. 'भाखा' शब्द का प्रयोग ब्रजभाषा के लिए ही नहीं, बल्कि संस्कृत से भिन्न अवधी आदि अन्य समकालीन लोकभाषाओंके लिये भी होता था। गोस्वामी तुलसीदास ने 'रामचरितमानस' की अवधी को, नंददास ने 'रासपंचाध्यायी' की ब्रजभाषा को और राठौड़ पृथ्वीराज ने 'वेलि क्रिसन रुकमणी री' की डिंगल को 'भाखा' कहकर पुकारा है.—

(१) "भाखाबद्ध करब मैं सोई"
—रामचरितमानस

(२) "ताही तें यह कथा यथा मति भाखा कीनी"
—रासपंचाध्यायी

(३) "भाखा संस्कृत प्राकृत भणता, सुध भारती ए सरस"।
"चारण भाट सुकवि भाखा चित्र, करि एकठा तो अरथकहि"।
—वेलि

२५. ब्रजभाषा व्याकरण, पृ० १० (भूमिका)

२६. अभय जैन ग्रंथालय, बीकानेर, की हस्तलिखित प्रति (सं० १७४९), पद्य ४५।

२७. दानसागर भंडार, बीकानेर, की हस्तलिखित प्रति (सं० १७९९), पद्य १७।

(३) केशवदास कहे छे जे माहरी मति संस्कृत वाणीं नै विषे बुद्धि विशेष छे तो पिण हुं भाषा रस नै विषै लोलपी छुं ते केहनी परे जिम देवता नै देवलोक माहे अमृत थकां पिण देवांगना ना अधर ना रस नी वांछा कर अधर नीरस घणी इच्छ: तिम जंपिण संस्कृत भाषा जाणु हुँ तो पिण व्रजभाषा नी वांछा घणी है मुझ नें।[२८]

—(केशवदास-कृत) शिखनख की टीका (सं० १७६२ से पूर्व)

(४) नेही महा व्रजभाषा-प्रवीन और सुंदरतान के भेद को जानै।
भाषा-प्रवीन सु छंद सदा रहे सो घन जू के कवित्त बखानै॥
—घन आनद (सं० १७८१-९६)

व्रजभाषा—सोलहवी शताब्दी के मध्य तक पहुँचते-पहुँचते व्रजभाषा ने अच्छा व्यवस्थित रूप धारण कर लिया और फिर धीरे-धीरे लगभग सारे मध्यदेश[२९] की साहित्यिक भाषा बन गई जिसमें राजस्थान का भी एक बड़ा भाग सम्मिलित था। अतः राजस्थान में दो साहित्यिक भाषाएँ साथ-साथ व्यवहृत होने लगी, डिंगल और व्रजभाषा। कुछ समय तक ये दोनों भाषाएँ समानांतर में समान गति से आगे बढ़ती रहीं। परन्तु बाद में डिंगल पिछड़ गई और व्रजभाषा आगे निकल गई। अपने घर में ही डिंगल का पिछड़ जाना एक अस्वाभाविक और आश्चर्यदायक घटना थी। परन्तु इसके कुछ विशेष कारण थे। वे कारण ये हैं—

(१) डिंगल एक राजाश्रित भाषा थी। इसका सारा ठाट-बाट, सारा वातावरण, सामंती था। इसकी जीवन-शक्ति राजकृपा पर निर्भर थी। इसके पृष्ठपोषक राजा-महाराजा, इसमें रचना करनेवाले राजकवि और इसके प्रशंसक राजदरबारी लोग थे। जनता से सीधा संपर्क इसका न था। राजवर्ग व राजपूत जाति के ही लोग इसकी उन्नति के इच्छुक थे। लेकिन व्रजभाषा को राजसत्ता तथा जनसाधारण दोनों का बल प्राप्त था।

(२) डिंगल में मुख्यतः चारण, भाट, मोतीसर आदि इनी-गिनी दो-

२८. अभय जैन ग्रंथालय, बीकानेर, की हस्तलिखित प्रति (सं १७६२) पद्य १।

२९. कन्नौज के राजकवि राजशेखर (स० ९३७—७७) के अनुसार बनारस मध्यदेश का पूर्वी बिंदु था। पंजाब के कर्नाल जिले का पृथूदक अथवा पिहोवा उसकी उत्तरीय एवं आबू पर्वत पश्चिमीय सीमा था। दक्षिण में उसका विस्तार गोदावरी तक था।

चारण भटायत जातियों के लोग ही साहित्य-रचना करते थे। दूसरी जातियों के कवि न तो इसमें लिखना पसंद करते थे, न इसे बल-प्रोत्साहन देते थे। विशेषकर ब्राह्मण जाति ने तो इस भाषा को कभी छूआ भी नहीं। वह हमेशा इसे हीनता की दृष्टि से देखती रही। डिंगल भाषा का एक भी ग्रंथ अभी तक ऐसा देखने में नहीं आया जो किसी ब्राह्मण द्वारा रचा गया हो। इसके विपरीत ब्रजभाषा में सभी जातियों के लोग काव्य-रचना करते थे। अतएव डिंगल की अपेक्षा ब्रजभाषा में रचना करनेवालों की संख्या बहुत अधिक थी।

(३) डिंगल भाषा के कवियों का दृष्टि-बिंदु लौकिक था। वे प्रायः धन-प्रतिष्ठा के लोभ से कविता करते थे। अतः नरकाव्य अधिक लिखते थे जिनमें जनसाधारण की कोई रुचि नहीं थी। उनके ग्रंथ राजदरबारों में पढ़े जाते या राजभंडारों की शोभा बढ़ाते थे। लोकप्रियता का सहारा उन्हें नहीं था। लेकिन ब्रजभाषा के कवि अधिकतर शृंगारी भक्त एवं संत-महात्मा थे, जो ईश-भक्ति एवं लोक-कल्याण की भावना से काव्य-रचना करते थे। वे प्रेम, भक्ति, धर्म, नीति, वैराग्य आदि लोकप्रिय विषयों पर लिखते थे जिनकी ओर तत्कालीन हिंदू समाज का स्वाभाविक आकर्षण था।

(४) डिंगल के कवि अधिकतर वीर रस की कविता लिखते थे। परन्तु ब्रजभाषा के कवि शृंगार, वीर, शान्त आदि नवों रसों में रचना करते थे। अतः रस-निरूपण की दृष्टि से भी ब्रजभाषा का क्षेत्र डिंगल की अपेक्षा अधिक व्यापक था।

(५) डिंगल की अपेक्षा ब्रजभाषा अधिक कोमल, कर्णमधुर और बोधगम्य भाषा थी।

(६) ब्रजभाषा के गेय पद संगीत के लिए बहुत उपयुक्त थे। यह विशेषता उसे लोकप्रिय बनाने में बहुत सहायक हुई। परन्तु डिंगल इस दृष्टि से उतनी उपयोगी न थी।

ये कुछ ऐसे सहज कारण थे जिससे डिंगल की अपेक्षा ब्रजभाषा का अधिक प्रचार और प्रभाव होना स्वाभाविक था और वही हुआ भी। इतना ही नहीं, अठारवीं शताब्दी में पहुँचकर तो ब्रजभाषा ने एक नई परिस्थिति ही राजस्थान में उत्पन्न कर दी। वह यह थी कि उसने चारण कवियों को भी अपने प्रभाव में ले लिया और उनमें आत्मलघुता का भाव पैदा कर दिया,

जिससे वे स्वयं ब्रजभाषा की तुलना में डिंगल को एक घटिया और प्रभावहीन भाषा समझने लग गये। अतः जिस डिंगल को वे अभी तक अभिमान की दृष्टि से देखते आ रहे थे, जिसे वे अपनी बपौती मानते थे, और जिसमें कविता करना वे अपने लिए गौरव की बात समझते थे उसी से किनारा कर उन्होंने ब्रजभाषा का आश्रय लिया। बारहठ नरहरिदास पहले चारण थे जिन्होंने 'अवतारचरित्र' (सं० १७३३) लिखकर ब्रजभाषा में ग्रंथ-रचना का सूत्रपात किया। फिर तो ब्रजभाषा में लिखने का सिलसिला बन गया और चारण कवियों ने उत्तम कोटि के अनेक ग्रंथों का निर्माण कर ब्रजभाषा साहित्य के भंडार को भरा।

हिन्दी-क्षेत्र के कुछ भागों में, विशेषकर राजस्थान में, ब्रजभाषा के लिए 'पिंगल' नाम प्रचलित है जिसका वास्तविक अर्थ छंद-शास्त्र है। परन्तु इस अर्थ में इस शब्द का प्रयोग बहुत प्राचीन नहीं है। कोई १८वीं शताब्दी से यह इस अर्थ में प्रयुक्त होने लगा है और सिख सम्प्रदाय के प्रसिद्ध गुरु गोविन्दसिंह (सं० १७२३-६५) के 'विचित्र नाटक' में कदाचित् पहले पहल देखने में आता है। जैसे, "भाषा पिंगल दी"।[३०]

इसके पश्चात् इस शब्द का प्रयोग हिन्दी-राजस्थानी के कई ग्रंथों में मिलता है। राजस्थानमें इसका प्रयोग चारण कवियों ने अधिक किया है :—

(१) डिंगळिया मिळियां करै, पिंगल तणौ प्रकास।[३१]
संस्क्रती व्है कपट सज, पिंगल पढ़ियाँ पास॥

—बाँकीदास

(२) और भी आसीयूं में कवि बंक।
डिंगल पिंगल संस्कृत फारसी में निसंक॥[३२]

—बुधाजी

(३) बदन सुकवि सुत कवि मुकट, अमरगिरा मतिमान।
पिंगल डिंगल पटु भये, धुरंधर चंडीदान॥[३३]

—सूरजमल

३०. दशम ग्रन्थ (श्री गुरुमत प्रेस, अमृतसर द्वारा प्रकाशित); पृ० ११७।
३१. बाँकीदास-ग्रन्थावली, भाग दूसरा, पृ० ८१।
३२. बाँकीदास-ग्रन्थावली, भाग तीसरा, पृ० १० (भूमिका)।
३३. वंशभास्कर; प्रथम राशि, चतुर्थ मयूख, पृ० ४०।

(४) पिंगल डिंगल पटु प्रकट, गहरो ब्रह्म सुग्यान।
वदनसिंह रै सुत विदित, दाखो चंडीदान।।[२४]

—मुरारिदान

चारणेतर कवियों ने ब्रजभाषा के लिए पिंगल शब्द का प्रयोग प्रायः नहीं किया। उन्होंने अधिकतर 'भाषा' शब्द का व्यवहार किया है।

परन्तु किस विशेष अभिप्राय से चारण कवियों ने इस नाम को ग्रहण किया इसका ठीक-ठीक पता नहीं लगता। चारण लोग, कहा जा चुका है, अधिकतर अपनी देशी भाषा अर्थात् मरुभाषा में कविता करते थे जो डिंगल कही जाती थी। ब्रजभाषा को ये लोग परदेशी भाषा मानते थे और उसे 'भाट भायषा' (भाटों की भाषा) कहते थे; क्योंकि भाट जाति के लोग प्रायः उसी में काव्य-रचना करते थे जो पूरब की ओर से आकर राजस्थान में बसे थे। परन्तु जब ब्रजभाषा के लिये 'पिंगल' शब्द का प्रयोग होना शुरू हुआ तब चारण लोगों ने भी उसे स्वीकार कर लिया; क्योंकि छंद-रचना में डिंगल शब्द के साथ संगति मिलाने और कविता-पाठ में सुखोच्चारण की दृष्टि से 'पिंगल' शब्द 'ब्रजभाषा' शब्द की अपेक्षा अधिक उपयुक्त था। इन दो कारणों के अतिरिक्त इस क्रिया के पीछे दूसरा कोई मनोवैज्ञानिक कारण रहा हो ऐसा अनुमान नहीं होता।

स्वर्गीय डा० श्यामसुन्दरदास ने लिखा है कि 'जो लोग ब्रजभाषा में कविता करते थे उनकी भाषा पिंगल कहलाती थी और इससे भेद करने के लिए मारवाड़ी भाषा का उसी की ध्वनि पर गढ़ा हुआ डिंगल नाम पड़ा[२५] है।' उनके इस कथन से यह निष्कर्ष निकलता है कि 'पिंगल' शब्द (ब्रजभाषा के अर्थ में) 'डिंगल' की अपेक्षा अधिक प्राचीन है जो वास्तव में नहीं है। राजस्थान में कुशललाभ नाम के एक जैन कवि हो गये हैं जिनका रचना-काल सं० १६१६ के लगभग है। इनका लिखा 'पिंगल-शिरोमणि' नामक छंद-शास्त्र का एक ग्रंथ हाल ही में उपलब्ध हुआ है। इसमें उन्होंने मारवाड़ी भाषा के लिये डिंगल शब्द का प्रयोग किया है।[२६] अतः स्पष्ट ही डिंगल शब्द पिंगल की अपेक्षा अधिक प्राचीन है, और इसलिए पिंगल की ध्वनि पर डिंगल शब्द के गढ़े जाने की जो बात डा० श्यामसुन्दरदास ने कही है वह

२४. डिंगल कोष, पृ० १९।
२५. हिन्दी शब्दसागर की भूमिका, पृ० २८।
२६. राजस्थान-भारती, भाग १, अंक ४, पृ० २५।

निर्मूल है। डा० तेस्सितोरी ने भी डा० श्यामसुन्दरदास की उल्लिखित राय से मिलती-जुलती राय प्रकट की है। साथ ही उन्होंने पिंगल के अनुकरण पर डिंगल शब्द के बनने का कारण भी बतलाया है। उनके अनुसार 'ब्रजभाषा परिमार्जित थी और साहित्य-शास्त्र के नियमों का अनुसरण करती थी। पर डिंगल इस संबंध में स्वतन्त्र थी। इसलिये उसका यह नाम पड़ा[३७]।' परन्तु डा० तेस्सितोरी का यह कथन यथार्थ नहीं। कारण, डिंगल भाषा के अनेक ग्रन्थ तथा फुटकर गीत, कवित्त, दोहे आदि यद्यपि मिल चुके हैं और इनमें व्याकरण, छंद, रस, अलंकार आदि साहित्य के विविध अंगों व नियमों का पालन उतनी ही सचाई से किया गया है जितना ब्रजभाषा के कवियों ने अपनी रचनाओं में किया है।

पिंगल और डिंगल दो भिन्न भाषाएँ हैं जो क्रमशः शौरसेनी अपभ्रंश[३८] और गुर्जरी अपभ्रंश[३९] से उत्पन्न हुई हैं। इन दोनों का पृथक् व्याकरण एवं पृथक् छंद-शास्त्र है और दोनों की प्रकृति भी बहुत कुछ भिन्न है। साथ ही दोनों में कुछ समानताएँ भी पाई जाती हैं। परन्तु इनका समुचित ज्ञान न होने से कुछ लोग पिंगल और डिंगल की पहचान करने में चूक जाते हैं और पिंगल को भी डिंगल कह देते हैं। उदाहरणार्थ पृथ्वीराज रासो,[४०] वंशभास्कर[४१], इत्यादि ग्रन्थ पिंगल भाषा के हैं, पर कुछ विद्वान् इन्हें डिंगल के बतलाते हैं, क्योंकि इनमें कहीं-कहीं डिंगल की शब्दावली का प्रयोग हुआ है। परन्तु यह उनकी एक भारी भूल है। वास्तव में ये ग्रंथ डिंगल के नहीं, पिंगल के हैं। किसी भाषा का यथार्थ स्वरूप शब्दों से प्रकट नहीं होता, व्याकरण से स्पष्ट होता है। शब्द तो हिंदी (खड़ी बोली), बंगला, गुजराती, मराठी, राजस्थानी इत्यादि भाषाओं में अधिकतर वही संस्कृत के हैं। फिर भी ये भिन्न भाषाएँ कहलाती हैं, क्योंकि इनके व्याकरण के

---

३७. जर्नल आव दि एशियाटिक सोसाइटी आव बंगाल, वॉल्यूम १०, पृ० २७६।

३८. डा० ग्रियर्सन; लिंग्विस्टिक सर्वे आव इण्डिया, भाग पहला, पृ० १२६, डा० सुनीतिकुमार चैटर्जी, राजस्थानी भाषा, पृ० ६४।

३९. कै० एम० मुंशी; अ० भा० हिंदी साहित्य सम्मेलन के ३१वें अधिवेशन का विवरण, पृ० ९।

४०. एकादश हिंदी साहित्य सम्मेलन, कलकत्ता का कार्य-विवरण, पृ० १९।

४१. ओझा; कोशोत्सव स्मारक संग्रह, पृ० ६५—६६।

रूप व नियम भिन्न हैं। इसके विपरीत उर्दू में अधिकतर अरबी-फारसी के शब्द प्रयुक्त होते हैं। लेकिन उसके व्याकरण के रूप प्रायः हिंदी के अनुसार चलते हैं और इसलिये वह हिंदी के अंतर्गत मानी जाती है।[४२]

नीचे पिंगल और डिंगल की मुख्य-मुख्य विशेषताओं का उल्लेख किया जाता है :—

मूल स्वरों का उच्चारण पिंगल और डिंगल दोनों में प्रायः एक ही तरह से होता है। परन्तु दो-एक व्यंजन वर्णों के उच्चारण में थोड़ी-सी भिन्नता पाई जाती है। जैसे, 'व' अक्षर पिंगल में प्रायः 'ब' में परिवर्तित हो जाता है और फिर 'ब' ही लिखा और बोला जाता है: विपिन—बिपिन, दिवस—दिबस, वन—बन। डिंगल में इस व का उच्चारण दो प्रकार से होता है, एक संस्कृत व अथवा अँग्रेजी W की तरह और दूसरा अँग्रेजी V की तरह। उच्चारण का यह भेद बतलाने के लिए लिखने में एक 'व' को तो वैसा ही रहने दिया जाता है पर दूसरे के नीचे बिंदी (व़) लगा दी जाती है। डिंगल की प्राचीन लिखित पोथियों में भी प्रायः इसी तरह लिखा देखने में आता है।

तालव्य श पिंगल और डिंगल दोनों में स में परिवर्तित हो जाता है। परिवर्तन के पश्चात् पिंगल में श का उच्चारण स होने लगता है जैसा कि वह लिखा जाता है। परन्तु डिंगल में ऐसा नहीं होता। स लिखा जाने पर भी बोला वह श ही जाता है। जैसे लिखने में देस, सीसोदिया, वंस लिखते हैं पर उच्चारण इनका क्रमशः देश, शीशोदिया, वंश होता है।

यदि किसी शब्द का अन्तिम अक्षर ल (दीर्घान्त) हो तो पिंगल में वह प्रायः र हो जाता है। जैसे काले—कारे, पनाले—पनारे, भोली—भोरी, हरियाली—हरियारी। परन्तु डिंगल में ल का 'र' नहीं होता, 'ळ' होता है। जैसे काल—काळ टोल—टोळ, भाल—भाळ। इसी तरह पिंगल में ड़ का भी प्रायः र हो जाता है। जैसे ठौड़—ठौर, कुल्हाड़ो—कुल्हारो, पकौड़ी—पकौरी, भिड़े—भिरे। परन्तु डिंगल में इस तरह का परिवर्तन नहीं होता। 'ड़' उसमें 'ड़' ही बना रहता है।

संस्कृत ण पिंगल में प्रायः 'न' हो जाता है। जैसे, प्राण—प्रान, रण—रन, अरुण—अरुन। परन्तु डिंगल में ऐसा नहीं होता। यही नहीं, संस्कृत, खड़ी बोली आदि के अनेक नकारान्त शब्दों को भी डिंगल में णकारान्त बना दिया

---

४२. हिंदी शब्द-सागर की भूमिका, पृ० ४०। डा० धीरेन्द्र वर्मा; हिंदी भाषा का इतिहास, पृ० ६०।

जाता है। जैसे नयन—नयण, दानी—दाणी, पानी—पाणी। न को ण कर देने की यह प्रवृत्ति डिंगल में बहुत पाई जाती और यह इसकी एक प्रधान विशेषता है।

क्ष का पिंगल में छ हो जाता है। जैसे, क्षोभ—छोभ, क्षिति—छिति, क्षण—छन, क्षमा—छमा। परन्तु डिंगलमें क्ष का ख होता है। जैसे, क्षण—खण, क्षिति—खिति, क्षोणि—खोणि।

संस्कृत एवं खड़ी बोली की पुल्लिंग तद्भव संज्ञाएँ, विशेषण और सम्बन्ध-कारक के सर्वनाम पिंगल और डिंगल दोनों में ओकारान्त होते हैं।[४३] जैसे भौंरो, घोड़ो, आछो, गोरो, मेरो, थारो। पिंगल में शब्दों के रूपों में संज्ञा का विकृत रूप बहुवचन-'अन' लगाकर बनता है। जैसे घरन, ढोटन। डिंगल में 'आँ' लगता है। जैसे, घराँ, घोड़ाँ।

डिंगल में कारकों के निर्विभक्तिक और सविभक्तिक दोनों रूप मिलते हैं। परन्तु पिंगल में निर्विभक्तिक रूप प्रायः कम देखने में आते हैं। दोनों के परसर्गों में भी बहुत भिन्नता है:—

कारक	पिंगल	डिंगल
कर्ता	नै, ने नैं।	ए।
कर्म-संप्रदान	को, कों, कौ, कौं, कूँ, कुँ।	नै, प्रति।
करण-अपादान	सों, सौं, तें, सं।[४४]	करि, सूँ, कनै, थी, हुँत[४५] हुँताँ, हूँती।
संबंध	को, कों, कौ, के, कैं, कै, कैं, की, कि।	रा-री-रे-राँ; चा-ची-चै-चौ; केरा-केरी-केरो; तणा-तणी-तणो; हंदा-हंदी-हंदो।
अधिकरण	में, मैं, मै, माँझ, पै, परा।[४६]	मंझार, माँझ, माँ, माँझल, मधि, मैं।[४७]

४३. इसी तरह आकारांत साधारण क्रियाएँ और भूतकालिक कृदंत भी दोनों भाषाओं में ओकारांत होते हैं। जैसे, आवनो—आवणो, देनो—देणो, गयो, आयो।

४४. इस परसर्ग के सों, सौं, से, सें, सुँ, सूँ आदि रूपांतर भी कहीं-कहीं देखने में आते हैं।

४५. इसका प्रयोग कभी-कभी अधिकरण कारक में भी होता है। जैसे—

ढोल बरज सब भेज घर, नारेळ सुधाम।
घावा कंत पधारिया, पाँवां हूँत प्रणाम॥—सूरजमल

४६. इसके मे, माहि, माहिं, पाँहि, माही, माँह, माह, महँ, मँझारन, मधि, मध्य, मों, पे, पैं, ऊपर आदि अन्य रूपों का प्रयोग भी यत्र-तत्र हुआ है।

४७. इनके अतिरिक्त मै, मे, मइं, मइ, माहिँ, मँही, माँहि, माँही, मंझ, मंझि इत्यादि का प्रयोग भी कुछ ग्रंथों में दृष्टिगोचर होता है।

सर्वनाम

पुरुष वाचक

उत्तम पुरुष

कारक	पिंगल	डिंगल
एक वचन		
मूलरूप	हौं, मैं,[४८]	हूं म्हूं, मुं, म्हैं, अह्म, अह्मे, मइ।
विकृत रूप	मो, मौ।	म्हा, मैं।
संबंध	मेरो, मेरौ, मो।	म्हारो, मारो, म्हारउ
बहुवचन		
मूल रूप	हम।	म्हे, मे, आपाँ।
विकृत रूप	हम।	म्हाँ, माँ, आपाँ।
संबंध	हमारो, हमारौ।	म्हांरो, मांरो, अम्हाँ।[४९]

मध्यम पुरुष

कारक	पिंगल	डिंगल
एक वचन		
मूल रूप	तू, तूँ, तैं, तैं।	तूँ।
विकृत रूप	तो	तो।
संबंध	तेरो, तेरौ।	थारो, तुझ, तुह्मा।[५०]
बहुवचन		
मूल रूप	तुम।	थे, तुम।
विकृत रूप	तुम।	थाँ।
संबंध	तुम्हारो, तिहारो।	थांरो, तुम्हारो, थाँकौ।

४८. इनके अतिरिक्त हों, हुँ, मैं, मे आदि का प्रयोग भी देखने मे आता है।

४९. इसके म्हारौ, म्हाँकौ, हमारउ, म्हाँजी, अम्हीणइ, अम्हीणी, अमीणा, अमीणो आदि रूप भी मिलते है।

५०. कहीं-कहीं 'तुहालो' रूप भी मिलता है। यथा—

अहरे अकबरियाह, तेज तुहालो तुरकड़ा!
नम नम नीसरियाह, राण बिना सह राजवी॥
—दुरसाजी

निश्चयवाचक सर्वनाम

यह

कारक	पिंगल	डिंगल
एकवचन		
मूल रूप	यह	ओ, यो; (स्त्री०) आ, या।
विकृत रूप	या	इण, इणि, अण, अणी।
बहुवचन		
मूल रूप	ये, ए	ए, ऐ, अइ।
विकृत रूप	इन, इन्ह	इणाँ, अणाँ, याँ, आँ
	वह	
एकवचन		
मूल रूप	वह, वो	ऊ, वो (स्त्री०) वा
विकृत रूप	वा	उण, उणी, वणी
बहुवचन		
मूल रूप	वे, वै	वै,
विकृत रूप	उन, विन	उणां, वणां, वां।

अन्य सर्वनाम

	पिंगल	डिंगल
संबंधवाचक	जो, जु; (बहु०) जे	जो, जिको, जिका
विकृत रूप	जा; (बहु०) जिन	जिण, जण, जणी
नित्य संबंधी	सो; (बहु०) ते, से	सो, तिको, तिका
विकृत रूप	ता; (बहु०) तिन	तिण, तिणि, तिणाँ
प्रश्न वाचक	कौन, को, कौ	कुण, किण, कावण
विकृत रूप	का, कौन	किणाँ
अनिश्चय वाचक	कोऊ, कोई	कोई
विकृत रूप	काहू	केवि, कोय, काँहू, केहू
निजवाचक	आप, आपु	आप
विकृत रूप	आपन	आपण
आदर वाचक	आप, आपु	आप, राज
विकृत रूप	आपुन	आपण, आपां आदि

क्रिया

(१) सहायक क्रिया

पिंगल और डिंगल के क्रिया-रूपों में बहुत कुछ सादृश्य पाया जाता है। वर्तमान, भूत और भविष्य निश्चयार्थ में सहायक क्रिया 'होना' के रूप दोनों में इस प्रकार बनते हैं :—

	पिंगल		डिंगल	
वर्तमान	एकवचन	बहुवचन	एकवचन	बहुवचन
उत्तम पु०	हौं, हौं, हूँ	हैं, आहिं	हूँ	हाँ
मध्यम पु०	है	हो	है	हो
प्रथम पु०	है, अहै, आहि	हैं	है	है
भूत				
पुल्लिंग	हो, हुतो, हुतौ हौ, हते, भयौ, भौ	हे, हुते, हते, भये	हो, हुओ, थयो हुतौ	हा, थया
स्त्रीलिंग	ही, हुती, भई	हीं, हुतीं, भई	ही, थई	ही, थई
भविष्य				
उत्तम पु०	ह्वैहौं	ह्वैहैं	हुऊंला, ह्वैऊंला ह्वैऊंगा	हुवांला, व्है-वांला, व्हैवांगा
मध्यम पु०	ह्वैहै	ह्वैहौ	हुवेला, ह्वैला, व्हैगा, होसी	हुवोला, व्होला, व्होगा
प्रथम पु०	ह्वैहै, होइहैं, होयगौ	ह्वैहैं, होउगे होहिंग, होंयगे	हुवैला, व्हैला व्हैगा, हुसि	हुवैला, व्हैला व्हैगा

(२) कृदन्त

पिंगल और डिंगल की काल-रचना में वर्तमानकालिक कृदंत तथा भूत-कालिक कृदंत रूपों का व्यवहार स्वतंत्रतापूर्वक होता है। पिंगल में पुल्लिंग तथा स्त्रीलिंग दोनों में वर्तमानकालिक कृदंत के रूप व्यंजनांत धातुओं में 'अत' तथा स्वरान्त धातुओं में 'त' लगाकर बनाये जाते हैं। जैसे खेलत,

खावत, आत। इन रूपों के अतिरिक्त पुलिंग में 'अतु' तथा स्त्रीलिंग में 'ति' या 'ती' लगाकर भी रूप बनते हैं। जैसे परियतु, निहारति, इतराती।

डिंगल में पुलिंग एकवचन में 'अत' अथवा 'तौ' प्रत्यय तथा बहुवचन में 'ता' अथवा 'ताँ' प्रत्यय लगता है। जैसे, बेळत, चलतौ, जावता, नींगमताँ। स्त्रीलिंग में बहुधा 'ती' लगता है। पर कहीं-कहीं 'दी' भी देखने में आता है। जैसे, चाहंदी।

भूतकालिक कृदन्त के रूप पिंगल और डिंगल में अधिकतर निम्नलिखित प्रत्यय लगाकर बनते हैं। इनमें परस्पर बहुत समानता है :—

पिंगल		डिंगल	
एकवचन	बहुवचन	एकवचन	बहुवचन
ओ, औ, यो, यौ; (स्त्री०) ई	ए, ये, यै, (स्त्री०) ई	ओ, औ, यो, यौ, इयौ; (स्त्री०) ई	आ, या, इया; (स्त्री०) इयाँ

पूर्वकालिक कृदन्त धातुओं के रूप पिंगल में धातु में प्रायः इ, य, ऐ आदि लगाकर बनाये जाते हैं। जैसे समुझि, खोय, दै। डिंगल में इनके रूप प्रायः अ, इ, र, एवि, नै, इ, आदि प्रत्यय लगा कर बनते हैं। जैसे पालिअ, ठानि, जायर, प्रणमेवि, लिखनै, भरेह।

प्रधान क्रिया

काल-रचना

उल्लिखित वर्तमानकालिक कृदन्त रूपों के अतिरिक्त पिंगल और डिंगल दोनों में वर्तमान निश्चयार्थ के लिए धातु में नीचे लिखे प्रत्यय लगाकर भी रूप बनाये जाते हैं :—

	पिंगल		डिंगल	
	एकवचन	बहुवचन	एकवचन	बहुवचन
उत्तम पु०	ओं, औं, ऊँ	आहिं, एँ, हि	ऊँ, अऊँ, औं	आँ
मध्यम पु०	अहि	ओ, औ	अइ	अउ, ओ, औ
प्रथम पु०	ए, ऐ, इ, य	ऐं, एँ	अइ, अय	एइ, आहि, अही

भविष्य निश्चयार्थ के रूप दोनों भाषाओं में धातु में निम्नलिखित प्रत्यय लगाकर बनते हैं :—

	पिंगल		डिंगल	
	एकवचन	बहुवचन	एकवचन	बहुवचन
उत्तम पुरुष	ऊँगौ, औंगो, ऊँगो,इहौं, इहों; (स्त्री०) औंगी, ओंगी	ऐंगे, इहैं; (स्त्री०) अहिंगी	सूँ, इस, एस स्यउँ, ला, गा	स्याँ, एस, ला, गा
मध्यम पुरुष	यगौ,ऐगौ, इहै; (स्त्री०) ऐगी	औगे,ओगे, हुगे, इहौ; (स्त्री०) अहुगी, ओगी, औगी	सी, से, इस, ला, गा	स्यउ, ला, गा।
प्रथम पुरुष	ऐगौ, एगो, एगौ, यगो, इहै, (स्त्री०) एगी, अहिगी, यगी	ऐंगे, हिंगे, एंगे, यगे, इहैं;(स्त्री०) आहिंगी	सी, से, एस, सइ, ला, गा	स्यइ,इसइ,एइ, एस्यइ, ला, गा

भूत निश्चयार्थ के लिए पिंगल और डिंगल दोनों में भूतकालिक कृदंत के रूपों का प्रयोग होता है, जिनका विवरण पहले दिया जा चुका है।

शब्द-कोश—जिस तरह पिंगल और डिंगल के व्याकरण संबंधी रूपों में पर्याप्त-समानता है उसी तरह इनका शब्द-कोश भी बहुत मिलता-जुलता है। क्योंकि इन दोनों भाषाओं के कवियों ने संस्कृत शब्दों ही का प्रयोग अधिक किया है चाहे वे शब्द अपने तत्सम रूप में प्रयुक्त हुए हों या तद्भव रूप में। अन्तर है तो केवल इतना कि एक ही शब्द को दो भिन्न प्रकार से बदला गया है। पिंगल के कवियों ने उसे अपनी भाषा की प्रकृति के अनुकूल बदला है और डिंगल के कवियों ने अपनी भाषा की प्रकृति के अनुकूल। हाँ, इतना अवश्य है कि शब्द को बदलने में डिंगल-कवियों की अपेक्षा पिंगल के कवियों ने कुछ अधिक सावधानी से काम लिया है। उन्होंने शब्द को इस तरह परिवर्तित किया है कि उसके मूल रूप को ढूँढने में विशेष कठिनाई नहीं

पड़ती। परन्तु डिंगल के कवियों ने उसे इतना विकृत कर दिया है कि वह अपने मूल रूप से बहुत दूर चला गया है और उसे पहचानने में कभी-कभी बहुत कठिनाई होती है।

संस्कृत शब्दों का पिंगल और डिंगल में कैसा रूप बन गया है इसे दिखाने के लिए कुछ शब्द यहाँ प्रस्तुत किये जाते हैं:—

संस्कृत	पिंगल	डिंगल
वृक्ष	वृच्छ	वरख
पार्थ	पारथ	पथ
आश्चर्य	अचरज	अछेरो
पिशुन	पिसुन	पसण
क्षिति	छिति	खत
युधिष्ठिर	जुधिस्ठिर	जुजुठिळ
हनुमान	हनुमंत	हणूंत
कुटुम्ब	कुटुम	कडूंब
कपाट	किंवार	कमाड़
कश्यप	कस्यप	कासप
खड्ग	खग्ग	खग
वाणी	बानी	वाण
शावक	सावक	छावक
शार्दूल	सारदूल	सादल
किष्किंधा	किस्किंधा	खेखंधा

पिंगल साहित्य—पिंगल अथवा ब्रजभाषा साहित्य भी राजस्थान में बहुत रचा गया है, और कुछ लोगों की यह जो धारणा है कि राजस्थानी कवियों ने डिंगल ही में अधिक लिखा है वह निराधार है। वस्तुतः राजस्थान का पिंगल साहित्य डिंगल साहित्य की अपेक्षा मात्रा में अधिक है। परन्तु इस विपुल साहित्य-राशि का बहुत अल्पांश अभी तक प्रकाश में आ पाया है और जो आया है उसका भी पूर्ण परीक्षण तथा वैज्ञानिक अध्ययन नहीं हो सका है। इस साहित्य के रचयिताओं के व्यक्तिगत जीवन इत्यादि के विषय की खोज का कार्य तो अभी तक व्यवस्थित रूप में आरम्भ भी नहीं हुआ है।

विषय-वस्तु की दृष्टि से राजस्थान के समस्त पिंगल साहित्य का वर्गीकरण नीचे लिखे अनुसार किया जा सकता है:—

(क) चरित्र काव्य

१. रासौ काव्य

२. अन्य काव्य

(ख) पौराणिक काव्य और महाभारत काव्य

(ग) भक्ति-काव्य

३. कृष्ण-भक्ति काव्य

४. राम-भक्ति काव्य

५. निर्गुण-भक्ति काव्य

(घ) रीति-काव्य

६. रस

७. अलंकार

८. छंद

९. नायिका-भेद, षट्‌ऋतु-वर्णन, नखशिख-वर्णन आदि।

(ङ) नीति-काव्य

(च) फुटकर

(क) चरित्र-काव्य—चरित्र-काव्यों में रासौ ग्रंथ मुख्य हैं। 'रासौ' शब्द संस्कृत 'रास' से बना है जिसका अर्थ आचार्य हेमचन्द्र[५१] और कोषकार पुरुषोत्तम देव[५२] दोनों ने 'ग्वालों की क्रीडा' तथा 'भाषा में शृंखलाबद्ध रचना' बतलाया है।

अपभ्रंश तथा हिंदी, राजस्थानी, गुजराती इत्यादि के प्राचीन हस्तलिखित ग्रंथों में यह शब्द कई तरह से लिखा मिलता है: रास, रासक, रासो, राइसो, राइसौ, रायसो, रायसौ, रासौ, रासउ, रासु। जिस काव्य-ग्रंथ में किसी राजा की कीर्ति, विजय, युद्ध-वीरता आदि का विस्तृत वर्णन हो उसे 'रासौ' कहते हैं। आजकल यह शब्द इसी अर्थ में प्रयुक्त होता है और

५१. "रासः क्रीडासु गोदुहाम्"
"भाषाशृंखलके"

—अनेकार्थ संग्रह (हेमचन्द्र)

५२. "भाषाशृंखलके रासः क्रीडायामपि गोदुहाम्"

—त्रिकाण्डशेष (पुरुषोत्तम)

इस अर्थ के आधार पर कुछ विद्वानों ने इसकी उत्पत्ति 'राजयश' शब्द से बतलाई है[५३]। परन्तु उनका यह अनुमान ठीक नहीं प्रतीत होता। क्योंकि यह शब्द काफी प्राचीन समय से प्रयुक्त होता चला आ रहा है और प्राचीन समय में यह राजयश का द्योतक नहीं, बल्कि एक सामान्य वर्णनात्मक पद्य-कृति अथवा कथा-काव्य का सूचक था जैसा कि भरतेश्वरबाहुबलि-रास (सं० १२४१), जीवदयारास (सं० १२५७), जंबूस्वामिरास (सं० १२६६), इत्यादि ग्रंथों से सूचित होता है। इन ग्रंथों में किसी राजा के यश का वर्णन नहीं है।

हिन्दी-शब्द-सागर के सम्पादकों ने रासौ शब्द की उत्पत्ति 'रहस्य' से, फ्रांसीसी विद्वान् तासी ने 'राजसूय' से और पंडित रामचन्द्र शुक्ल ने 'रसायण' से मानी है।[५४] परन्तु ये सब उनकी क्लिष्ट कल्पनाएँ हैं। भाषा-शास्त्र के नियमानुसार 'रासौ' शब्द के साथ इन शब्दों की संगति ठीक नहीं बैठती। वास्तव में यह शब्द 'रास' ही से बना है। प्रारम्भ में इससे एक साधारण पद्यकृति या कथा-काव्य का बोध होता था। परन्तु बाद में जब राजाश्रित कवियों ने अपने आश्रयदाता राजा-राजाओं की प्रशंसा में लिखे अपने ऐतिहासिक काव्यों को 'रासौ' नाम से पुकारना शुरू किया तब से इसके अर्थ में परिवर्तन होने लगा और अब यह शब्द एक विशेष शैली पर लिख गये किसी राजा अथवा राजघराने के प्रतिष्ठित व्यक्ति के पद्यात्मक जीवनचरित्र का द्योतक बन गया है।

संस्कृत तथा प्राकृत साहित्य में रासो ग्रन्थ नहीं मिलते पर अपभ्रंश में कुछ मिलते हैं और गुजराती में तो सैकड़ों हैं जो अधिकतर जैन विद्वानों के बनाये हुए हैं। अपभ्रंश का प्राचीनतम रासो ग्रन्थ जो अभी तक उपलब्ध हुआ है वह अब्दुल रहमान का संदेशरासौ है। यह गुजरात के सोलंकी राजा सिद्धराज अथवा कुमारपाल के शासन-समय में अर्थात् १२वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध या १३वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में रचा गया था।[५५] यह एक खंडकाव्य है। इसमें एक विरहिणी स्त्री का अपने प्रवासी पति को एक पथिक द्वारा प्रेम-संदेश भेजने का वर्णन है। इस पर एक संस्कृत अवचूरिका और टिप्पणरूप व्याख्या भी उपलब्ध है।

५३. भारतीय विद्या, वर्ष ३, अंक १, पृ० ६६।
५४. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० २८।
५५. आचार्य जिनविजय मुनि द्वारा संपादित 'संदेशरासक' की भूमिका, पृ० १३।

प्राचीन समय में गुजरात और राजस्थान जैन संप्रदाय के दो मुख्य केन्द्र थे। इन प्रान्तों के जैन साधु व जैन मतानुयायी अन्य लोग हजारों की संख्या में प्रतिवर्ष इधर-उधर आया-जाया करते थे। उनके इस आवागमन का प्रभाव राजस्थान के साहित्य पर भी पड़ा और राजस्थान में रासौ लिखने की परिपाटी चल पड़ी जिसके फलस्वरूप पृथ्वीराज रासौ, खुंमाण-रासौ इत्यादि कई रासौ ग्रन्थ यहाँ लिखे गये जिनका हिंदी साहित्य में अत्यन्त आदरणीय स्थान है।

इसमें कोई संदेह नहीं कि रासौ लिखने की परंपरा राजस्थान को जैन विद्वानों के द्वारा अपभ्रंश-गुजराती से प्राप्त हुई है। परन्तु जैन विद्वानों के रचे रास अथवा रासौ ग्रन्थों और राजस्थानी कवियों के पिंगल भाषा के रासौ ग्रंथों में आकार-प्रकार, विषय-वस्तु, वर्णन-शैली इत्यादि की दृष्टि से बहुत भिन्नता है। दोहा, चौपाई छप्पय, वस्तु, धत्ता, ठवणि आदि दो-चार साधारण कोटि के छंदों में रचे जैन पंडितों के ये ग्रंथ बहुत छोटे-छोटे हैं और इनके द्वारा वर्ण्य विषय का बहुत सामान्य ज्ञान प्राप्त होता है। लेकिन राजस्थानी कवियों के रासौ ग्रंथ अपेक्षाकृत बड़े हैं जिनमें पृथ्वीराज रासौ तो एक पूरा महाकाव्य है। ये ग्रंथ भिन्न-भिन्न युगों एवं स्थानों में रचे गये हैं पर इन सबके लिखने का ढंग लगभग समान ही है। इनके प्रारंभ में मंगलाचरण और मुख्य-मुख्य देवी-देवताओं तथा गुरु की स्तुति की गई है। तदनन्तर राज-वंशावली प्रारंभ होती है जिसमें सृष्टिकर्त्ता ब्रह्मा से लेकर ग्रंथ-नायक तक के राजाओं के नाम गिनाये गये हैं। बीच में कहीं-कहीं बड़े-बड़े राजाओं का वर्णन कुछ अधिक विस्तार से भी कर दिया गया है। मुख्य कथा चरित्र-नायक के जन्म-दिन से प्रारंभ होती है, जिसमें उसके अनेक युद्धों, उसकी शूर-वीरता, उसके आतंक-पराक्रम, उसके बाहुबल और सैन्यबल का अत्यन्त वीरदर्पपूर्ण वर्णन हुआ है। प्रायः ग्रंथ-नायक की किसी बहुत बड़ी विजय अथवा उसकी मृत्यु के साथ ग्रंथ की समाप्ति हो जाती है।

इन ग्रंथों में वीर रस की प्रधानता है पर प्रसंगानुसार शृंगार, करुण, आदि अन्य रसों की भी भव्य व्यंजना हुई है। इनमें छन्दों की विविधता भी पूरी-पूरी पाई जाती है। विशेषकर इनकी भाषा इतनी सजीव और सबल है कि पढ़कर भुजाएँ फड़कने लगती हैं।

रासौ ग्रंथों के अतिरिक्त कुछ अन्य प्रकार के चरित्र काव्य भी राजस्थान में लिखे गये हैं, जैसे, राजविलास, सुजानचरित्र, वंशभास्कर आदि। इन ग्रंथों में साहित्यिक सौन्दर्य कुछ कम और ऐतिहासिक तत्त्व कुछ अधिक देखने

में आता है। क्योंकि ये ग्रंथ अधिकतर इतिहास को दृष्टि में रखकर बनाये गये हैं।

(ख) पौराणिक काव्य—ऐतिहासिक काव्यों के अतिरिक्त ब्रजभाषा वाङ्मय को राजस्थान के कवियों की एक दूसरी बहुत बड़ी देन है, पुराण-विषयक काव्य और महाभारत काव्य जिनमें प्राचीन भारतीय संस्कृति का पूर्ण वैभव व्यक्त हुआ है। इन काव्यों की कथा-वस्तु श्रीमद्भागवत, विष्णुपुराण, वराहपुराण, वायुपुराण, ब्रह्मपुराण, हरिवंश, महाभारत आदि प्राचीन संस्कृत ग्रंथों से ली गई है। अतएव विषय-सामग्री की दृष्टि से इनमें विशेष नवीनता तथा मौलिकता दृष्टिगत नहीं होती। परन्तु भाषा-सौन्दर्य, प्रबंध-पटुता, वर्णन-चमत्कार आदि काव्योचित गुणों का इनमें बहुत सुन्दर संयोग हुआ है और इस दृष्टिसे इनका भारी महत्त्व है। अवतार-चरित्र, वीरविनोद प्रभृति रचनाएँ इसी श्रेणी की हैं। कुछ लोगों का कथन है कि ब्रजभाषा जितनी मुक्तक काव्य के लिए उपयुक्त है उतनी प्रबन्ध काव्यके लिए नहीं है। उनकी यह धारणा कितनी भ्रामक है, यह इन ग्रंथों से स्पष्ट है।

(ग) भक्ति काव्य—भक्ति काव्य को मुख्यतः तीन भागों में बाँटा जा सकता है—राम-भक्ति काव्य, कृष्ण-भक्ति काव्य, और निर्गुण-भक्ति काव्य।

रामकाव्यकी परम्परा संस्कृत साहित्य में वाल्मीकि के समय से चली आती है पर भाषा साहित्य में इसका प्रचार स्वामी रामानन्द के समय से हुआ है। रामानन्द का जन्म-काल सं० १३५६ माना गया है।[५६] ये श्री संप्रदाय के प्रवर्तक रामानुजाचार्य की चौथी या पाँचवीं शिष्य-परम्परा में हुए थे[५७] और स्मार्त वैष्णव थे। इन्होंने विष्णु के अवतार श्रीराम की भक्ति पर जोर दिया और उसका प्रचार किया। इनके अनुयायी बहुत हो गये जिनका एक सम्प्रदाय बन गया। संत कबीर इनके शिष्य थे।[५८] गोस्वामी तुलसीदास इनके मतानुयायी थे।[५९]

स्वामी रामानन्द अच्छे साहित्यकार थे। परन्तु राजस्थान के पिंगल साहित्य पर इनका कोई सीधा प्रभाव पड़ा हो ऐसा सूचित नहीं होता। इस दृष्टि से

५६. डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल; हिंदी काव्य में निर्गुण संप्रदाय, पृ० ४१।
५७. डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी: हिंदी साहित्य की भूमिका, पृ० ६।
५८. पंडित रामचंद्र शुक्ल; हिंदी साहित्य का इतिहास, पृ० ६५।
५९. डा० श्यामसुन्दरदास; हिंदी साहित्य (पंचम संस्करण), पृ० १९१।

गोस्वामी तुलसीदास का प्रभाव अधिक गहरा रहा जैसा कि अवतारचरित्र (नरहरिदास), रामगुणसागर (प्रतापकुँवरि) इत्यादि रामचरित संबन्धी सुप्रसिद्ध पिंगल ग्रंथों के अवलोकन से विदित होता है। ये ग्रंथ मुख्यतः तुलसी-कृत रामायण के आधार पर लिखे गये हैं। इनके अतिरिक्त रामभक्ति-विषयक अनेक दूसरे छोटे-छोटे ग्रंथ एवं फुटकर पद्य जो राजस्थान में मिलते हैं वे भी तुलसीदास के प्रभाव से सर्वथा मुक्त नहीं हैं।

कृष्ण-भक्ति काव्य का प्रारंभ राजस्थान में मुख्यतः पुष्टि संप्रदाय के प्रवर्तक महाप्रभु वल्लभाचार्य (सं० १५३५–८७) के कारण हुआ। वल्लभाचार्य भगवान श्रीकृष्ण के अनन्य उपासक थे और भक्त से अधिक कवि थे। वे कृष्ण को विष्णु का अवतार मानकर उनकी भक्ति का उपदेश देते थे। उन्होंने भारतवर्ष के अनेक भागों में भ्रमण कर अपने सिद्धांतों का प्रचार किया और उनका संप्रदाय स्वामी रामानंद के सम्प्रदाय से भी अधिक व्यापक हुआ। सं० १५४९ में वल्लभाचार्य ब्रज गये और वहां श्रीनाथजी का मंदिर स्थापित किया।[१०] वल्लभाचार्य के स्वर्गारोहण के पश्चात् उनके सुपुत्र गोपीनाथ ने अपने पिता के कार्य को हाथ में लिया और उसे बड़ी चतुराई से सँभाला। परन्तु आठ वर्ष बाद इनकी भी मृत्यु हो गई। इसलिये वल्लभा-चार्य के द्वितीय पुत्र श्री विट्ठलनाथ ने आचार्य पदको ग्रहण किया। विट्ठलनाथ बड़े गुणाढ्य और व्यक्तित्वसम्पन्न पुरुष थे। ये ललित कलाओं के बड़े प्रेमी और पोषक थे। विशेषकर काव्य-कला को इनसे बहुत प्रोत्साहन मिला। इन्होंने ब्रजभाषाके आठ सर्वोत्तम कृष्णभक्त कवियों को चुनकर "अष्टछाप" की स्थापना की जिसमें सूरदास, कुंभनदास, परमानन्ददास, कृष्णदास, छीतस्वामी, गोविंदस्वामी, नंददास और चतुर्भुजदास सम्मिलित थे। इन प्रेमोन्मत्त भक्त कवियों ने कृष्ण-भक्ति की एक विशाल सरिता ब्रजमंडल में बहा दी जिसकी एक धारा इस रेतीले राजस्थान में भी पहुँची जो अभी तक लहरा रही है।

राजस्थान के पिंगल भाषा के कवियों में कृष्णदास पैहारी और मीराँ-बाई अष्टछापवाले कवियों के समकालीन थे। इनके उपरांत तो यहाँ नागरी-दास, हितवृन्दावनदास, ब्रजनिधि इत्यादि कई उत्तमोत्तम कृष्णोपासक कवि हुए जिनके ग्रंथ ब्रजभाषा साहित्य की अमूल्य संपत्ति और भारतीय साहित्य के गौरव की वस्तु माने जाते हैं।

राजस्थान का निर्गुण-भक्ति काव्य दादू पन्थ, चरणदासी पंथ, राम-

१०. डा० दीनदयाल गुप्त: अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय, पृ० ७१।

स्नेही पंथ आदि के अनुयायी संत-महात्माओं की "वाणियों" के रूप में मिलता है। कुछ थोड़ा-सा अन्य कवियों का रचा हुआ भी है पर वह विशेष महत्व का नहीं है। यह समस्त साहित्य 'संत-साहित्य' कहलाता है। इस पर कबीरपंथी साहित्य का प्रभाव यथेष्ट पाया जाता है। क्या भाषा, क्या वर्णन-शैली, क्या विषय-वस्तु, सभी पर कबीर-साहित्य की छाप है। इसमें निराकार ईश्वर, गुरुदेव, सत्संग, दया, प्रेम, क्षमा, शील, संतोष इत्यादि की महिमा गाई है। कहीं-कहीं रहस्यवाद की झलक भी है जो सूफियों के प्रभाव का फल है। इसमें शान्त रस का प्राधान्य है और मुख्य छंद दोहा प्रयुक्त हुआ है। इस साहित्य का वह अंश जिसमें संत-महात्माओं के जीवन-वृत्त पर प्रकाश डाला गया है विशेष रूप से बहुत उपयोगी है।

(घ) रीति साहित्य—पिंगल साहित्य का एक बहुत बड़ा अंश रीति साहित्य के रूप में मिलता है जो बहुत उल्लासपूर्ण एवं शृंगार रस से ओत-प्रोत है। रीति साहित्य के प्रथम कवि जान थे जो जाति के मुसलमान थे। इनके रचे रसमंजरी, रसकोष, भावशतक आदि ग्रंथों का पता है। इनके बाद इस विषय के इतने ग्रंथ लिखे गये हैं कि देखकर अचंभा होता है। इनमें महाराजा जसवन्तसिंह-कृत 'भाषाभूषण', कुलपति मिश्र-कृत 'रसरहस्य', सोमनाथ-कृत 'रसपीयूषनिधि', दलपतिराय और वंसीधर-कृत 'अलंकाररत्नाकर', रावराजा बुधसिंह-कृत 'नेहतरंग', और कविराजा मुरारिदान-कृत 'जसवंतजसोभूषण' के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

(ङ) नीति-काव्य—पिंगल भाषा के कवियों का नीति, ज्ञान तथा उपदेश-विषयक साहित्य भी राजस्थान में यथेष्ट मात्रा में पाया जाता है। इस विषय के प्रमुख कवि वृन्द हैं जिनकी 'सतसई' हिंदी साहित्य की एक अत्यन्त लोकप्रिय रचना है। इसमें नीति एवं लोक-व्यवहार संबन्धी बातों का बहुत सरस एवं चमत्कारपूर्ण विश्लेषण हुआ है। इनके उपरांत उमेदराम, प्रतापसिंह, बालाबख्श प्रभृति अन्य कवियों की रचनाओं में भी नीति संबंधी सूक्तियों का अच्छा सौन्दर्य दिखाई पड़ता है।

(च) फुटकर—इनके अतिरिक्त संगीत, कोष, शकुन, वैद्यक, वृष्टि-विज्ञान, रमल, रत्न-परीक्षा, स्तोत्र, कथा आदि अन्य फुटकर विषयों पर रचे ग्रंथ भी मिलते हैं।

भूमिका के तौर पर ऊपर राजस्थान और राजस्थान के साहित्य से संबंधित कुछ आवश्यक बातों का संक्षेप में उल्लेख किया गया है। अगले

पृष्ठों में यहाँ के पिंगल साहित्य का इतिहास प्रस्तुत किया जाता है जो कालक्रमानुसार निम्नलिखित तीन भागों में विभक्त होता है:—

प्रारंभ काल	सं० १५५० से १७०० तक
मध्य काल	सं० १७०० से १९०० तक
आधुनिक काल	सं० १९०० से अब तक

दूसरा अध्याय

प्रारंभ काल (सं० १५५०–१७००)

चौदहवीं शताब्दी में ब्रजभाषा अपभ्रंश से पृथक् एक भिन्न भाषा के रूप में प्रकट होने लग गई थी यह बात पहले कही जा चुकी है। परन्तु किसी भाषा के साहित्य में व्यवहृत होने के योग्य बनने में कुछ समय लगता है। अतः कुछ काल तक ब्रजभाषा बोलचाल की भाषा रही होगी और फिर इसका साहित्य में व्यवहार होना आरंभ हुआ होगा। ब्रजभाषा की जो साहित्यिक सामग्री अभी तक उपलब्ध हुई है उसके परिक्षण से ज्ञात होता है कि साहित्य-रचना के योग्य बनने में ब्रजभाषा को लगभग २००–२५० वर्ष का समय लगा था। इस अनुमान के आधार पर ब्रजभाषा में साहित्य-रचना का श्रीगणेश सं० १५५० के आसपास माना जा सकता है। डा० धीरेन्द्र वर्मा के शब्दों में "इलाहाबाद के निकट मुख्य केन्द्र अरैल (अडेल) के अतिरिक्त जिस समय श्री महाप्रभु वल्लभाचार्य को ब्रज जाकर गोकुल तथा गोवर्धन को अपना द्वितीय केन्द्र बनाने की प्रेरणा हुई उसी तिथि से ब्रज की प्रादेशिक बोली के भाग्य पलटे। सं० १५५६ वैसाख सुदी ३, आदित्यवार को गोवर्धन में श्रीनाथजी के विशाल मंदिर की नींव रखी गई थी। यही तिथि साहित्यिक ब्रजभाषा के शिलान्यास की तिथि भी मानी जा सकती है"।[१] डा० साहब का यह मत यथार्थ है और बिना पक्षपात एवं भावुकता के शुद्ध वैज्ञानिक अध्ययन के आधार पर स्थापित किया गया है।

डा० ग्रियर्सन और उनके मतानुयायी कुछ विद्वानों ने खुंमाण रासो, बीसलदेव रासो, पृथ्वीराज रासो और विजयपाल रासो को हिंदी के आदि काल की अर्थात् सं० १५५० के पूर्व की रचनाएँ माना है और इस मान्यता के आधार पर उन्होंने अपने रचे हिंदी साहित्य के इतिहासों में 'वीरगाथा काल' की स्थापना की है। परन्तु उनकी यह स्थापना अनुचित है और निराधार भी। हुआ यह है कि इन ग्रंथों के चरित्रनायकों के अस्तित्व-काल को इन ग्रंथों का रचना-काल मान लिया गया है जो स्पष्ट भूल है। वास्तव में वे ग्रंथ इतने प्राचीन नहीं हैं। खुंमाण रासो और बीसलदेव रासो राजस्थानी भाषा के ग्रंथ हैं। अतः उनके विषय में यहाँ कुछ कहना अप्रासंगिक होगा। परन्तु पृथ्वीराज

---

१. ब्रजभाषा व्याकरण, पृ० ११।

रासौ और विजयपाल रासो ब्रजभाषा अथवा पिंगल भाषा की रचनाएँ हैं जिनका विवेचन आवश्यक है ।

पृथ्वीराज रासौ—कहा जाता है कि आज-कल 'पृथ्वीराज रासौ' नाम से जो ग्रंथ प्रचलित है उसका रचयिता चंद बरदाई नाम का कोई भाट था जिसने ईसा की बारहवीं शताब्दी में उसे बनाया था[२]। परन्तु इस विषय में इतिहासवेत्ताओं और साहित्यकारों में मतभेद है जो गत ६५ वर्षों से चला आ रहा है और अभी भी पूर्णतः समाप्त नहीं हुआ है। हाँ, इतना अवश्य है कि यह मतभेद अब उतना गहरा नहीं रहा जितना प्रारंभ में था। इसका मुख्य कारण यह है कि रासो संबन्धी विवाद में इतिहासकारों की अब कोई रुचि नहीं रही। वे इस विषय में अपना अंतिम निर्णय दे चुके हैं और वह यह है कि 'पृथ्वीराज रासौ एक अनैतिहासिक ग्रंथ है जो उसके चरित्र-नायक महाराज पृथ्वीराज चौहाण के समय से बहुत पीछे बनाया गया है'।[३]

इतिहासकारों की इस राय को साहित्यज्ञों ने भी प्रायः मान लिया है। परन्तु फिर भी कुछ ऐसे व्यक्ति शेष हैं जो इसे स्वीकार करने को तैयार नहीं हैं। उनके इस दुराग्रह के दो कारण प्रतीत होते हैं—(१) उनकी भावुकता और (२) ऐतिहासिक तथ्यों से उनकी अनभिज्ञता।

कुछ लोग ऐसे भी हैं जिनमें जातीय पक्षपात अथवा व्यक्तिगत स्वार्थ कार्य कर रहा है; और सच तो यह है कि इन्हीं लोगों ने रासौ संबन्धी विवाद को उलझाया है और आज भी उसे अधिकाधिक उलझाने की चेष्टा में हैं। परन्तु इनकी संख्या अधिक नहीं है, न इनके विचारों का कोई विशेष मूल्य है। क्योंकि अब लोग इनके वास्तविक मन्तव्यों को ताड़ गये हैं।

पृथ्वीराज रासो का परिचय आधुनिक जगत् को पहले पहल संवत् १८८६ (सन् १८२९ ई०) में मिला, जब इतिहासकार कर्नल जेम्स टाड के 'एनल्स ऐंड एंटिक्विटीज ऑव राजस्थान' का प्रथम संस्करण प्रकाशित हुआ। इस ग्रंथ में

२. कर्नल टॉड, दि एनल्स ऐंड एंटिक्विटीज ऑव राजस्थान (प्रथम संस्करण), पृ० २५४। ग्रियर्सन; दि माडर्न वर्नाक्युलर लिटरेचर ऑव हिन्दुस्तान, पृ० ३। मोहनलाल-विष्णुलाल पंड्या; पृथ्वीराज रासो की प्रथम संरक्षा, पृ० १। मिश्रबंधु; हिंदीनवरत्न (तृतीय संस्करण), पृ० ५७९–६०७।

३. कविराजा श्यामलदास; पृथ्वीराज रहस्य की नवीनता, पृ० ८७। मुंशी देवीप्रसाद; नागरीप्रचारिणी पत्रिका; भाग ५, सं० १९०१, पृ० १७०। प० गौरीशंकर-हीराचन्द ओझा; कोशोत्सव स्मारक संग्रह, पृ० २९-६६।

उन्होंने रासौ की बड़े ऊँचे शब्दों में प्रशंसा की और उसे इतिहास का एक अमूल्य ग्रंथ बतलाया:—

"चंद का यह ग्रंथ अपने समय का एक विश्वमुखीन इतिहास है। इसके ६९ सर्गों में पृथ्वीराज के पराक्रम संबन्धी एक लाख छंद हैं जिनमें राजस्थान के प्रत्येक प्रतिष्ठित घराने के पूर्वपुरुषों का कुछ न कुछ लेखा मिलता है। इसलिये राजपूत नाम का कुछ भी अभिमान रखनेवाली जातियाँ इसे अपने संग्रहालयों में रखती हैं और इसके द्वारा अपने उन वीर पुरखाओं का पता लगाती हैं जिन्होंने किर्मान के दर्रों में, जब कि युद्ध के बादल हिमालय से हिंदोस्तान तक के मैदानों में गड़गड़ा रहे थे; युद्ध-तरंगों का आल-पाल किया था। पृथ्वीराज के युद्धों, उनकी संधियों, उनके वशवर्ती अनेक शक्तिशाली राजाओं, उनके निवास-स्थानों तथा वंशावलियों ने चंद के इस काव्य को इतिहास एवं भूतत्व का एक अमूल्य ज्ञापन (Memorandum) बना दिया है तथा देव-गाथाओं, रीति-व्यवहारों व मनुष्य के मन के इतिहासों का भी वह एक कोषागार है[४]।"

इतना ही नहीं, रासौ की कविता से टॉड साहब इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने इसके तीन हजार छंदों का अँग्रेजी अनुवाद भी कर डाला[५]।

किन्तु एक भारी भूल उनसे यह हुई कि उन्होंने रासौ को पृथ्वीराज के समय की रचना समझ लिया और उसके अनेक अंशों को ऐतिहासिक तथ्य-प्रमाणों के रूप में अपने ग्रंथ में स्थान दिया। इससे उनके ग्रंथ में और उसके आधार पर लिखे गये सैकड़ों दूसरे ग्रंथों में इतिहास सम्बन्धी अनेक त्रुटियाँ आ गईं जिनका निराकरण अभी तक भी पूरी तरह नहीं हो पाया है। परन्तु इसमें टॉड साहब का विशेष दोष न था। उन दिनों भारतवर्ष में ऐतिहासिक शोध-कार्य का श्रीगणेश हुआ ही था और प्राचीन शिलालेख, मुद्राएँ, ताम्र-पत्र, हस्तलिखित ग्रंथ इत्यादि साधन इतनी प्रचुर मात्रा में उपलब्ध न थे जितनी प्रचुर मात्रा में आजकल मिलते हैं, जिनकी सहायता से वे रासौ की घटनाओं, तिथियों आदि की ठीक-ठीक जाँच करते और उनकी वास्तविकता का पता लगाते।

परन्तु टॉड साहब के लेख से एक बहुत बड़ा लाभ यह हुआ कि देश-

४. दि एनल्स ऐंड एंटिक्विटीज आव राजस्थान (प्रथम संस्करण), पृ० २५४।

५. वहीं; पृ० २५४।

विदेश के विद्वानों का ध्यान रासौ की ओर आकर्षित हुआ और उन्होंने इसका अध्ययन करना प्रारंभ किया।

इन अध्ययन-कर्त्ताओं में 'इस्त्वार द ला लितरात्यूर इंदुई ए इंदुस्तानी' (संवत् १८९६ = सन् १८३९ ई०) के रचयिता फ्रांसीसी विद्वान् गार्सां द तासी का नाम शीर्षस्थानीय है। अपने इस ग्रंथ में तासी ने चंद को पृथ्वीराज का समकालीन और उसका समय ईसा की १२वीं शताब्दी बतलाया है जिसका आधार कर्नल टॉड का उपरोक्त लेख ही प्रतीत होता है। क्योंकि बात इन्होंने भी वही कही है जो कर्नल टॉड ने लिखी है। केवल शब्दों का थोड़ा-सा अन्तर है। अनुमान होता है, तासी ने पृथ्वीराज रासौ की दो-एक हस्तलिखित प्रतियाँ भी देखी थीं जिनका उल्लेख उन्होंने अपने इस ग्रंथ में चंद के वर्णन के साथ किया है। इन प्रतियों में एक प्रति रॉयल एशियाटिक सोसाइटी, लंदन के पुस्तकालय की और दूसरी मैकेंजी के संग्रह की थी। तासी ने इस ग्रंथ में रावर्ट लिंज नामक एक रूसी विद्वान् का भी उल्लेख किया है जिन्होंने रूसी भाषा में रासौ के एक खंड का अनुवाद किया था जो सन् १८३६ में सेंट पिटर्सबर्ग में प्रकाशित किया जाने को था, परन्तु अनुवादक की असामयिक मृत्यु हो जाने से प्रकाशित नहीं किया जा सका।[६]

तासी के पश्चात् जिन पाश्चात्य विद्वानों ने रासौ पर काम किया उनमें एफ० एस० ग्राउस, जोन बीम्स और रूडोल्फ हॉर्नली के नाम उल्लेख योग्य हैं। इन्होंने रासौ की कई हस्तलिखित प्रतियाँ ढूंढ निकालीं और उसके कुछ खंडों का सम्पादन किया तथा उनका अंग्रेजी अनुवाद छपवाया। साथ ही रासौ की भाषा आदि पर कुछ फुटकर लेख भी लिखे जो एशियाटिक सोसाइटी, बंगाल, के जर्नल में प्रकाशित हुए।[७] ये लेख सर्वथा निर्दोष न होते हुए भी बड़े महत्त्व के हैं और इन विद्वानों के गंभीर अध्ययन तथा अथक परिश्रम के परिचायक हैं। कहना न होगा कि ये तीनों पाश्चात्य विद्वान् कर्नल टॉड के मतानुगामी थे और चंद को हिंदी भाषा का आदि कवि तथा रासौ का रचनाकाल १२वीं शताब्दी मानते थे[८] और यही मानकर इन्होंने रासौ पर इतना कठोर परिश्रम किया था।

---

६. ग्रियर्सन; दि माडर्न वर्नाक्युलर लिटरेचर आव हिंदुस्तान, पृ० ४।

७. सेंटिनरी रिव्यू आव दि एशियाटिक सोसाइटी आव बंगाल, सन् १७८४–१८८३, परिशिष्ट सी०, पृ० १०५।

८. वही; पृ० १६७।

जिस समय ये विद्वान् एशियाटिक सोसाइटी के तत्वावधान में रासौ सम्बन्धी उक्त कार्य कर रहे थे लगभग उसी समय उदयपुर के कविराजा श्यामलदास मेवाड़ का बृहत् इतिहास 'वीरविनोद' लिख रहे थे। इस प्रसंग में उनको पृथ्वीराज रासौ के अध्ययन का अवसर मिला और इतिहास-विषयक जो त्रुटियाँ उनके देखने में आईं उन पर हिंदी में एक लेख लिखकर उसे 'पृथ्वीराज रहस्य की नवीनता' नाम से पुस्तकाकार प्रकाशित करवाया (सं० १९४२), इसी का अंग्रेजी अनुवाद बाद में एशियाटिक सोसाइटी के जर्नल में प्रकाशित हुआ[९]।

इस लेख में श्यामलदास ने रासौ की कुछ घटनाओं, तिथियों आदि को इतिहास की कसौटी पर कसा और उसके संबन्ध में निम्नलिखित बातें बतलाईं:--

(१) पृथ्वीराज रासौ पृथ्वीराज अथवा चंद के समय से बहुत पीछे बना है[१०]।

(२) इसका रचयिता बेदला या कोठारिया के चौहाणों का आश्रित कोई भाट था जिसने अपनी जाति का बड़प्पन दिखलाने के लिये इसे रचा था[११]।

(३) यह ग्रंथ इतिहास की दृष्टि से दोषपूर्ण और निरर्थक है[१२]।

(४) इसका निर्माण सं० १६४० और सं० १६७० के बीच में हुआ है[१३]।

इससे पृथ्वीराज रासौ के संबन्ध में नई चर्चा खड़ी हो गई। उन दिनों मथुरा-निवासी मोहनलाल-विष्णुलाल पंड्या उदयपुर की 'महद्राजसभा' के सेक्रेटरी थे। उदयपुर के कुछ राजदरबारी राव-भाटों ने पंड्याजी को घेर लिया और रासौ सम्बन्धी अनेक मिथ्या धारणाएँ उनके मस्तिष्क में भर दीं तथा श्यामलदास के विरुद्ध खड़ा किया। पंड्याजी प्राचीन हिंदी साहित्य के सुज्ञाता और अध्ययनशील व्यक्ति थे। परन्तु राजस्थान की भाषा, राजस्थान के इतिहास और राजस्थान की साहित्यिक परम्पराओं से अनभिज्ञ थे। इसलिए राव-भाटों के धोखे में आ गये। उन लोगों ने पृथ्वीराज और चंद की झूठी वंशावलियाँ, नकली पट्टे-परवाने और रासौ की बनावटी हस्तलिखित प्रतियाँ पंड्याजी को दीं। इस सामग्री के आधार पर उन्होंने 'पृथ्वीराज रासौ की

९. सख्या १, भाग १, सन् १८८६।
१०. पृथ्वीराज रहस्य की नवीनता, पृ० २।
११. वही; पृ० ३।
१२. वही; पृ० ८७।
१३. वही; पृ० ७५।

प्रथम संरक्षा' नामक एक छोटी-सी पुस्तक तैयार की जो सं० १९४४ में प्रकाशित हुई। इस पुस्तक में उन्होंने पृथ्वीराज रासौ के कर्ता चंद का प्रसिद्ध चौहाण राजा पृथ्वीराज के समय में होना सिद्ध करने की भरसक चेष्टा की जो निष्फल रही। कविराजा श्यामलदास के उल्लिखित आक्षेपों में से एक का भी संतोषजनक उत्तर उनसे न बन सका।

पृथ्वीराज रासौ में सब से अधिक गड़बड़ी संवतों की पाई जाती है। इसका कारण पंड्याजी ने यह बतलाया कि पृथ्वीराज रासौ में विक्रम संवत् का नहीं, बल्कि एक संवत् विशेष, अनंद विक्रम संवत्, का प्रयोग हुआ है, जिसमें ९०।९१ वर्ष जोड़ देने से विशुद्ध विक्रम संवत् निकल आता है[१४]। परन्तु उनकी यह कल्पना भी निराधार सिद्ध हुई[१५]।

अभी तक जॉन बीम्स आदि अंग्रेज विद्वान् इस विषय में मौन थे। कविराजा श्यामलदास के लेख से उनके मन में संदेह अवश्य उत्पन्न हो गया था पर वे इस चिंता में थे कि कोई पाश्चात्य विद्वान् उनकी बात का समर्थन करे। सौभाग्य से वह अवसर भी शीघ्र ही आ गया और उसका श्रेय प्रसिद्ध पुरातत्त्ववेत्ता जर्मन विद्वान् डा० बूलर को मिला। सं० १९३२ में उनको कश्मीर में संस्कृत-ग्रंथों की खोज करते समय 'पृथ्वीराज-विजय' नामक महा-काव्य की भोजपत्र पर लिखी हुई एक अपूर्ण प्राचीन प्रति मिली। इसका अध्ययन करने पर उनको मालूम हुआ कि इसका रचयिता, जयानक कवि, पृथ्वीराज का समकालीन और उनका राजकवि था। इसमें दी हुई पृथ्वीराज की वंशावली तथा उनके जीवन संबन्धी अन्य घटनाओं को उन्होंने पृथ्वीराज रासौ के विरुद्ध और शिलालेखों से मिलता-जुलता पाया।

इस खोज की सूचना डा० बूलर ने एक पत्र द्वारा एशियाटिक सोसाइटी, बंगाल, को दी। पत्र के अंतिम भाग में उन्होंने लिखा कि "मैं समझता हूँ, चंद के रासौ का प्रकाशन बन्द कर दिया जाय तो अच्छा होगा। यह ग्रंथ जाली है जैसा कि जोधपुर के मुरारिदान और उदयपुर के श्यामलदास ने बहुत काल पहले प्रकट किया था। 'पृथ्वीराजविजय' के अनुसार पृथ्वीराज के बंदीराज अर्थात् मुख्य भाट का नाम पृथ्वीभट था न कि चंद बरदाई[१६]।"

१४. पृथ्वीराज रासौ, आदि पर्व (ना० प्र० सभा), पृ० १३९–१४४।

१५. नागरीप्रचारिणी पत्रिका, भाग १, सं० १९९७, पृ० ३७७–४५४।

१६. प्रोसीडिंग्ज आव दि रायल एशियाटिक सोसाइटी आव बंगाल, संख्या ४ और ५ (अप्रैल–मई), सन् १८९३, पृ० ९४–९५।

डा० बूलर के इस पत्र से पाश्चात्य विद्वानों का रहा-सहा संदेह दूर हो गया और एशियाटिक सोसाइटी ने रासौ का प्रकाशन बन्द कर दिया।

इस पर मोहनलाल-विष्णुलाल पंड्या और बाबू श्यामसुन्दरदास ने रासौ के संपादन का काम अपने हाथ में लिया और उसे नागरीप्रचारिणी सभा, काशी, की ओर से प्रकाशित करवाया (सं० १९६२)। इससे यह ग्रंथ सर्वसाधारण को सुलभ हो गया और विद्वानों को इसके पक्ष-विपक्ष में सम्मति प्रकट करने का अवसर मिला जिसका उन्होंने भरपूर लाभ उठाया। रासौ पर सब से अधिक श्रम स्वर्गीय पंडित गौरीशंकर-हीराचन्द ओझा ने किया। इन्होंने इतिहास, भाषाशास्त्र आदि विभिन्न दृष्टियों से इसकी परीक्षा की और अन्त में इसे सं० १६०० के आसपास का रचा हुआ[१७] एक अनैतिहासिक ग्रंथ बताया। उन्हीं के शब्दों में 'पृथ्वीराज रासौ बिलकुल अनैतिहासिक ग्रंथ है।'[१८] उसमे चौहाणों, प्रतिहारों, और सोलंकियों की उत्पत्ति के संबन्ध की कथा, चौहाणों की वंशावली[१९], पृथ्वीराज की माता,[२०] भाई, बहन, पुत्र, राणियों आदि के विषय की कथाएँ तथा बहुत-सी घटनाओं के संवत् और प्रायः सभी घटनाएँ तथा सामंतो आदि के नाम अशुद्ध और कल्पित हैं। कुछ सुनी-सुनाई बातों के आधार पर इस काव्य की रचना की गई है।[२१] यदि पृथ्वीराज रासौ पृथ्वीराज के समय में लिखा जाता तो इतनी बड़ी अशुद्धियों का होना असंभव था।"

जहाँ तक रासौ की ऐतिहासिकता का संबन्ध है पंडितजी की उक्त राय मान्य है और देश-विदेश के सभी प्रतिष्ठित विद्वानों ने इसे मान लिया है। अतः इस विषय में यहाँ कुछ कहना केवल पिष्टपेषण होगा। अब झगड़ा सिर्फ इसके निर्माण-काल सम्बन्धी रह गया है और इसी पर यहाँ विचार करना है।

अनुश्रुति है कि चंद वरदाई महाराज पृथ्वीराज चौहाण का राजकवि और सामंत था। परन्तु इसका कोई लिखित प्रमाण अभी तक हस्तगत नहीं हुआ। आचार्य श्री जिनविजय मुनि को चंद नामक किसी कवि के चार फुटकर कवित्त (छप्पय) मिले हैं जो अपभ्रंश भाषा में हैं।[२२] जिस प्राचीन प्रति

१७. कोशोत्सव स्मारक संग्रह; पृ० ६६।
१८. वही; ६५।
१९. वही; ३९।
२०. वही; ४१।
२१. वही; ६५।
२२. पुरातन प्रबन्ध संग्रह; पृ० ८६, ८८, और ८९।

में ये छप्पय मिले हैं वह सं० १५२८ की लिखी हुई है।[23] इससे मालूम पड़ता है कि चंद नाम का कोई कवि प्राचीन समय में, कम से कम सं० १५२८ से पहले हुआ अवश्य है। परन्तु वह चंद कब हुआ, कहाँ हुआ, वह किस जाति का था, उसने क्या लिखा, कितना लिखा इत्यादि बातों का कुछ पता नहीं है। अतः उस चंद का अधुना प्रचलित पृथ्वीराज रासौ से सम्बन्ध जोड़ना अनुचित है। क्योंकि इसकी भाषा स्पष्ट बतला रही है कि यह विक्रम की १८वीं शताब्दी से पूर्व की रचना नहीं है, न १८वीं शताब्दी से पहले के संस्कृत, हिंदी, राजस्थानी आदि के किसी ग्रंथ में इसका नाम दृष्टिगोचर होता है। यहाँ तक कि पृथ्वीराजविजय महाकाव्य (सं०१२४९), प्रबन्धचिंतामणि (सं० १३६१), हंमीर महाकाव्य (सं० १४६०), सुर्जनचरित्र (सं० १६३५) इत्यादि ग्रंथों में भी, जिनमें पृथ्वीराज अथवा चौहाण-वंशी अन्य राजाओं का विस्तृत वर्णन है, रासौ का नाम नहीं है।

रासौ साहित्यिक दृष्टि से एक बहुत उत्तम कोटि का ग्रंथ है। वह कोई ऐसी साधारण रचना नहीं है कि जिसकी उपेक्षा की जा सके। यदि वह १८वीं शताब्दी के पूर्व रचा गया होता तो उल्लिखित ग्रंथों में से किसी न किसी में इसका नामोल्लेख अवश्य होता।

पृथ्वीराज रासौ का प्रथम प्रामाणिक उल्लेख 'राजप्रशस्ति महाकाव्य' में मिलता है। इसके तीसरे सर्ग में रावल समरसिंह के वर्णन में इसका रचयिता रणछोड़ भट्ट लिखता है कि 'समरसिंह ने पृथ्वीराज की बहन पृथाबाई से विवाह किया था और शहाबुद्दीन की लड़ाई में वह मारा गया जिसका वृत्तान्त भाषाके रासौ ग्रंथ में लिखा है'।[24]

---

२३. वही; पृ० ३ (प्रास्ताविक वक्तव्य)

२४. ततः समरसिंहाख्यः पृथ्वीराजस्य भूपतेः।
पृथाख्यायाः भगिन्यास्तु पतिरित्यतिहार्दतः ॥२४॥
गोरीसाहिबदीनेन गजनीशेन संगरम्।
कुर्वतोऽखर्वगर्वस्य महासामंतशोभिनः ॥२५॥
दिल्लीश्वरस्य चोहाननाथस्यास्य सहायकृत्।
स द्वादशसहस्रैः स्ववीराणां सहितो रणे ॥२६॥
बध्वा गोरीपतिं दैवात् स्वयांतः सूर्यबिंबमभिन्।
भाषा "रासा" पुस्तकेस्य युद्धस्योक्तोस्तिविस्तरः ॥२७॥
—सर्ग ३

तदनन्तर दलपति मिश्र-कृत जसवंत-उद्योत,[25] कवि जदुनाथ-कृत वृत्त-विलास,[26] कवि वल्लभ कृत कुन्तीप्रसन्नाख्यान,[27] आदि १८वीं-१९वीं शताब्दी के ग्रंथों में इसका नाम दिखाई देता है। यथा—

संयोगिता कुमारिका, रच्यौ स्वयंबर काजु।
देस विदेसनि ते तहाँ, आयौ राज समाजु॥ ४०१॥

चंद भाट की चाकरी, पृथ्वीराज विचारि।
संग नोरह सामंत लै, गयो गुपत अनुहारि॥ ४०२॥

संयोगिता कुमारिका, वर्यौ जहाँ चौहानु।
ताही पिथोरा कह्यौ दया, राइ अभै जिय दानु॥ ४०३॥

रासौ पृथ्वीराज कौ, तहाँ बहुत विस्तार।
मैं बरन्यौ संछेप ही, सकल कथा कौ सारु॥ ४०४॥

—जसवंत-उद्योत

एक लाख रासौ कियो, सहस्र पंच परिमान।
पृथ्वीराज नृप को सुजस, जाहर सकल जिहान॥ ५६॥

—वृत्तविलास

२५. इस ग्रंथ में इसका रचनाकाल सं० १७०५ दिया हुआ है (पाँच अधिक सत्रसई, संवत को परमानु)। परन्तु इसमें महाराजा जसवन्तसिंह के जीवन की कुछ ऐसी घटनाओं का वर्णन भी है जो सं० १७०५ के बाद में हुई थीं। अतः यह संवत् संदिग्ध है। लेकिन इस ग्रंथ की एक हस्तलिखित प्रति बीकानेर के अनूप संस्कृत पुस्तकालय में सुरक्षित है जो सं० १७४७ की लिखी हुई है। इसलिये यह सं० १७४७ से पहले का रचा हुआ तो है।

२६. ये करौली के यदुवंशी राजा गोपालसिंह (गोपालपाल) के आश्रित थे। इनका रचना-काल सं० १८०० है। देखिये कोशोत्सव स्मारक संग्रह में पंडित गौरीशंकर-हीराचन्द ओझा का लेख, पृ० ६४।

२७. वल्लभ गुजरात के सुप्रसिद्ध कवि प्रेमानन्द (सं० १६९३–१७९१) के पुत्र थे। कुंतीप्रसन्नाख्यान की रचना उन्होंने सं० १८३८ में की थी। देखिये, श्रीकन्हैयालाल-माणिकलाल मुंशी-कृत 'गुजरात ऐंड इट्स लिट्रेचर', पृ० २००।

भारत समुं प्रमाण, रासा ना तमासा भाळो ।
कार्यो भारत वेत्रण, आरत उवेखिए ।।
पृथ्वीश प्रशंसा कथी, मानशे नुं मोधुं तेमां ।
प्रेमानन्द नी कविता, सविता शी पेखिए ।।
ब्राह्मण थी भाट थया, वंशज विधिना आतो ।
कवीश्वर ना पिता थी, चंद मंद देखिए ।।
—कुन्तीप्रसन्नाख्यान

'राजप्रशस्ति महाकाव्य' एक इतिहास-प्रसिद्ध ग्रंथ है । यह ग्रंथ महाराणा राजसिंह के बनवाये हुए 'राजसमंद' नामक तालाब[२८] की बाँध पर पच्चीस बड़ी-बड़ी शिलाओं पर खुदा हुआ है, और भारत भर में सबसे बड़ा शिलालेख तथा शिलाओं पर खुदे हुए ग्रंथों में सब से बड़ा है ।[२९] इसमें २५ सर्ग हैं और १०१७ श्लोक । यह काव्य कोरा कल्पना-प्रसूत नहीं है । इसमें इतिहास और काव्य दोनों का सुन्दर समन्वय हुआ है ।

इसके लिए सामग्री एकत्र करवाने में महाराणा राजसिंह ने बहुत धन व्यय किया था और बहुत दूर-दूर तक खोज करवाई थी । परिणाम-स्वरूप प्राचीन ग्रंथों आदि के रूप में इतिहास-विषयक प्रचुर सामग्री प्रकाश में आई और 'राजरत्नाकर', 'राजविलास', 'राजप्रकाश' इत्यादि कई ग्रंथ उसी समय नये लिखे गये जिन सबकी मूल प्रतियाँ उदयपुर के सरस्वती भंडार में सुरक्षित है ।[३०] इसी समय चंद का कोई वंशज अथवा उसकी जाति का कोई दूसरा व्यक्ति रासो लिखकर सामने लाया प्रतीत होता है । यदि यह व्यक्ति रासो को अपने नाम से प्रचारित करता तो लोग उसे प्राचीन इतिहास के लिए अनुपयोगी समझते और उसमें वर्णित बातें उसे सप्रमाण सिद्ध भी करनी पड़तीं । अतएव चंद-रचित बतलाकर उसने इस सारे झगड़े का अंत कर दिया । चंद का नाम लोक-प्रचलित था ही । लोगोंको उसकी बात पर विश्वास भी हो गया ।

'राजप्रशस्ति महाकाव्य' का लिखना सं० १७१८ में प्रारंभ हुआ था

२८. यह तालाब उदयपुर से ४० मील उत्तर-पूर्व मे है । यह चार मील लंबा, पौने दो मील चौड़ा और ५५ फीट गहरा है । इसकी बनवाई मे १,०५,४७,५८४ रुपया खर्च हुआ था ।

२९. ओझा; उदयपुर राज्य का इतिहास; पृ० ५७४ ।

३०. ए कैटेलॉग आव मैनुस्क्रिप्ट्स इन दि लाइब्रेरी आव हिज हाइनेस दि महाराना आव उदयपुर; पृ० १२२, २५४ ।

और समाप्ति उसकी सं० १७३२[११] में हुई थी। अतः इसी के समानान्तर का समय पृथ्वीराज रासौ की रचना का भी समय है। परन्तु यदि कोई यह कल्पना करे कि 'राजप्रशस्ति' का लिखना प्रारम्भ करने से पूर्व उसके लिए सामग्री जुटाने का काम शुरू हो गया होगा, और संभवतः उसी समय रासौ का भी श्रीगणेश हो गया हो तो इस समय को खींच-खांचकर सं० १७०० तक भी ले जाया जा सकता है। परन्तु इससे आगे ले जाना इतिहास और अनुमान दोनों का गला घोंटना है।

हमारे इस अनुमान की पुष्टि रासौ की प्राचीन लिखित प्रतियों से भी होती है। रासौ की जितनी भी हस्तलिखित प्रतियाँ अभी तक प्राप्त हुई हैं वे सब सं० १७०० के बाद की हैं। जिन प्रतियों को सं० १७०० के पूर्व की माना जा रहा है वे यथार्थ में सं० १७०० के पूर्व की नहीं हैं। इस विषय में बड़ा धोखा चल रहा है, और यह धोखा काफी लम्बे अर्से से होता चला आ रहा मालूम पड़ता है, अतः इसके मूलभूत कारणों को भी जान लेना आवश्यक है।

बात यह है कि चंद की बड़ी ख्याति देखकर भारतवर्ष के कुछ भागों में, विशेषकर राजस्थान और गुजरात में, राव-भाटों के कई ऐसे घराने उठ खड़े हुए हैं जो अपने को चंद की वंश-परंपरा में बतलाते हैं। परन्तु इनके पास प्रमाण कुछ नहीं हैं। अतएव ये नकली प्रमाण गढ़ते रहते हैं। इनमें से कुछ ने झूठी वंशावलियाँ भी बना ली हैं।[१२] अपने कथन की पुष्टि में ये लोग पृथ्वीराज रासौ की भी, छोटी-बड़ी, तरह-तरह की, हस्तलिखित प्रतियाँ सामने लाकर रखते हैं जिनमें बहुत प्राचीन संवत् लिखे रहते हैं। इन प्रतियों की पुष्पिकाओं में ये लोग संवत, माह और तिथि का उल्लेख तो करते हैं पर वार नहीं लिखते। जैसे—

"संमत् १२५० वर्षे आसाढ सुदी १३।"

"सं० १३४० काती विद ३।"

"सं० १६७५ का माहा वद ५ सुभं लिख्यतां भाई सोभजी।"

क्योंकि दो-चार शताब्दियों पहले के किसी संवत् के अमुक महीने की तिथि को अमुक वार था इसका ज्योतिष-गणना आदि से पता लगा लेना इनके लिये दुष्कर है। और यदि कहीं अमुक वार लिख दें, जैसा कहीं-कहीं लिखा मिलता

---

३१. ओझा, उदयपुर राज्य का इतिहास, पृ० ५७०, ५७२ और ५७७।

३२. हरप्रसाद शास्त्री; प्रेलिमिनेरी रिपोर्ट आन दि आपरेशन इन सर्च आव मैनुस्क्रिप्ट्स ऑव बार्डिक क्रोनिकल्स, पृ० ३०।

भी है, सो दूसरों द्वारा जैंत्री आदि से मिलान करने पर पोल खुल जाने का भय रहता है।

इसके अलावा इन बनावटी प्रतियों की पुष्पिकाओं में जो संवत् ये लोग लिखते हैं उसके आसपास के किसी बड़े राजा अथवा जैनाचार्य आदि का नाम भी उनमें जोड़ देते हैं जिनका आधार इनकी बहियाँ अथवा सुनी-सुनाई बातें हुआ करती हैं। अतएव कभी तो इनका अनुमान ठीक बैठता है और कभी गलत हो जाता है।

कभी-कभी प्रति के अंत में पुष्पिका न देकर ये लोग किसी प्राचीन ऐतिहासिक पुरुष की प्रशंसा आदि का कोई पद्य बनाकर लिख देते हैं जिससे आगे जाकर लोग यह समझें कि यह प्रति उस महापुरुष के लिए अथवा समय में लिपिबद्ध हुई होगी। परन्तु चोरी चोरी ही है। कागज से, स्याही से, लिखावट से, पुष्पिका में दी हुई अटकलपच्चूँ बातों से सही बात का पता लग ही जाता है।

पृथ्वीराज रासो की लगभग ३०-३५ हस्तलिखित प्रतियाँ हमारे देखने में आई हैं। इनमें से कुछ प्रतियों में बहुत प्राचीन संवत् लिखे हुए मिले। पर गहरी परीक्षा करने पर सब अशुद्ध निकले। दो-एक दफा ऐसा भी हुआ कि पहली बार जब प्रति को देखा गया तो उसमें उसका लेखन-काल कुछ और दिया हुआ था और बाद में कुछ और लिखा हुआ मिला।

कुछ वर्ष पूर्व प्रो० रमाकान्त त्रिपाठी की नागौर-निवासी नानूराम नामक एक भाट से भेंट हुई थी। उसने अपने को चंद का वंशधर बतलाया और रासो की दो प्रतियाँ लाकर त्रिपाठीजी के सामने रखीं जिनमें से एक में उसका लेखन-काल सं० १४५५ दिया हुआ था—

"संवत् १४५५ वरषे शरद ऋतौ आश्विन मासे शुक्ल पक्षे उदयात घटी १६ चतुरथी दिवसे लिखतं। श्री खरतरगच्छाधिराजे पंडित श्रीरुपजी लिखतं चेला श्रीसोभाजी रा। कपासन मध्ये।[33]"

प्रति वर्ष आश्विन का महीना, शुक्ल पक्ष, चतुर्थी इत्यादि होते हैं और इसलिए सं० १४५५ में भी ये सब हुए होंगे इसमें कोई संदेह नहीं। परन्तु जानने योग्य बात यह है कि उक्त संवत् के आश्विन माह के शुक्ल पक्ष की चतुर्थी को वार कौन सा था, जिसका पुष्पिका में कहीं उल्लेख नहीं है। जो लिपिकार पुष्पिका में घड़ी आदि जैसी सूक्ष्म बातों तक का विवरण दे

३३. चाँद; नवम्बर १९२९, पृ० १६०।

देता है वह वार जैसी बड़ी बात का उल्लेख नहीं करता इससे क्या सूचित होता है ? स्पष्ट है कि प्रति कृत्रिम है और इसकी पुष्टि उसकी भाषा से होती है जो किसी दशा में भी १९वीं शताब्दी से पूर्व की नहीं है:—

एक पहुर में साँवत सारे। लोक हजार पाँच तहँ मारे॥
ये सॉवत पृथिराज पियारे। केतेई दल सँकर बुहारे॥
मारे लोक हजार अठारा। उभय हूर इकबीस सिंगारा॥
दोउ घरिय पछिसू पूगे। भूमध्यान के चूखट पुग्गे॥
ना पिछ लोक च्यार दस मारे। पिछले पहुर पचास सिंगारे॥
तब दलथंभ चंदेल जुझारे। सॉवत पूगे महल मँझारे॥
महलन मध्ये घात सिवाये। फते फते कर सोमत आये[३४]॥

इस प्रकार का छल अब कुछ अन्य लोग भी करने लगे हैं जो अपनी नई खोज बतलाने के लिए ऐसा कर रहे हैं। इसका प्रत्यक्ष उदाहरण 'विशाल भारत' में प्रकाशित 'पृथ्वीराज रासो की प्राचीनतम प्रति' शीर्षक वह टिप्पणी है जिसमें उसके लेखक ने अपने पास रासो की सं० १४०३ की लिखी हुई एक प्रति होना बतलाया है।[३५] लेखक का यह भी कहना है कि यह रासो छप्पय छंदों में गुंफित है और अपभ्रंश भाषा में है।[३६] उनके अनुसार इस रासो की हस्तलिखित प्रति की पुष्पिका इस प्रकार है:—

"विक्रम सं० १४०३ कार्तिक शुक्ल पंचम्यां॥ तुगलक फ़िरोजशाहि विजय राज्ये दिल्यां मध्ये लिपि कृतं वाचक महिम राजेन श्रीमाल कुलोत्पन्न श्रीठक्कुर फेरू पुत्र हेमपाल वाचनार्थं शुभं भूयात।[३७]"

इस पुष्पिका में भी वही दोष है जो नानूरामवाली प्रति की पुष्पिका में पाया जाता है। अर्थात् तिथि के साथ वार का उल्लेख इसमें भी नहीं है। इसके अतिरिक्त पुष्पिका में कहा गया है कि यह प्रति सं० १४०३ में फीरोजशाह तुगलक के शासन-समय में दिल्ली में लिखी गई थी। परन्तु सं० १४०३ में

---

३४. हरप्रसाद शास्त्री, प्रेलिमिनेरी रिपोर्ट आन दि आपरेशन इन सर्च आव मैनुस्क्रिप्ट्स आव बार्डिक क्रोनिकल्स, पृ० २७।

३५. विशाल भारत, नवम्बर, १९४६, पृ० २३१।

३६. वही।

३७. वही।

फीरोजशाह दिल्ली का शासक ही नहीं था। उस समय मुहम्मदशाह तुगलक दिल्ली पर राज्य करता था। फीरोज तुगलक सं० १४०८ (सन् १३५१ ई०) में राजसिंहासन पर बैठा था और ३७ वर्ष राज्य करने के पश्चात् सं० १४४५ (सन् १३८८ ई०) में मरा था।[३८] अस्तु।

पृथ्वीराज रासौ की जितनी हस्तलिखित प्रतियों का पता अब तक लग सका है वे ये हैं:—

(१) 'टॉड कलैक्शन ऑव मैनुस्क्रिप्ट्स' की बारह प्रतियाँ।[३९]
(२) सरस्वती भंडार, उदयपुर, की सात प्रतियाँ।
(३) अनूप संस्कृत पुस्तकालय, बीकानेर, की सात प्रतियाँ।
(४) रॉयल एशियाटिक सोसाइटी, बंबई शाखा, की तीन प्रतियाँ।
(५) एशियाटिक सोसाइटी, बंगाल, की तीन प्रतियाँ।
(६) ओरियंटल कॉलेज लाइब्रेरी, लाहौर, की तीन प्रतियाँ।
(७) भंडारकर ओरियंटल रिसर्च इंस्टीट्यूट, पूना, की दो प्रतियाँ।
(८) अभय जैन पुस्तकालय, बीकानेर, की दो प्रतियाँ।
(९) सुमेर पब्लिक लाइब्रेरी, जोधपुर, की दो प्रतियाँ।
(१०) फार्बस गुजराती सभा की दो प्रतियाँ।
(११) भींडर के श्रीमाणिक्यविजयजी की दो प्रतियाँ।
(१२) वृहत् ज्ञानभंडार, बीकानेर, की एक प्रति।
(१३) नागरीप्रचारिणी सभा, काशी, की एक प्रति।
(१४) आगरा कॉलेज की एक प्रति।
(१५) बेदला की एक प्रति।
(१६) देवलिया प्रतापगढ़ की एक प्रति।
(१७) कानौड़ की एक प्रति।[४०]
(१८) उदयपुर के स्वर्गीय बख्तावरजी राव की एक प्रति।
(१९) बोदलियन की एक प्रति।
(२०) स्वर्गीय पूर्णचन्द्र नाहर की एक प्रति।

---

३८. वी० ए० स्मिथ; दि आक्सफोर्ड हिस्ट्री आव इण्डिया, पृ० २६२।

३९. दि जर्नल आव दि रायल एशियाटिक सोसाइटी आव ग्रेट ब्रिटन ऐण्ड आयरलैंड, जून १९४०, पृ० १२९–१७९।

४०. इस प्रति को हमने पहले अक्तूबर, १९४५, में देखा था। उस समय इसमें इसका लिपिकाल सं० १८४६ लिखा हुआ था। परन्तु अब उसे बदल कर सं० १७४६ कर दिया गया है।

(२१) सरस्वती भंडार, कोटा, की एक प्रति।
(२२) धारणोज की एक प्रति।
(२३) अबोहर की एक प्रति।
(२४) राजपुस्तकालय, बूँदी, की एक प्रति।
(२५) कांकरोली की एक प्रति।[४१]

इन ६०-६२ प्रतियों में लगभग तीन चौथाई प्रतियाँ १८वीं शताब्दी तथा उसके बाद की हैं। शेष में से कुछ अपूर्ण हैं और कुछ में लिपिकाल का निर्देश नहीं है। पूर्ण प्रतियाँ में से जिन प्रतियों का लेखन-समय सं० १७०० से पूर्व का बताया जाता है वे ये हैं :—

(१) नागरीप्रचारिणी सभा, काशी, की प्रति[४२]। लिपिकाल—सं० १६४२।

(२) कर्नल टॉड की प्रति[४३]। लिपिकाल—सं० १६९२, चैत्र सुदी २, रविवार।

पहले इसके कि इन दोनों प्रतियों की प्रामाणिकता के विषय में कुछ कहा जाय उदयपुर के सरस्वती भंडार की एक प्रति का परिचय दे देना उचित जान पड़ता है जो रासो की प्राचीनतम प्रति है, और पूरी है। यह प्रति मेवाड़ के महाराणा अमरसिंह (द्वितीय) के शासनकाल (सं० १७५५-६७) में लिखी गई थी। इसका पुष्पिका-लेख इस प्रकार है :—

"सं० १७६० वर्षे शाके १६२५ प्रवर्त्तमाने उत्तरायन गते श्री सूर्ये शिशिर ऋतौ सन्मांगल्य प्रद माव मासे कृष्ण पक्षे ६ तिथौ सोमवासरे॥ श्री उदयपुर मध्ये हिन्दूपति पातिसाहि महाराजाधिराज महाराणा श्रीअमरसिंहजी विजय राज्ये। मेदपाट ज्ञातीय भट्ट गोवर्धन सुतेन रूपर्जा ना लिखितं चंद बरदाई कृत पुस्तकं॥"

इस पुष्पिका के ऊपर इस प्रति में निम्नलिखित दो छप्पय दिये हुए हैं जिनमें पुष्पिका के संवत् आदि की कूटकाव्य में चर्चा की गई है और कुछ अन्य बातें भी बतलाई गई हैं :—

४१. इनके अतिरिक्त किशनगढ, अलवर, नाथद्वारा, पीपल्या आदि स्थानों मे भी कुछ प्रतियाँ हैं। परन्तु उनमें अधिकाश अपूर्ण हैं और दो-एक जो पूर्ण हैं वे १९वीं शती की लिखी हुई हैं।

४२. डा० श्यामसुन्दरदास; हिंदी साहित्य (पंचम संस्करण), पृ० ९५।

४३. दि जर्नल आव दि रायल एशियाटिक सोसाइटी आव ग्रेट ब्रिटन ऐंड आयरलैंड, जून १९४०, पृ० १४९।

(१)

भिलि पंकज गन उदधि करद कागद कातरनी।
कोटि कवी का जलह कमल कटिक तैं करनी॥
इहि तिथि संख्या गुनित कहै कक्का कवियानै।
इह श्रम लेखनहार भेद भेदं सोइ जानै॥
इन कष्ट ग्रंथ पूरन करय जन बड़ या दुख ना लहय।
पालियै जतन पुस्तक पवित्र लिखि लेखिक विनती करय॥

(२)

गुन भनियन रस पोय चन्द कवि कवियन दिद्धिय।
छंद गुनी तें तुट्टि मंद कवि भिन भिन किद्धिय॥
देस देस बिप्परिय मेल गुन पार न पावय।
उदिम करि मेलवत आस बिन आलय आवय॥
चित्रकोट रान अमरेस नृप हित श्रीमुख आयस दयौ।
गुन बीन बीन करुना उदधि लिखि रासौ उदिम कियौ[४४]॥

इतिहास बतलाता है कि सं० १७६० में मेवाड़ पर महाराणा अमरसिंह (द्वितीय) का राज्य था,[४५] और ज्योतिष-गणना से सूचित होता है कि सं० १७६० की माघ वदि ६ को मंगलवार था।[४६] अतः इस प्रति की प्रामाणिकता के संबंध में किसी प्रकार के संदेह अथवा मतभेद के लिये स्थान नहीं है।

(१) नागरीप्रचारिणी सभावाली प्रति को जिस आधार पर सं० १६४२ माना गया है वह आधार उपर्युक्त दोनों छप्पय हैं जिनका ऊटपटांग अर्थ इस प्रकार किया गया है। प्रथम छप्पय के 'भिलि पंकज गन उदधि करद कागद कातरनी' तुक के संबन्ध में कहा गया है कि "यदि पंकज से पंकज नाल (१), गन को गुन (६) का अशुद्ध रूप, उदधि से समुद्र (४) और करद से कटार या चाकू (१) जिसका फल एक होता है, मान लें, तो सं० १६४१ बनता है।"[४७]

---

४४. हस्तलिखित प्रति, पत्र नं० ८४६।

४५. ओझा; उदयपुर राज्य का इतिहास, पृ० ११४७–११४८।

४६. एल० डी० पिल्ले; इण्डियन एफेमेरिस, पृ० २०८ (वोल्यूम ६)।

४७. सं० १९९० की ओरियंटल काम्फ्रेंस के हिन्दी विभाग के सभापति की हैसियत से दिया गया डा० श्यामसुन्दर का भाषण।

द्वितीय छप्पय के 'चित्रकूट रान अमरेस नृप' से अभिप्राय चित्तौड़ के राणा अमरसिंह प्रथम (सं० १६५३–१६७६) लिया गया है,[४८] और इन दोनों मिथ्या धारणाओं के आधार पर रासौ का संकलन-काल सं० १६४१ तथा रासौ की प्राचीनतम प्रति का लिपिकाल सं० १६४२ ठहराया गया है।

परन्तु सरस्वती भंडार, उदयपुर, की प्रति की उपर्युक्त पुष्पिका से, जिसके ऊपर ये दोनों छप्पय दिये हुए हैं, स्पष्ट है कि 'मिलि पंकज गन उदधि' आदि का अर्थ सं० १७६० होता है[४९] और 'अमरेस नृप' से अभिप्राय अमरसिंह द्वितीय से है।

इस संबन्ध में अधिक टीका-टिप्पणी व्यर्थ है। कारण कि अब तो सभावालों ने भी इस बात को स्वीकार कर लिया है, कि उनकी प्रति सं० १६४२ की लिखी हुई नहीं है। वह सं० १९३२[५०] की है।

(२) अब कर्नल टॉड की प्रति को लीजिये। इसमें उसका लिपिकाल सं० १६९२, चैत्र सुदी २, रविवार दिया हुआ है। परन्तु सं० १६९२ की चैत्र सुदी द्वितीया को रविवार था ही नहीं। उस दिन मंगलवार था। अतः यह प्रति भी अप्रामाणिक है।[५१]

पंडित गौरीशंकरजी ने रासौ का निर्माण-काल सं० १६०० के आस-पास जो निश्चित किया है उसका आधार नागरीप्रचारिणी सभा की उपरोक्त प्रति है जिसके संबन्ध में उनको कहा गया कि वह सं० १६४२ की लिखी हुई है। अतः यह मानकर कि जब रासौ की हस्तलिखित प्रति सं० १६४२ की प्राप्त है तब रासौ का प्रणयन-काल उससे पूर्व का होना ही चाहिये उन्होंने उसे सं० १६०० के आसपास का रचा हुआ बताया। परन्तु न तो रासौ की प्राचीनतम प्रति सं० १६४२ की लिखी हुई कही है और न रासौ सं० १६०० के आसपास रचा गया है। वस्तुतः सं० १७०० के आसपास इस ग्रंथ की रचना हुई है।

---

४८. नागरीप्रचारिणी सभा, काशी से प्रकाशित 'पृथ्वीराज रासो' की उपसंहारिणी टिप्पणी, पृ० १७८

४९. प्राचीन ग्रंथों में 'उदधि' और 'करद' (खड्ग) को क्रमशः ७ और १ की संख्या का सूचक माना गया है। अतः "अंकानां वामतो गतिः" नियम के अनुसार 'मिलि पंकज गन उदधि करद' से १७ की संख्या तो ठीक निकल आती है पर आगे अर्थ स्पष्ट नहीं है।

५०. नागरीप्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ५३, अंक २, पृ० १२९।

५१. एल. डी. पिल्ले; इण्डियन ऐफेमेरिस, पृ० ७२ (वोल्यूम ६)।

कुछ विद्वानों का कथन है कि पृथ्वीराज रासौ जिस रूप में आजकल पाया जाता है वह उसका वास्तविक रूप नहीं है। उनके मतानुसार मूल रासौ दूसरा था। इस विषय में उनमें तीन मत पाये जाते हैं। ये तीनों मत और उनकी समीक्षाएँ नीचे दी जाती हैं।

पहला मत। पृथ्वीराज रासौ की रचना चंद ने पृथ्वीराज के राजत्व-काल में की थी। परन्तु उस समय यह इतना बड़ा न था। चंद के वंशज अथवा दूसरे लोग बाद में समय-समय पर इसमें प्रक्षिप्त अंश जोड़ते गये जिससे इसका कलेवर बढ़ गया और इतिहास सम्बन्धी अशुद्धियाँ भी अनेक आ गई हैं।"[५२]

यह मत डा० ग्रियर्सन और उनके अनुयायियो का है। अपने मत के समर्थन में इन्होंने कोई ऐतिहासिक प्रमाण प्रस्तुत नहीं किया। केवल अपनी एक अस्पष्ट धारणा को मत के रूपमें सामने रख दिया है और रासौ में पाई जानेवाली अनेकानेक ऐतिहासिक त्रुटियों के परिहार के लिये ऐसा किया गया है। रासौ के कुछ अंशों को ये विद्वान् प्राचीन और कुछ को प्रक्षिप्त मानते हैं। परन्तु वे प्राचीन अंश कौन से हैं और किस आधार पर उनको प्राचीन कहा जा रहा है इस संबन्ध में इन्होंने कुछ नही कहा। इसमें कोई संदेह नहीं कि रासौ में कहीं-कहीं प्राचीनता का आभास होता है। परन्तु इसका कारण रासौ की प्राचीनता नही, प्रत्युत इसका कारण तो चारण-भाटो की वह क्लासिक भाषा-शैली है जिसमें वह रचा गया है। राजस्थान में आज भी कई ऐसे चारण-भाट विद्यमान हैं जो इस तरह की भाषा-शैली में सैकड़ों छंद लिखकर दे सकते हैं। सच तो यह है कि वर्तमान रासौ में पाँच पंक्तियाँ भी ऐसी नहीं हैं जिनकी भाषा को बारहवी शताब्दी की भाषा कही जा सके। बारहवीं शताब्दी के कई ग्रंथ अद्यावधि मिल चुके हैं जिनकी भाषा के साथ रासौ की भाषा की तुलना करके हमारे इस कथन की यथार्थता

---

५२. ग्रियर्सन; दि माडर्न वर्नाक्युलर लिटरेचर आव हिन्दुस्तान, पृ० ३। सी० वी० वैद्य; हिस्ट्री आव मैडीवल हिन्दू इण्डिया, वोल्यूम २, पृष्ठ १८–२५। डा० श्यामसुन्दरदास; हिन्दी साहित्य (पचम संस्करण), पृ० ९४। प० रामचन्द्र शुक्ल; हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ३७। मथुराप्रसाद, असली पृथ्वीराज रासौ, पृ० १ (प्राक्कथन)। राहुल सांकृत्यायन; हिन्दी काव्यधारा, पृ० २८।

की परीक्षा की जा सकती है। सारांश, डा० ग्रियर्सन आदि विद्वानों का यह मत सर्वथा निराधार है।

दूसरा मत। मूल रासो अपभ्रंश में रचा गया था और वह छप्पय छन्दों में था। वर्तमान रासो उसी का रूपान्तर है।[53]

इस मत की पुष्टि में दो बातें कही गई हैं—(१) छप्पय छंदों में गुंफित पृथ्वीराज रासो की सं० १४०३ की एक हस्तलिखित प्रति मिली है जो अपभ्रंश में है, (२) आचार्य श्री जिनविजय मुनि को चंद के चार फुटकर छप्पय मिले हैं जो अपभ्रंश भाषा में हैं और जिनमें से तीन कुछ विकृत रूप में वर्तमान रासो में भी विद्यमान हैं।

(१) सं० १४०३ की मानी जानेवाली यह प्रति वही है जिसका विवरण ऊपर दिया जा चुका है। वास्तव में इस तरह की कोई प्रति है ही नहीं।

(२) मुनि जिनविजयजी को मिले चार फुटकर छप्पयों से भी पृथ्वी-राज रासो का रचा जाना सिद्ध नहीं होता। हो सकता है कि चंद नामक किसी कवि ने पृथ्वीराज की जीवन-घटनाओं पर कुछ फुटकर छंद ही लिखे हों और यही अधिक संभव भी मालूम पड़ता है। क्योंकि इस तरह के फुटकर छंद अन्य राजाओं के भी भारी संख्या में मिलते हैं और यह राजस्थानी साहित्य की एक प्रमुख विशेषता है। इस प्रकार की कविता को राजस्थान में 'साख री कविता' कहते हैं।

एक बात और है। राजस्थान में ऐसी काव्य-परिपाटी रही है, और आज भी है, कि चारण-भाट आदि जातियों के लोग किसी इतिहास-प्रसिद्ध व्यक्ति पर जो कोई ग्रंथ लिखते हैं उसमें स्वरचित छंदों के अतिरिक्त अपने पूर्ववर्ती कवियों के छंद भी बीच बीच में जोड़ते जाते हैं। उदाहरण-स्वरूप दौलतविजय (सं० १७६७-९०) के खुंमाण रासो[54] को लीजिये। इसमें बापा

---

५३. आचार्य जिनविजय मुनि; पुरातन प्रबन्ध-संग्रह, पृ० ८७। काति-सागर; विशाल भारत, नवम्बर १९४६, पृ० २३१। दशरथ शर्मा और मीनाराम रंगा; राजस्थान-भारती, भाग १, अंक ५, अप्रैल सन् १९४६, पृ० ९३।

५४. कुछ विद्वानों ने इसका रचनाकाल १०वीं शताब्दी विक्रमीय मान रखा है जो एक भ्रम है। वास्तव में यह ग्रंथ मेवाड़ के महाराणा अमरसिंह के पुत्र

रावल से लेकर राणा राजसिंह तक के मेवाड़ के राजाओं का वर्णन है। महाराणा प्रताप के वर्णन में दौलतविजय ने स्वरचित छंदों के अलावा बीकानेर के प्रसिद्ध कवि राठौड़ पृथ्वीराज (सं० १६०६-५७) के भी ये दोहे रखे हैं :—

'पातल पाघ प्रमाण, साँची साँगाहर तणी।
रही सदा लग राण, अकबर सूं ऊभी अणी॥
अकबर घोर अंधार, आथभिया हिंदू अवर।
जागै जागणहार, पोहरै राण प्रतापसी॥

महाराणा संग्रामसिंह (द्वितीय) के शासन-काल मे लिखा गया था। इस बात का स्पष्ट उल्लेख इसके रचयिता ने इसके प्रथम खंड के अन्तिम दोहे में किया है। वह दोहा इस प्रकार है—

बिउ मागउ अमरेस सुत सीसोद्यौ सुवियाण।
राणा पाट प्रतपै रिधू, मन हेला माहिराण॥

महाराणा संग्रामसिंह (द्वितीय) ने सं० १७६७ से स० १७९० तक राज्य किया था। अतएव लगभग यही समय इस ग्रंथ की रचना का भी है।

एक दूसरी भ्रान्ति जो इसके विषय में फैली हुई है वह यह है कि इसे मेवाड के राजा खुँमाण के जीवनचरित का ग्रन्थ समझा जा रहा है। यह भ्रान्ति कदाचित इस ग्रंथ के नाम के कारण हुई है जो कुछ अस्पष्ट है। मेवाड़ के नरेशों की 'राणा', 'महाराणा', 'सीसोदा', 'कैलपुरा', 'चित्तौड़ा' आदि कई पदवियाँ है जिनमे एक 'खुंमाणा' भी है जिसका अर्थ है—खुंमाण के वंशज। अतः इस ग्रंथ के रचयिता ने इसका 'खुंमाण रासो' नाम जो रखा है वह इसलिये नहीं रखा है कि इसमे राजा खुंमाण का वर्णन है, बल्कि खुंमाण के वंशजों का, राणाओं का, वर्णन होने से इसे यह नाम दिया गया है जो उचित भी है। क्योंकि इसमे राजा खुंमाण का ही नहीं, प्रत्युतः बापा रावल से लेकर राणा राजसिंह (स० १७०९—३५) तक के मेवाड़ के सभी राजाओं का वर्णन है। महाराणा राजसिंह के बाद के राणाओं—जयसिंह, अमरसिंह (द्वितीय) और संग्रामसिंह (द्वितीय) का वर्णन भी इसमें था। परंतु इसकी जो हस्तलिखित प्रति उपलब्ध है उसमें वह नहीं है। क्योंकि यह प्रति अपूर्ण है। इसके अन्तिम दो-चार पन्ने खो गये है।

माई एहा पूत जण, जेहा राण प्रताप।
अकबर सूतो ओझकै, जाग सिराणे साँप॥[55]

इसका नवीन उदाहरण देखना हो तो बारहठ केसरीसिंह रचित 'प्रताप-चरित्र' का अवलोकन करना चाहिये। यह ग्रंथ सं० १९०० में लिखा गया था, पर इसमें दुरसाजी आदि दो-एक ऐसे कवियों के पद्य उद्धृत हैं जो आज से लगभग चार सौ वर्ष पहले हुए हैं।[56]

अतएव मुनि जिनविजयजी को मिले अपभ्रंश के तीन छप्पयों को वर्तमान रासो में देखकर यह निष्कर्ष निकालना कि मूल रासो अपभ्रंश में रचा गया था, उचित नहीं है।

तीसरा मत। रासो के चार रूपांतर (Recensions) मिलते हैं—(१) लघुतम, (२) लघु, (३) मध्यम और (४) बृहत्। वर्तमान रासो चतुर्थ अथवा बृहत् रूपांतर है।[57]

यह मत अस्पष्ट है। कारण कि इसके प्रवर्तक इन रूपांतरों का ठीक-ठीक समय-निर्णय नहीं कर पाये हैं जो आवश्यक है। कम से कम लघुतम रूपांतर का समय-निर्धारण तो होना ही चाहिये। तभी शेष रूपांतरों के काल आदि के विषय में निश्चित रूप से कुछ कहा जा सकता है। क्योंकि ये रूपांतर एक ही काल के भी हो सकते हैं और भिन्न-भिन्न कालों के भी। अभी तो स्थिति यह है कि जिस रूपांतर को लघु कहा जा रहा है वह पहले का (सं० १६५७)[58] है और लघुतम उसके बाद का (सं० १६६७)।[59]

दूसरी बात यह है कि जिन हस्तलिखित प्रतियों के आधार पर इन रूपांतरों की स्थापना की गई है वही संदिग्ध हैं। बिना उचित अनुसंधान के उनका लिपिकाल निश्चित कर लिया गया है। उदाहरण के लिए लघुतम रूपांतर की प्रति को लीजिये जिसकी पुष्पिका में तिथि के साथ वार दिया

---

५५. भंडारकर ओरियंटल रिसर्च इंस्टीट्यूट, पूना की हस्तलिखित प्रति पत्र नं० १३६।

५६. प्रतापचरित्र, पृ० २३९, २४५, २४७।

५७. राजस्थान भारती, अंक १, अप्रैल सन् १९४६, पृ० ३-४।

५८. नागरीप्रचारिणी पत्रिका, भाग २०, अंक ३, सं० १९९६, पृ० २७५।

५९. राजस्थान भारती, अंक १, अप्रैल सन् १९४६, पृ० ४।

हुआ नहीं है।[60] फिर भी इसे प्रामाणिक मान लिया गया है और केवल इसी एक प्रति के आधार पर लघुतम रूपांतर की स्थापना कर दी गई है। यह नहीं सोचा गया कि यह रूपांतर रासौ की किसी बड़ी प्रति का कटा-छँटा रूप भी हो सकता है।

आगे इसकी विषय-वस्तु को देखिये। इसमें लगभग १३०० छंद हैं जिनसे पृथ्वीराज के जीवन की मुख्यतः चार घटनाओं पर प्रकाश पड़ता है—पृथ्वीराज का जन्म, उनका संयोगिता से विवाह, उनकी शहाबुद्दीन से लड़ाई और उनकी तथा चंद की गजनी में आत्महत्या द्वारा मृत्यु।

पृथ्वीराज का जन्म-काल इसमें भी सं० १११५ दिया हुआ है जो अशुद्ध है—

एकादस सद पंचदह, विक्कम साक अनंद।
तिहि पुर रिपु जय हरण, भयो प्रिथिराज नरिंद॥[61]

इसी प्रकार पृथ्वीराज का संयोगिता से विवाह होना, पृथ्वीराज और चंद का गजनी में आत्मघात करना आदि घटनाएँ भी इतिहास-सम्मत नहीं हैं।

अतएव लघुतम रूपांतर से इस मत के पृष्ठपोषकों का यदि यह अभिप्राय है कि यह पृथ्वीराज के समय की रचना है तो यह उनकी स्पष्ट भूल है।

लघु रूपांतर की तीन हस्तलिखित प्रतियाँ कही जाती हैं जिनमें से अनूप संस्कृत पुस्तकालय बीकानेर की दो प्रतियों का १७वीं शती में लिखा जाना अनुमानित किया गया है।[62] परन्तु जैसा कि डा० तेस्सितोरी ने निर्देश किया है, ये प्रतियाँ १७वीं शताब्दी की नहीं, किन्तु १८वीं शताब्दी की हैं।[63]

मध्यम और बृहत् रूपांतरों की किसी प्रति को सं० १७०० से पूर्व की नहीं कहा गया है। अतः उनके विषय में यहाँ कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है।

---

६०. स० १६६७ वर्षे शाके १५३२ प्रवर्त्तमाने आसाढ़ मासे शुक्ल पक्षे पंचमी तिथौ महाराजाधिराज महाराजा श्रीकल्याणमल्लजी तत्पुत्र राजा श्रीभाणजी तत्पुत्र राजा श्री श्रीभगवानदासजी पठनार्थ श्रेय कल्याण श्रीशुभं भवतु।

६१. अभय जैन ग्रन्थालय, बीकानेर, की हस्तलिखित प्रति, पृ० ७।

६२. राजस्थान भारती, अंक १, अप्रैल सन् १९४६, पृ० ४।

६३. ए डिस्क्रिप्टिव कैटेलाग आव बार्डिक ऐंड हिस्टोरिकल मैनुस्क्रिप्ट्स, भाग १, पृ० ७३ और ८३।

राजस्थान में ऐसी प्रथा है कि चारण, भाट आदि जातियों के लोग अपने बच्चों को कंठस्थ कराने के लिये अथवा राजा-महाराजाओं को सुनाने के लिये प्रायः किसी बड़े ग्रंथ को काट-छाँटकर छोटा कर लिया करते हैं। चारण करणीदान का 'सूरजप्रकाश' इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है। यह साढ़े सात हजार छंदों का एक भारी ग्रंथ है। परन्तु इसे काटकर छोटा बना लिया गया है। इस छोटे रूप का नाम 'बिड़दसिणगार' है। इसमें केवल १२५ छंद हैं। दूसरा उदाहरण कविराजा मुरारिदान-कृत 'जसवंत-जसोभूषण' का है। इसका लघु रूप 'जसवंतभूषण' नाम से प्रसिद्ध है।

अतः अनुमान होता है कि उपर्युक्त तीसरे मत के समर्थक जिनको रासौ के रूपांतर (Recensions) मान रहे हैं वे वास्तव में रासौ के रूपांतर नहीं, प्रत्युत वृहत् अथवा सम्पूर्ण रासौ के ही कटे-छँटे रूप हैं जिनको अपनी-अपनी रुचि एवं आवश्यकता के अनुसार समय-समय पर लोगों ने तैयार कर लिया है।

जो भी हो, पृथ्वीराज रासौ से हमारा अभिप्राय यहाँ उस रासौ से है जिसमें एक लाख छंद एवं ६९ सर्ग हैं, जो काशी नागरीप्रचारिणी सभा तथा बंगाल की एशियाटिक सोसाइटी की ओर से प्रकाशित हुआ है और जिसकी कर्नल टॉड, कविराजा श्यामलदास, पं० गौरीशंकर-हीराचंद ओझा प्रभृति विद्वानों ने ऊहा-पोह की है। यह सं० १७०० के आसपास बनाया गया है इसमें किसी प्रकार का संदेह नहीं है।

विजयपाल रासौ—ब्रजभाषा का एक दूसरा ग्रंथ जो अर्वाचीन होते हुए प्राचीन माना जा रहा है वह है[६४] विजयपाल रासौ जिसका थोड़ा-सा अंश उपलब्ध हुआ है। इसमें इसके रचयिता नल्लसिंह ने अपने को सिरोहिया शाखा का भाट और विजयगढ़ (करौली राज्य) के यदुवंशी नरेश विजयपाल का आश्रित बतलाया है:—

भये भट्ट पृथु यज्ञ तैं, है सिरोहिया अल्ल।
वृत्तेस्वर जदुवंस के, मल्ल पल्ल दल सल्ल॥

नल्लसिंह यह भी लिखता है कि उसके आश्रयदाता महाराज विजयपाल

६४. मिश्रबंधु; मिश्रबन्धु विनोद (चतुर्थ संस्करण), भाग प्रथम, पृ० १५०। डा० रामकुमार वर्मा; हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास (द्वितीय संस्करण); पृ० २५२।

ने उसे हिंडौन नामक एक नगर, सात सौ गाँव और हाथी, घोड़े, ऊँट इत्यादि पुरस्कार में दिये थे :—

बीसा सौ गजराज, वाजि सोहल सौ माते।
दिये सातसौ ग्राम, सहर हिंडौन सुदाते॥

सुतर दिये द्वै सहस, रकम गिलमैं भरि अंबर।
कंचन रत्न जड़ाव, बहुत दीने जु अडंबर॥

कुल पूजित राव सिरोहिया, याउवपति निज सम कियव।
नृप विजयपाल जू विजयगढ़, साह ये जू सम्मपियव॥[६५]

विजयपाल रासौ में महाराज विजयपाल के राज्यारोहण एवं उनकी दिग्विजय का वर्णन है :—

बैठतैं पाट विजयपाल वीर, अल्लीलखांन जीत्यो गहीर।
इक लक्ष मीर दहवट्ट कीन, गे राखि रिद्धि सब खोसि लीन॥
साहाबदीन गजनीं हंकारि, तत्तारखांन को मान मारि।
तेगन अमोरि तूरान तोरि, ईरान पेसकस लीन मोरि॥
बरछीनि मारि बक्कस उजारि, कंधार कोट सब दियो पारि॥
काबिली किलक्की रोह जीति, राखिय नरेन्द्र हिंदवान रीति॥
बलकी भुखार सब जेर कीन, खुरसान खोसि हब्रम्मान लीन॥
आरबी रूम लटियाल कूटि, फिरंगॉन देस दुइ बार लूटि॥
लीनी स पेसकस अवर देस, राखियो धरम जादव नरेस॥
पाँचाल देस बयराट मारि, अजमेर सोम को गर्व गारि॥
मंडोवर परिहार डंडि, ओड्या पारस खगनि खंडि॥
तौंवर अनंग दिल्ली सुमानि, थापियो थान सगपन जानि॥
ढूंढाहर हय खुरनि गाहि, पज्जूनि करत नित सेव चाहि॥
मेवात मुरस्थल महि लीन, उतराध पंथ सब जेर कीन॥
इहिं तेज तपस विजयपाल राज, जाहरां तेग जादव समाज[६६]॥

इस दिग्विजय का समय मल्हसिंह ने सं० १०९३ बतलाया है।[६७] ग्यारहवीं

६५. मुंशी देवीप्रसाद; कविरत्नमाला, पृष्ठ० २३।

६६. मुंशी देवीप्रसाद; कविरत्नमाला, पृ० २५।

६७. वही; पृ० २४।

शताब्दी में करौली में विजयपाल नाम के एक प्रतापी राजा हुए हैं जिनका करौली के अतिरिक्त उसके निकटवर्ती अलवर, भरतपुर, धौलपुर, आदि अन्य राज्योंके कुछ भागों पर भी अधिकार था।[६८] परन्तु गजनी, ईरान, काबुल, दिल्ली, अजमेर, ढूंढाड़ इत्यादि पर विजयपाल का एकच्छत्र राज्य होने की जो बात नल्लसिंह ने कही है वह इतिहास-विरुद्ध और अति-रंजना है। कहने की आवश्यकता नहीं कि सोमेश्वर, शहाबुद्दीन प्रभृति जिन ऐतिहासिक व्यक्तियों का नामोल्लेख नल्लसिंह ने ऊपर के पद्य में किया है वे विजयपाल के समकालीन ही नहीं थे। सोमेश्वर की मृत्यु सं० १२३६[६९] में और शहाबुद्दीन की सं० १२६३[७०] में हुई थी। अतः इतिहास के अनुसार विजयपाल के समय में और सोमेश्वर-शहाबुद्दीन के समय में क्रमशः १४३, १७० वर्षों का अन्तर है। यदि विजयपाल रासो का रचयिता नल्लसिंह महाराज विजयपाल का समकालजीवी होता तो इस प्रकार की भूलों का होना असंभव था।

विजयपाल रासो की भाषा भी ग्यारहवीं शताब्दी की भाषा नहीं है। उस समय इस तरह की भाषा का चलन भारतवर्ष में कहीं था ही नहीं। इसकी भाषा और शैली दोनों पर बूँदी के सुप्रसिद्ध चारण कवि सूरजमल के 'वंश-भास्कर' (सं० १८९७) का प्रभाव स्पष्ट दिखाई दे रहा है।

वास्तव में यह ग्रंथ सं० १९०० में अथवा इससे भी कुछ बाद में रचा गया है। पर प्राचीन बताने के लिये इसके रचयिता ने नल्लसिंह का कल्पित परिचय इसमें जोड़ दिया है जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है।

उपरोक्त विवेचन से साफ है कि हिंदी साहित्य के विद्वान् व्रजभाषा के जिन ग्रंथों को सं० १५५० से पूर्व का मान रहे हैं वे यथार्थ में सं० १५५० के पूर्व के नहीं हैं। वस्तुतः व्रजभाषा में साहित्य-सृजन का प्रारंभ सं० १५५० के बाद से हुआ है और राजस्थान के व्रजभाषा के कवियों में पहला नाम भक्त शिरोमणि मीराँबाई का है।

(१) मीराँबाई—इनकी जीवनी इतिहास की एक उलझी हुई पहेली है। राजस्थान की ख्यातों आदि में कहीं इनका वृत्तान्त नहीं मिलता। हिंदी

---

६८. दि रूलिंग प्रिंसेज, चीफ्स ऐंड लीडिंग पर्सनेजेज इन राजपूताना ऐंड अजमेर (छठा संस्करण), पृ० ११५।

६९. कोशोत्सव स्मारक संग्रह, पृ० ४६।

७०. वही; पृ० ६०।

के कुछ प्राचीन ग्रंथों व फुटकर छंदों में इनके विषय के कुछ उल्लेख देखने में आते हैं। पर वे इतने अपूर्ण और इतिहास की दृष्टि से इतने भ्रष्ट हैं कि उनके आधार पर कोई निश्चित मत स्थिर नहीं किया जा सकता। स्वयं मीराँबाई के पदों से इस विषय में विशेष सहायता नहीं मिलती। क्योंकि अभी तक यह निश्चय नहीं हो पाया है कि इनके रचे माने जानेवाले पदों में कौन से पद असली और कौन से प्रक्षिप्त हैं।

इतिहासकारों के अनुसार मीराँबाई मेड़ते के राठौड़ राव दूदाजी के चतुर्थ पुत्र रत्नसिंह की इकलौती पुत्री थीं।[७१] इनका जन्म सं० १५५५ के लगभग कुड़की नामक गाँव में हुआ था।[७२] बाल्यावस्था ही में इनकी माता का देहान्त हो गया जिससे राव दूदाजी ने इन्हें अपने पास मेड़ते में बुला लिया और वहीं इनका पालन-पोषण हुआ।

इनका विवाह मेवाड़ के महाराणा साँगा (सं० १५६६-८४) के ज्येष्ठ कुँअर भोजराज के साथ सं० १५७३ में हुआ था। परन्तु विवाह के थोड़े ही समय बाद भोजराज का देहावसान हो गया और मीराँबाई विधवा हो गईं। मुंशी देवीप्रसाद के मतानुसार यह दुःखद घटना सं० १५७२ और सं० १५८८ के बीच में हुई थी।[७३] पंडित गौरीशंकर-हीराचंद ओझा ने इसका समय सं० १५७५ और सं० १५८० के बीच में स्थिर किया है।[७४]

भोजराज की मृत्यु से मीराँबाई का मन संसार से उचट गया और वह सत्संग तथा भजन-कीर्तन में अपना अधिकांश समय व्यतीत करने लगीं। परन्तु ससुरालवालों ने उनके इस तरह के कार्यों को अपनी वंश-मर्यादा के विरुद्ध समझा और उनमें बाधाएँ डालने लगे। इसलिए मीराँबाई चित्तौड़ से अपने पीहर मेड़ते चली गईं। इनका देहान्त सं० १६०३ में हुआ था।[७५]

७१. कविराजा श्यामलदास; वीरविनोद, प्रथम प्रकरण, पृ० १०२। मुंशी देवीप्रसाद; मीराँबाई का जीवनचरित्र; पृ० ६। ओझा; उदयपुर राज्य का इतिहास, पृ० ३५९। हरविलास सारड़ा; महाराणा सांगा, पृ० ९६।

७२. हरविलास सारड़ा; महाराणा सांगा, पृ० ९६। ओझा; उदयपुर राज्य का इतिहास, पृ० ३५९।

७३. मीराँबाई का जीवनचरित्र; पृ० ७।

७४. उदयपुर राज्य का इतिहास; पृ० ३५९।

७५. मुंशी देवीप्रसाद; मीराँबाई का जीवनचरित्र; पृ० २७। ओझा; उदयपुर राज्य का इतिहास, पृ० ३६०।

इससे आगे मीराँबाई के संबन्ध में जो अनेक कथाएँ लोगों में प्रचलित हैं और हिंदी, गुजराती, बँगला, मराठी, अँग्रेजी आदि के मुद्रित ग्रंथों में दृष्टिगोचर होती हैं उनका कोई ऐतिहासिक मूल्य नहीं है। परन्तु उन पर भी विचार करना आवश्यक है। क्योंकि दोहराते-दोहराते ये कथाएँ अब एक तरह से इतिहास का अंग बन गई हैं।

राजस्थान में यह दंत-कथा प्रचलित है कि मीराँबाई मेवाड़ के महाराणा कुंभाजी (सं० १४९०-१५२५) की राणी थीं। कर्नल टॉड ने भी यही लिखा है[७६] जिसका अनुसरण डा० शिवसिंह[७७], ग्रियर्सन[७८] आदि कई प्रतिष्ठित विद्वानों ने किया है। मीराँबाई के नाम से प्रचलित कुछ पद भी ऐसे देखने में आते हैं जिनमें कुंभाजी का नाम आया है।[७९] परन्तु इतिहास से इनकी पुष्टि नहीं होती। महाराणा कुंभाजी के ६० से अधिक शिलालेख मिले हैं।[८०] इनमें कहीं मीराँबाई का नामोल्लेख नहीं है, न बाद के शिलालेखों में पाया जाता है। महाराणा कुंभाजी के कई राणियाँ थीं जिनमें से कुंभलदेवी और अपूर्व देवी के नाम क्रमशः चित्तौड़गढ़ के कीर्तिस्तंभ की प्रशस्ति[८१] (सं० १५१७) और गीतगोविंद की कुंभाजी-रचित 'रसिकप्रिया' टीका[८२] में दिये हुए हैं। शेष के नाम भाटों की ख्यातों में मिलते हैं। परन्तु इनमें मीराँबाई का नाम नहीं है। यदि मीराँबाई जैसी प्रसिद्ध महिला कुम्भाजी की राणी होती तो उनका नाम अवश्य इनमें दिया जाता।

---

७६. दि एनल्स एंड ऐंटिक्विटीज आव राजस्थान, पृ० २८९।

७७. शिवसिंह-सरोज, पृ० १०२ (कवियों का जीवनचरित्र)।

७८. ग्रियर्सन; दि माडर्न वर्नाक्युलर लिटरेचर आव हिन्दुस्तान, पृ० १२।

७९. "राणा कुंभाजी ओ जी, जीव रा मघाती जोया नॉय मिलेजी ॥"

८०. ओझा; उदयपुर राज्य का इतिहास, पृ० ३१८।

८१. वेणीव्याजवलद्भुजगललनालावण्यलीलालया
सौन्दर्यामृतदीर्घिकापरिलसन्नालीकनेत्रद्वया।
कुंभारंभकुचद्वयोपरिचलन्मामुक्तमुक्ता च या
यस्यानगकुतूहलैकपदवी कुम्भल्लदेवी प्रिया ॥

—श्लोक १८०

८२. महाराज्ञी श्री अपूर्वदेवी हृदयाधिनाथेन महाराजाधिराज महाराज श्री कुम्भकर्ण महीमहेन्द्रेण ·······॥

पृ० १७४ (नि. सा. प्रे., बंबई का संस्करण)

मेवाड़ के महाराणा भीमसिंह के शासन-समय (सं० १८३४-८५) में कर्नल टॉड उदयपुर में आये और रहे थे और इतिहास-विषयक बहुत-सी सामग्री महाराणा के द्वारा उनको प्राप्त हुई थी। परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि मीराँबाई के सम्बन्ध में टॉड साहब ने महाराणा से कोई पूछ-ताछ नहीं की। यदि वे पूछ-ताछ करते तो उनको सही बात का पता अवश्य लगता। क्योंकि महाराणा भीमसिंह को मीराँबाई का बहुत कुछ वृत्तान्त मालूम था जैसा कि रामदान लालस-कृत 'भीमप्रकाश' नामक ग्रंथ से विदित होता है। यह ग्रंथ महाराणा भीमसिंह के अनुरोध से सं० १८५६ में लिखा गया था और महाराणा को सुनाया गया था। इसमें एक स्थान पर जहाँ महाराणा साँगा के पुत्रों की नामावली दी गई है वहाँ भोजराज-मीराँबाई का स्पष्ट उल्लेख है :—

भोजराज जेठो अभँग, कुँवरपदे म्रत कीध।
मेड़तणी मीरां महळ, प्रेमी भगत प्रसीध ॥[८३]

किसी भी इतिहासकार के लिए यह एक बहुत बड़ा संकेत है। परन्तु कर्नल टॉड को इसका लाभ नहीं मिला। महाराणा कुंभा एक प्रतिभाशाली विद्वान् और साहित्यकार थे। ऐसे सुयोग्य राजा की राणी भी विदुषी होनी चाहिये यह अनुमान लगाकर उन्होंने मीराँबाई का संबन्ध कुँभाजी से जोड़ दिया और उन्हें उनकी राणी लिख दिया।

वास्तविक बात यह है कि महाराणा कुंभाजी की राणी होना तो दूर रहा, मीराँबाई उनकी समकालीन ही नहीं थी। कुंभाजी का देहांत सं० १५२५[८४] में और मीराँबाई का जन्म सं० १५५५ में हुआ था।[८५] अर्थात् महाराणा कुंभाजी की मृत्यु के ३० वर्ष बाद मीराँबाई पैदा हुई थी।

इसी तरह की कुछ दंतकथाएँ और भी प्रचलित हैं। जैसे, (१) मुगल सम्राट् अकबर अपने प्रसिद्ध गवैये तानसेन के साथ मीराँबाई के दर्शन करने को आया था, (२) अपने परिवारवालों से दुखी होकर मीराँबाई ने गोस्वामी तुलसीदास को एक पत्र लिखा था। परन्तु इनमें काल-दोष स्पष्ट है। मीराँ-

---

८३. सेठ सूरजमल-नागरमल पुस्तकालय, कलकत्ता, की हस्तलिखित प्रति, पृ० ३।

८४. ओझा; उदयपुर राज्य का इतिहास, पृ० ३२२।

८५. वही; पृ० ३५९।

बाई की मृत्यु के समय अकबर (जन्म सं० १५९९) केवल चार वर्ष का बालक था और गद्दी पर ही नहीं बैठा था। गोस्वामी तुलसीदास को पत्र लिखनेवाली दंतकथा का आधार 'विनयपत्रिका' का एक पद है। परन्तु 'विनयपत्रिका' की रचना गोस्वामी ने सं० १६५३ में की थी[८६] जब मीराँबाई को मरे ५० वर्ष हो गये थे।

कहा जाता है कि मीराँबाई का साधु-संतों में बैठना-उठना और उनके साथ भजन-कीर्त्तन करना इनके देवर राणा विक्रमादित्य (सं० १५८८–९३) को पसंद नहीं आया और उन्होंने विष-प्रयोग द्वारा मीराँबाई को मार डालने की चेष्टा की जो असफल रही। भक्तमाल आदि ग्रंथों में इस बात का उल्लेख है और स्वयं मीराँबाई ने अपने पदों में स्थान-स्थान पर इस दुष्कर्म का वर्णन किया है :—

"जहर का प्याला भेजिया रे दीजो मीराँ हाथ।"
"राणाजी भेज्यो विष को प्याला सो अमृत कर दीज्यो जी।"
"विष को प्यालो राणाजी मेल्यो द्यो मेड़तणी नैं प्याय।"
"राणा विष को प्यालो भेज्यो पीय मगन होई।"
"मीराँ के प्रभु गिरधर नागर हठ कर पी गई जहर।"
"राणाजी तैं जहर दियो मैं जाणी।"

मुंशी देवीप्रसाद,[८७] डा० ओझा[८८] आदि इतिहासकारों ने भी इस घटना को सही माना है। अतः यह सर्वथा निराधार नहीं है, यद्यपि अतिशयोक्ति-पूर्ण अवश्य है।

हिंदुओं के घरों में विधवा स्त्रियों की और विशेषकर बालविधवाओं की कैसी दुर्दशा होती है और उनके साथ कैसा दुर्व्यवहार किया जाता है यह बात किसी से छिपी हुई नहीं है। अतः संभव है कि विधवा होने के नाते मीराँबाई को भी कुछ कष्ट-यातनाएँ भोगनी पड़ी हों अथवा विष-प्रयोग द्वारा मार डालने की चेष्टा हुई हो। परन्तु तीन बार विष पीकर भी मीराँबाई के जीवित रह जाने की जो बात कही जाती है उसमें कोई तथ्य नहीं है। जान पड़ता है, राणा ने मीराँबाई को जहर देने का इरादा किया था,

---

८६. डा० माताप्रसाद गुप्त; तुलसीदास (द्वितीय संस्करण), पृ० २५४।
८७. मीराँबाई का जीवनचरित्र; पृ० ११-१२।
८८. उदयपुर राज्य का इतिहास; पृ० ३६०

पर कार्य-रूप में परिणत होने के पूर्व ही उनके इस इरादे का भंडा-फोड़ हो गया और जहर नहीं दिया जा सका जिससे मीराँबाई बच गईं।

मीराँबाई के कोई गुरु थे अथवा नहीं और थे तो कौन थे, यह एक विवाद-ग्रस्त विषय है। जनश्रुति के अनुसार संत रैदास इनके गुरु थे। मीराँबाई के नाम से प्रचलित कुछ पदों में भी इस बात का संकेत है :—

"मीराँ नै गोविंद मिल्या जी गुरू मिलिया रैदास।"
"गुरु म्हारे रैदास सरनन चित सोई।"
"रैदास संत मिले मोहि सतगुरु दीन्ह सुरत सहदानी।"
"गुरु रैदास मिले मोहि पूरे धुर से कलम भिड़ी।"
"गुरु मिलिया रैदासजी दीन्ही ज्ञान की गुटकी।"

चित्तौड़ के किले पर कुंभस्वामी (कुंभश्याम) का एक भव्य मंदिर है जिसको लोग 'मीराँबाई का मंदिर' कहते हैं। इसी के पास आठ खंभों की एक छोटी-सी छतरी है जो मीराँबाई के गुरु की छतरी मानी जाती है और 'रैदास की छतरी' के नाम से प्रसिद्ध है।

नाभादास-कृत भक्तमाल के अनुसार संत रैदास स्वामी रामानंद के शिष्य थे। रामानन्द का जन्म सं० १३५६ में हुआ था।[८९] रैदास अपने गुरु रामानंद से आयु में छोटे ही रहे होंगे। परन्तु यदि इन दोनों की आयु बराबर मान ली जाय और यह भी मान लिया जाय, जैसा कुछ लोगों ने माना है, कि रैदास १२० वर्ष की अवस्था में स्वर्गवासी हुए थे[९०] तो भी उनका और मीराँबाई का समसामयिक होना सिद्ध नहीं होता। इससे उनका निधन-काल सं० १४७६ के आसपास ठहरता है जो मीराँबाई के जन्म सं० १५५५ से ७९ वर्ष पहले का है। अतः मीराँबाई को रैदास की शिष्या मानना अनुचित है।

मीराँबाई एक राज-घराने की महिला थीं। इनके ससुर राणा साँगा बड़े प्रतापी राजा थे जिनका लगभग सारे राजस्थान पर प्रभुत्व था।[९१] ऐसे महान् राजा के घराने से अपना सम्पर्क बतलाकर अपने पंथ को लोकप्रिय बनाने के लिये रैदास-पंथियों ने स्वरचित पदों में रैदास का नाम जोड़कर उनको

८९. डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल; हिंदी काव्य में निर्गुण संप्रदाय, पृ० ४१।
९०. डा० रामकुमार वर्मा; हिंदी साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास, पृ० ३२२।
९१. कर्नल टॉड, दि एनल्स ऐंड एंटिक्विटीज आव राजस्थान (प्रथम संस्करण), पृ० ३००।

मीराँ के नाम से प्रचलित कर दिया प्रतीत होता है। इसी तरह की चेष्टा वल्लभ-संप्रदायवालों ने भी की है, जैसा कि '८४ वैष्णवों की वार्ता'[९२] और '२५२ वैष्णवों की वार्ता'[९३] नामक ग्रंथों से विदित होता है। पर इन वार्ता पर वही लोग विश्वास कर सकते हैं जिनको मेवाड़ की राज-परम्पराओं और मर्यादाओं का ज्ञान नहीं है।

श्री व्रजरत्नदास ने रघुनाथदास[९४] को और श्रीवियोगी हरि ने जीव गोस्वामी को[९५] मीराँबाई का गुरु माना है। परन्तु ये केवल अनुमान मात्र हैं। इनके पीछे कोई तर्क अथवा प्रमाण नहीं है। इसलिए इन पर विचार करने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती।

संत कबीर, दादू इत्यादि के समान मीराँबाई किसी पंथ की प्रवर्त्तक नहीं थीं, न उनका किसी सम्प्रदाय विशेष से कोई सम्बन्ध था। वह एक सीधी-सादी सद्गृहस्थ भक्त महिला थीं जो भगवान् का भजन-कीर्त्तन कर अपने वैधव्य के दिन व्यतीत करती थीं और भगवान् को ही अपना सर्वस्व समझती थीं। अतएव किसी व्यक्ति विशेष को इन्होंने अपना गुरु बनाया हो ऐसा अनुमान नहीं होता।

मीराँबाई केवल भक्त ही न थीं, कवि भी थीं। इनके रचे पाँच ग्रंथ कहे जाते हैं–(१) गीतगोविंद की टीका,[९६] (२) नरसीजी रो माहेरो,[९७] (३) सत्यभामाजी नुं रूसणुं,[९८] (४) राग सोरठ,[९९] और (५) राग गोविंद।[१००]

(१) गीतगोविंद की टीका। यह ग्रंथ भ्रम से मीराँबाई के नाम से विख्यात हो गया है। वास्तव में यह मीराँबाई का लिखा हुआ नहीं है, महा-

---

९२. वार्ता न० ४१, न० ५४ और न० ९२।

९३. वार्ता न० ५५ और न० ४७।

९४. मीराँ-माधुरी; पृ० ७९ (भूमिका)।

९५. वही; पृ० ७९।

९६. मुंशी देवीप्रसाद; राजपूताना में हिंदी पुस्तकों की खोज, पृ० ५।

९७. वही; पृ० ९।

९८. केशवराम-काशीराम शास्त्री; कविचरित, पृ० १८७।

९९. मुंशी देवीप्रसाद; राजपूताना में हिंदी पुस्तकों की खोज, पृ० १७।

१००. ओझा; उदयपुर राज्य का इतिहास, पृ० ३६०।

राणा कुंभाजी का रचा हुआ है। इस बात का चित्तौड़गढ़ के कीर्तिस्तंभ की प्रशस्ति में स्पष्ट उल्लेख है। अतः[१०१] इस सम्बन्ध में किसी प्रकार के संदेह अथवा मतभेद की गुंजाइश नहीं है।

(२) नरसीजी रो माहेरो। इस ग्रंथ को मीराँबाई का बताने की भूल पहले-पहल मुंशी देवीप्रसाद ने की थी जिसकी पुनरावृत्ति अभी तक हो रही है। इसकी तीन-चार हस्तलिखित प्रतियों का पता है। इनमें कहीं मीराँ-रचित होने का संकेत नहीं है। ग्रंथ में दो-एक स्थलों पर 'मीराँ उवाच' लिखा हुआ है और कदाचित् इसीलिये इसे मीराँबाई की रचना मान लिया गया है। परन्तु ग्रंथ प्रश्नोत्तर व संवाद के रूप में लिखा होने से ऐसा हुआ है। इसमें इतर स्थानों पर 'नरसी उवाच', 'रामानन्द उवाच,' 'सीता उवाच', 'श्रीरंगो उवाच' इत्यादि भी लिखा मिलता है। यह ब्रजभाषा की एक बहुत सामान्य कोटि की रचना है। इसकी भाषा बहुत निर्जीव एवं कविता नीरस है और मीराँबाई की भाषा-कविता से सर्वथा भिन्न है। किसी दूसरे कवि की कृति है। रचना इस ढंग की है:—

कहै त्रिया सुन हो मम बानी। देखि जाय नृप की रजधानी॥
जती सती देखिय भू केरा। सबै पाय जग लियौ बसेरा॥
हंस बंस सब फेर बुलावा। करि दृढ़ मति नृपती गृह धावा॥
सत अरु साथ जुत्रिया समेता। आये नृप आराम निकेता॥
मंत्री देखि मलिन मन माँही। हंस धान घर कबहुँ न खाहीं॥
नृप को जाइ दंडवत कीना। देखे नृप सब सचिव मलीना॥
पूछी नृप सब कारन काहा। हंस भक्ष गृह नहि नरनाहा॥
सत अरु साथ हंस चलि आये। त्रिया सहित सोभित अधिकाये॥[१०२]

(३) सतभामाजी नुं रूसणुं। यह इक्कीस चरणों का एक छोटा-सा लोकगीत है। 'बृहत् काव्यदोहन' में प्रकाशित हो चुका है। इसकी भाषा गुजराती है। इसकी एक हस्तलिखित प्रति उदयपुर के सरस्वती भंडार में भी है जो सं० १८३३ की लिखी हुई है। इसके अंतिम चरण में 'मीराँ' शब्द आया है:—

१०१. येनाकारि मुरारि संगतिरसप्रस्यंदिनी नन्दिनी
वृत्तिव्याकृतिचातुरीभिरतुला श्रीगीतगोविंदके।
श्रीकर्णाटकमेदपाटसुमहाराष्ट्रादिके योदय-
द्वाणीगुंभमयं चतुष्टयमयं सन्नाटकानां व्यधात्॥१५८॥

१०२. सरस्वती भंडार, उदयपुर, की हस्तलिखित प्रति, पृ० ८।

रूसणुँ गाऊँ रे रूड़ी रीत सुँ रे लोल
सतभामा ना मोआ छे वाल्हा मन जो।
मीराँ ना स्वामी मंदिर पधारिया रे लोल
सतभामा नुं जीवन करयूँ धन धन जो॥ २१॥[१०३]

'मीराँ ना स्वामी' से अभिप्राय यहाँ श्रीकृष्ण से है। संस्कृतादि के ग्रंथों में श्रीकृष्ण के लिये जिस प्रकार 'राधारमण', 'गोपीवल्लभ', 'राधास्वामी' इत्यादि शब्द प्रयुक्त हुए हैं उसी प्रकार यहाँ 'मीराँ ना स्वामी' का प्रयोग श्रीकृष्ण के लिये हुआ है। अतएव मीराँ शब्द को देखकर इसे मीराँबाई की रचना मान लेना अनुचित है। कारण, इसकी भाषा मीराँ-कालीन भाषा नहीं है। वह उन्नीसवीं शताब्दी की गुजराती है।

उदयपुर के सरस्वती भंडार की जिस गुटकाकार प्रति में यह रचना मिलती है उसी में 'राधाजी नुं रूसणुं' नाम की एक दूसरी रचना भी है। उसमें उसके रचयिता का नाम 'वल्लभ' दिया हुआ है :—

वल्लभ वैष्णव जन नो दास के हरिचरणे मले रे लोल।[१०४]

इस ग्रंथ की भाषा-शैली उपरोक्त 'सतभामाजी नुं रूसणुं' की भाषा-शैली से पूर्णतः मिलती है। इसलिए अनुमान होता है कि 'सतभामाजी नुं रूसणुं' का कर्त्ता भी वल्लभ ही है।

(४) राग सोरठ। यह स्वतंत्र रचना नहीं है। राग सोरठ में गान योग्य मीराँबाई के पाँच-सात पदों का संग्रह मात्र है।

(५) राग गोविंद। यह भी मीराँबाई के कुछ फुटकर पदों का संग्रह है जिसे 'राग गोविंद' नाम दे दिया गया है।

मीराँबाई ने केवल फुटकर पद लिखे हैं जिनके छोटे-बड़े लगभग तीस संग्रह हिन्दी, गुजराती, बंगला आदि भाषाओं में प्रकाशित हुए हैं। परन्तु इनमें सभी पद मीराँबाई के रचे हुए नहीं हैं। मीराँ के भक्तों तथा मुद्रक-प्रकाशकों ने कुछ पद नये बनाकर और कुछ कबीर, सूर, तुलसी, दादू, नानक आदि के इनमें मिला दिये हैं। दुर्भाग्य से मीराँबाई के पदों की कोई प्रामाणिक हस्तलिखित प्रति अभी तक प्राप्त नहीं हुई है जिसके आधार पर यह दृढ़तापूर्वक कहा जा सके कि अधुना प्रचलित पदों में इतने पद मीराँ-बाई के हैं और इतने नहीं हैं। बंगीय हिंदी परिषद्, कलकत्ता द्वारा प्रकाशित

१०३. हस्तलिखित प्रति, पृ० २२५।
१०४. वही; पृ० २२८।

'मीराँ-स्मृति-ग्रंथ' में उसके एक संपादक महोदय ने एक प्राचीन प्रति का उल्लेख किया है जिसे उन्होंने सं० १६४६ की लिखी हुई बतलाया है।[१०५] परन्तु इसका कोई प्रमाण उन्होंने नहीं दिया। भूल-भूलैया की तरह एक विचित्र परिस्थिति में इस प्रति के मिलने का वर्णन किया गया है जो मन में संदेह उत्पन्न करता है। इस प्रति में कुल ६९ पद हैं। इनमें से एक पद यहाँ उद्धृत किया जाता है :--

म्हारो मण साँवरो णाम रट्याँ री।
साँवरो णाम जपां जग प्राणी कोटयाँ पाप कट्याँ री।
जणम जणम री खता पुराणी णमाँ स्याम मट्याँ री॥
कणक कटोराँ इम्रत भर्याँ पीवताँ कूण नट्या री।
मीराँ रे प्रभु हरि अविणासी तण मण स्याम नट्यारी॥[१०६]

इस पद की भाषा न तो मीराँबाई के समय की राजस्थानी भाषा है, न ब्रजभाषा। राजस्थानी भाषा में प्रायः संस्कृत शब्दों के 'न' को 'ण' में बदल दिया जाता है। परन्तु कुछ शब्द ऐसे भी हैं जिनमें इस तरह का परिवर्तन नहीं होता। उपरोक्त पद में आये हुए मन, जनम, कनक, तन इत्यादि शब्द इसी श्रेणी के हैं। इसके अतिरिक्त शब्द के आदि का 'न' तो राजस्थानी में कभी 'ण' में बदलता ही नहीं। परन्तु इस पद में 'नाम', 'नमा' आदि को 'णाम' 'णमा' आदि कर दिया गया है। व्याकरण सम्बन्धी त्रुटियाँ भी इस पद में अनेक हैं। मालूम पड़ता है, राजस्थानी भाषा से अनभिज्ञ किसी व्यक्ति ने यह सारा जाल रचा है। यदि मीराँबाई ने इस तरह की कर्णकटु और भद्दी भाषा में कविता की होती तो वह कदापि इतनी लोकप्रिय नहीं हो पाती। यह प्रति सं० १६४६ की हो नहीं सकती। अतः इसकी भाषा को मीराँबाई की मूल भाषा मानना भारी भूल है।

मीराँबाई के पद अधिकतर हिंदी-गुजराती के भक्त कवियों के पदों के साथ संगृहीत मिलते हैं। इस समय इनके नाम से लगभग पौने पाँच सौ पद भारतवर्ष में प्रचलित हैं। परन्तु इनमें कई पद प्रक्षिप्त हैं। गुजराती भाषा के पद तो सभी संदिग्ध हैं। क्योंकि मीराँबाई का द्वारका में प्राणान्त होने की जो बात कही जाती है[१०७] और जिसके आधार पर

१०५. मीराँ-स्मृति-ग्रंथ, पदावली परिचय, पृ० घ।
१०६. वही; पृ० १६।
१०७. ग्रियर्सन; दि माडर्न वर्नाक्युलर लिटरेचर आव हिंदुस्तान, पृ० १२। मुंशी देवीप्रसाद; मीराँबाई का जीवनचरित्र, पृ० २७।

मीराँबाई को गुजराती पदों का रचयिता माना गया है वह लोगों की केवल कपोल-कल्पना है। उसके लिये कोई सुदृढ़ ऐतिहासिक प्रमाण नहीं है। शेष पदों में भी प्रक्षिप्त पदों की संख्या बहुत है। परन्तु मीराँबाई के प्रत्येक पद पर उनके व्यक्तित्व की गहरी छाप लगी हुई है और इसलिये उनके वास्तविक पदों को पहचान लेना असंभव नहीं है, यद्यपि कुछ कठिन अवश्य है। अनुमानतः मीराँ के पदों की संख्या २२५।२५० है।

मीराँबाई ने ब्रजभाषा और राजस्थानी, दोनों में कविता की है। इनके कुछ पद ब्रजभाषा में और कुछ राजस्थानी में हैं। इनकी भाषा सरल और भावोपयोगी है। इनके शब्द-व्यवहार में बड़ी कोमलता और स्वाभाविकता है। बाह्याडंबर और शाब्दिक चतुराई के फेर में न पड़कर इन्होंने सीधी बात को सीधे ढंग से कहा है जो मस्तिष्क से पहले हृदय को स्पर्श करती है।

मीराँ प्रेम और भक्ति की दीवानी थी। आध्यात्मिक आकुलता और भक्त-हृदय का अटल विश्वास इनकी कविता में अपूर्व रूप से अंकित है। साहित्यिक दृष्टि से यदि देखा जाय तो इनकी कविता कोई बहुत ऊँची नहीं है। परन्तु सरल, स्वाभाविक तथा भक्तिभावपूर्ण होने से एक भक्त-हृदय को मुग्ध करने में वह फिर भी अप्रतिम है। कृष्ण-भक्ति में कवि-चूड़ामणि भक्तवर सूरदास की तुलना किसी दूसरे से नहीं हो सकती। सूर सचमुच हिंदी साहित्याकाश के 'सूर' हैं। उनके 'सूरसागर' में प्रेम-रस की एक बाढ़-सी आ गई है और गोपियों के मुँह से जो पद उन्होंने कहलवाये हैं उनमें उन्होंने नारी-हृदय का ऐसा मधुर, मनोवैज्ञानिक एवं कलात्मक विश्लेषण किया है कि देखकर चकित ही रह जाना पड़ता है। संख्या भी सूर के पदों की कम नहीं। परन्तु इतना सब होते हुए भी मीराँ के पदों में जो रस है, मीठा-सा दर्द है, वह उनमें भी नहीं आ पाया है।

मीराँ की भक्ति दंपति-भाव की थी। अतः इनकी कविता में भक्ति और शृंगार का सुन्दर संयोग हुआ है। परन्तु इनका शृंगार बहुत मर्यादित है। उसमें न तो विद्यापति की सी अश्लीलता है, न सूर की सी उच्छृंखलता और न बिहारी की सी मादकता। उसमें पवित्रता है और साथ ही चिरंतन प्रेम की अनोखी झाँकी भी है। इसीलिये निष्ठुर काल के थपेड़े भी उसके सौंदर्य को, उसकी कांति एवं प्रभाव को मंद अथवा मलिन नहीं कर सके हैं।

(२) **कृष्णदास पैहारी**—ये जयपुर के प्रसिद्ध तीर्थ-स्थान गलता के

महन्त और जाति के दाहिमा ब्राह्मण[१०८] थे। ये स्वामी रामानन्द के शिष्य अनंतानंद के चेले थे।[१०९] केवल दूध पर जीवन-निर्वाह करते थे इसलिए 'पैहारी' कहलाये। ये आमेर के महाराज पृथ्वीराज की राणी बालाँबाई के गुरु थे।[११०] महाराज पृथ्वीराज ने सं० १५५९ से सं० १५८४ तक राज किया था।[१११] अतः लगभग यही समय कृष्णदास का भी समझना चाहिये।

कुछ विद्वानों ने भ्रमवश अष्टछाप के कृष्णदास अधिकारी और इन कृष्णदास पैहारी को एक व्यक्ति मान रखा है।[११२] परन्तु वास्तव में ये दो भिन्न व्यक्ति थे जैसा कि नाभादास-कृत भक्तमाल[११३], ८४ वैष्णवन की वार्ता[११४] इत्यादि ग्रंथों से विदित होता है।

पैहारीजी एक योग्य सिद्ध महात्मा एवं तेजस्वी ब्रह्मचारी थे। इनके योग-चमत्कार की अनेक कथाएँ लोगों में प्रचलित हैं। कुछ का समावेश प्रियादास-कृत भक्तमाल की टीका में भी हुआ है।[११५] परन्तु इनका ऐतिहासिक मूल्य नगण्य है। कहा जाता है कि इन्होंने महाराज पृथ्वीराज के गुरु कापालिक संप्रदाय के योगी चतुरनाथ को शास्त्रार्थ में परास्त किया था, जिसके फल-स्वरूप इनको गलता की गद्दी प्राप्त हुई थी।[११६]

कृष्णदास पैहारी संस्कृत एवं भाषा के अच्छे पंडित और प्रतिभावान कवि थे। ब्रजभाषा पर इनका अच्छा अधिकार था। इनके नाम से तीन ग्रंथ प्रचलित हैं—ब्रह्मगीता, प्रेमसत्वनिरूप और जुगलमानचरित[११७]। इनमें प्रथम दो ग्रंथ निश्चित रूप से इन्हीं के हैं, क्योंकि उनमें कृष्णदास के गुरु

---

१०८. नाभादास; भक्तमाल, छप्पय ३९।

१०९. वही; छप्पय ३८।

११०. हितैषी; दिसम्बर-जनवरी, सन् १९४१-४२ में प्रकाशित स्वर्गीय पुरोहित हरनारायणजी का 'जयपुर के कवि-कोविद' शीर्षक लेख, पृ० ५४१।

१११. हनूमान शर्मा; जयपुरका इतिहास, पृ० ३६ और ४१।

११२. ग्रियर्सन; दि माडर्न वर्नाक्युलर लिटरेचर आव हिंदुस्तान, पृ० २१। डा० रामकुमार वर्मा; हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास (द्वितीय संस्करण), पृ० ६७७।

११३. छप्पय नं० ३८, ३९ और ८१।

११४. ८४ वैष्णवन की वार्ता में कृष्णदास की वार्ता, प्रसंग ६-९।

११५. श्री वेङ्कटेश्वर यन्त्रालय, बम्बई, से प्रकाशित संस्करण, पृ० ७१।

११६. हनूमान शर्मा; जयपुर का इतिहास, पृ० ३७।

११७. हितैषी; दिसम्बर-जनवरी सन् १९४१-४२, पृ० १५६।

आदि का नाम दिया हुआ है और उनका वर्ण्य विषय भी रामानन्दी सम्प्रदाय के सिद्धान्तों से मेल खाता है। परन्तु तीसरा ग्रन्थ 'जुगलमानचरित' संदिग्ध है। इसमें राधाकृष्ण की प्रेम-लीला का वर्णन है। कृष्णदास पैहारी रामानन्दी सम्प्रदाय के प्रमुख आचार्यों में से थे और उस समय पैदा हुए थे जब कि वल्लभ सम्प्रदाय और रामानन्दी सम्प्रदाय के आचार्य—अनुयायी लोगों में अपना-अपना प्रभाव बढ़ाने की एक होड़-सी लगी हुई थी। ऐसी स्थिति में रामोपासक कृष्णदास पैहारी ने कृष्ण-लीला सम्बन्धी यह ग्रन्थ रचा हो ऐसा विश्वास नहीं होता। यह सर्वथा असम्भव तो नहीं है, पर कुछ अस्वाभाविक अवश्य है। अतः सम्भव है कि यह ग्रन्थ अष्टछाप के कृष्णदास अधिकारी अथवा कृष्णदास नाम के किसी दूसरे कृष्ण-भक्त कवि का रचा हुआ हो। परन्तु इस विषय में दृढ़तापूर्वक कुछ कहना कठिन है।

कृष्णदास की रचना मधुर और कोमल है। परन्तु उसमें काव्य-तत्त्व की अपेक्षा बुद्धि-तत्त्व अधिक पाया जाता है। इसलिए वह मन की अपेक्षा मस्तिष्क को अधिक स्पर्श करती है। इनके कुछ फुटकर पद भी मिलते हैं। इन पर भी इनके तत्त्वज्ञान की गहरी छाप लगी हुई है।

(३) कील्हजी—ये कृष्णदास पैहारी के शिष्य थे[११८]। इनके पिता का नाम सुमेरदेव था, जो गुजरात के सूबेदार थे[११९]। ये बड़े भगवद्भक्त और सांख्य, योग आदि के सुज्ञाता थे। इनका भगवान् श्रीरामचन्द्र का बड़ा इष्ट था और दिन-रात रामनाम की रट लगाया करते थे। ये भीष्म पितामह के समान मृत्युञ्जय थे, पर सरल एवं निरभिमान इतने थे कि अपने मिलनेवालों से पहले झुककर प्रणाम करते थे। प्रियादास ने लिखा है कि अन्त समयमें इन्होंने सब सन्त समाज को एकत्र किया और सबका सम्मान आदि कर उनके सामने ब्रह्माण्ड से प्राण त्याग शरीर छोड़ा।[१२०]

कील्हजी का रचा हुआ कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं मिलता। थोड़े से फुटकर पद मिलते हैं, जिनसे इनकी अखण्ड भगवद्भक्ति और सहृदयता का अच्छा परिचय मिलता है। इनकी भाषा ढूँढाड़ी से प्रभावित ब्रजभाषा है। इनके पद सद्भावोत्पादक एवं विचार-सौन्दर्य से ओत-प्रोत हैं और मानव-हृदय में आध्यात्मिक स्फूर्ति का संचार करते हैं।

---

११८. नाभादास; भक्तमाल, छप्पय ४०।

११९. वही; छप्पय ४१।

१२०. श्री वेंकटेश्वर यन्त्रालय से प्रकाशित संस्करण, पृ० ७१-७२।

(४) अग्रदास—ये कृष्णदास पैहारी के शिष्य और कील्हजी के गुरु-भाई थे। कील्हजी की भाँति ये भी भगवान् श्रीरामचन्द्र के परम भक्त और सरल प्रकृति के जीव थे। गुरुभक्ति इनमें इतनी थी कि अपने गुरु कृष्णदास के निवास-स्थान, उद्यान आदि की सफाई स्वयं अपने हाथों से करते थे, यद्यपि इस कार्य के लिए नौकर-चाकर नियत थे[१२१]। स्वर्गीय पण्डित रामचन्द्र शुक्ल ने अग्रदास का सं० १६३२ तक जीवित रहना बतलाया है[१२२], जिसका कोई प्रमाण उन्होंने नहीं दिया। परन्तु प्रियादास-कृत भक्तमाल की टीका से विदित होता है कि ये और भी आगे तक विद्यमान थे। अपनी इस टीका में प्रियादास ने आमेर के महाराजा मानसिंह और अग्रदास की भेंट का वर्णन किया है।[१२३] महाराजा मानसिंह ने सं० १६४६ से सं० १६७५ तक राज्य किया था। यदि उनके शासन-काल के प्रथम वर्ष में ही यह भेंट हुई हो तो भी सं० १६४६ तक अग्रदास का विद्यमान होना स्पष्ट है। सत्य तो यह है कि अग्रदास सं० १६३२ तक ही नहीं, वरन् सं० १६४६ के पश्चात् भी लगभग १५ वर्ष तक विद्यमान थे। उनकी रचनाओं से भी इस बात का समर्थन होता है। इनके 'विश्वब्रह्मज्ञान' और 'रागावली' ग्रन्थों में उनका रचनाकाल दिया हुआ है, जो क्रमशः सं० १६४७ और सं० १६६० में लिखे गये थे[१२४]। अतः सं० १६३२ तक अग्रदास का जीवित रहना जो बतलाया जाता है वह निर्मूल है। वास्तव में ये सं० १६६० तक विद्यमान थे।

अग्रदास ने छोटे-बड़े कुल मिलाकर नौ ग्रंथ बनाये, जिनके नाम निम्नलिखित हैं:—

(१) श्रीराम-भजन-मंजरी, (२) कुण्डलिया, (३) हितोपदेश भाषा, (४) उपासना बावनी, (५) ध्यानमंजरी, (६) पद, (७) विश्वब्रह्मज्ञान (८) रागावली और (९) रामचरित के पद।

अग्रदास रामोपासक भक्त थे। इन्होंने रामभक्ति पर विशेष लिखा है। इनकी भाषा सीधी-सादी चलती ब्रजभाषा है, जिसमें राजस्थानी के शब्द और मुहावरों का भी प्रचुर प्रयोग हुआ है। इनकी कविता मधुर, भावमयी और

१२१. नाभादास; भक्तमाल, छप्पय ४२।
१२२. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० १२६।
१२३. श्री वेंकटेश्वर प्रेस से प्रकाशित संस्करण, पृ० ७२-७३।
१२४. मिश्रबन्धु; मिश्रबन्धु-विनोद, प्रथम भाग, पृ० ३२२।

मौलिकतापूर्ण है। उसमें प्रसाद है, कान्ति है, और व्यापक रूप में ओज भी है।

(५) नाभादास—ये अग्रदास के शिष्य थे। इनका वास्तविक नाम नारायणदास था। इनकी जाति के सम्बन्ध में मतभेद है। कोई ब्राह्मण, कोई क्षत्रिय और कोई डोम बतलाते हैं। भक्तमाल के टीकाकार प्रियादास ने इनको हनुमानवंशी लिखा है :—

"हनूमान वंश ही में जनम प्रसिद्ध जा को
भयो दृगहीन सो नवीन बात धारिये।"[१२५]

'हनूमान' का अर्थ स्वर्गीय श्रीराधाकृष्णदास ने 'डोम' किया है और इस अर्थ के आधार पर उन्होंने नाभादास की जाति डोम बतलाई है, जिसका अनुसरण हिन्दी के अन्य कई विद्वानों ने किया है। श्रीराधाकृष्णदास लिखते हैं कि "मारवाड़ी भाषामें 'डोम' शब्द का अर्थ 'हनुमान' है, इसलिये प्राचीन टीकाकारों ने इन्हें हनुमानवंशी लिखा है।"[१२६] मालूम नहीं यह बात उन्होंने किस आधार पर लिख दी। राजस्थान में 'डोम' का 'हनुमान' अर्थ कहीं सुनने में नहीं आया, न मारवाड़ी भाषा के किसी कोष या ग्रन्थ में इसका यह अर्थ देखने में आता है।

राजस्थान-काठियावाड़ में क्षत्रियों के कुछ ऐसे घराने मिलते हैं, जो अपने को वानरवंशी कहते हैं। अतएव बहुत सम्भव है कि नाभादास का जन्म किसी वानरवंशी क्षत्रिय परिवार में हुआ हो, जिसके पर्याय के रूप में प्रियादासने हनुमानवंशी शब्द का प्रयोग किया है।

नाभादास जन्मांध थे। बचपन में इनके पिता का देहावसान हो गया था। जब ये पाँच वर्ष के थे तब देश में घोर दुर्भिक्ष पड़ा। इनकी माता से इनका भरण-पोषण न हुआ और वह इन्हें वन में छोड़ आई। संयोग से कील्हजी और अग्रदासजी घूमते-घामते उधर आ निकले। इनको वहाँ पड़ा देखकर उनके मनमें दया आ गई और उठाकर अपने निवास-स्थान गलता में ले गये। इन संतों की कृपा से नाभादास की आँखें भी ठीक हो गईं। तभी से ये उनके शिष्य बन गये और उनके साथ रहने लगे।[१२७]

---

१२५. श्रीवेंकटेश्वर यन्त्रालय से प्रकाशित संस्करण, पृ० १६।
१२६. ध्रुवदास-कृत भक्तनामावली, पृ० ८९।
१२७. प्रियादास-कृत भक्तमाल की टीका (वें० प्रे०), पृ० १६।

हिन्दी साहित्यके विद्वानों ने नाभादास का रचना-काल सं० १६४२ – १७०० निश्चित किया है, जो उचित प्रतीत होता है। इस विषय में जयपुर के स्वर्गीय पुरोहित हरिनारायणजी ने पर्याप्त गवेषणा की थी। उन्होंने इनका रचना-काल सं० १६४०-९० स्थिर किया है। परन्तु यह कोई बहुत बड़ा अन्तर नहीं है।[१२८]

नाभादास उत्तम कोटि के कवि और भक्त थे। इनके रचे चार ग्रंथों का पता है—भक्तमाल, रामचरित्र के पद और दो अष्टयाम, एक ब्रजभाषा गद्य में और दूसरा पद्य में।

इन ग्रन्थोंमें 'भक्तमाल' इनकी सर्वश्रेष्ठ रचना है। यह लोकप्रिय भी बहुत है। इसका निर्माण इन्होंने अपने गुरु अग्रदास की आज्ञा से किया था:—

गुरु अग्रदेव आज्ञा दई, भक्तनि को यश गाइ।
भवसागर के तरन को, नाहिन और उपाइ॥[१२९]

इसमें ३१६ छन्द हैं, जिनमें लगभग २०० वैष्णव भक्तों की महिमा गाई गई है। ग्रंथ इतिहास और साहित्य, दोनों दृष्टियों से परम उपयोगी और प्रशंसनीय है। इस पर छै टीकाएँ भी हुई हैं,[१३०] जिनमें प्रियादास की 'भक्ति-रसबोधिनी' टीका बहुत प्रसिद्ध है।

भक्तमाल की भाषा ब्रजभाषा है, जो बहुत प्रौढ़, परिमार्जित एवं ललित है। इसकी रचना-पद्धति सरस और चित्ताकर्षक है। वैष्णव भक्तों के विभिन्न शब्द-चित्र जो इसमें अंकित किये गये हैं वे बहुत सुन्दर तथा स्वाभाविक हैं और उनमें किसी प्रकार की अवास्तविकता एवं अतिरंजना नहीं आ पाई है।

(६) जल्ह—इनका विशेष वृत्त ज्ञात नहीं है। इनके 'बुद्धिरासौ' ग्रंथ की एक हस्तलिखित प्रति का पता हाल ही में लगा है, जो सं० १७०४ की

---

१२८. हितैषी; दिसम्बर-जनवरी, सन् १९४१-४२, पृ० १४१।

१२९. भक्तमाल; छंद ४।

१३०. भक्तिरसबोधिनी टीका (प्रियादास), भक्तकल्पद्रुम टीका (प्रतापसिंह), भक्तविनोद (कवि मियाँसिंह), भक्तिसुधास्वाद तिलक (श्री सीतारामशरण भगवानदास रूपकला), रामरसिकावली (रघुराजसिंह) और भक्तदाम-गुणचित्रनी टीका (बालकराम)।

लिखी हुई है।[१३१] इसकी भाषा-रचना से ये जैसलमेर अथवा बीकानेर की तरफ के कोई जैन कवि मालूम पड़ते हैं। जल्ह नाम के एक कवि जैनियों में हुए भी हैं,[१३२] जिनके रचे हुए कुछ फुटकर पद्य मिलते हैं। उनका रचना-काल सं० १६२५ है। उनकी भाषा-शैली और बुद्धिरासौ के कर्त्ता जल्ह की भाषा-शैली में पर्याप्त सादृश्य है। इसलिये अनुमान होता है कि ये दोनों कवि एक ही हैं। यदि यह अनुमान ठीक हो तो जल्ह का रचना-काल सं० १६२५ के लगभग ठहरता है।

बुद्धिरासौ एक छोटा-सा प्रेमाख्यान है। इसकी कथावस्तु काल्पनिक है।[१३३] इसमें चम्पावती नगरी के राजकुमार और जलधितरंगिनी नामक एक रूपवती स्त्री की प्रेम-कथा का वर्णन है। राजकुमार अपनी राजधानी से आकर कुछ दिनों के लिये जलधितरंगिनी के साथ समुद्र के पास किसी निर्जन स्थान में ठहरता है और जिस समय वहाँ से रवाना होता है, जलधितरंगिनी से एक माह के भीतर वापस लौटने की प्रतिज्ञा करता है। अवधि के ऊपर कई मास बीत जाने पर भी जब राजकुमार नहीं आता है तब विरहोत्तापित जलधितरंगिनी दुनिया से विरक्त हो जाती है और अपने बहुमूल्य वस्त्राभूषणों को अपने शरीर से उतार फेंकती है। इस पर उसकी माँ उसके सामने दुनिया के विलास-वैभव तथा देवदुर्लभ मानव देह का बखान करने लगती है। इतने में राजकुमार भी आ पहुँचता है। दोनों का पुनर्मिलन हो जाता है और फिर वे हास-विलासपूर्वक अपना समय व्यतीत करते हैं।

बुद्धिरासौ की छंद-संख्या १४० है। इसका कथानक मार्मिक है। परन्तु काव्य-कला की अपेक्षा भाषाशास्त्र की दृष्टि से इस ग्रंथ का महत्त्व विशेष है। अनेक कारणों से मीराँ, सूर इत्यादि हमारे ब्रजभाषा के कवियों की रचनाओं का मूल रूप विकृत हो गया है और उनका आदि स्वरूप कैसा था यह जानना आज हमारे लिये दुःसाध्य है। परन्तु बुद्धिरासौ इस दोष से मुक्त है। उसमें उसका प्रकृत रूप बहुत कुछ सुरक्षित है।

---

१३१. राजस्थान में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज (प्रथम भाग); पृ० ७६।

१३२. अगरचन्द नाहटा और भँवरलाल नाहटा; ऐतिहासिक जैन-काव्य-संग्रह, पृ० १३८।

१३३. इति प्रतिवाद सुदेस रस, वर्ण कियौ कवि जल्ह ॥
चंपावत्ति नयरी सुथल, कही मनोहर गल्ह ॥
—हस्तलिखित प्रति, पद्य १४०

बुद्धरासौ की भाषा-रचना प्रांजल, प्रबुद्ध एवं प्रवाहपूर्ण है। उस पर हलका-सा रंग अपभ्रंश का भी लगा हुआ है। उदाहरण—

चंदमुखी मुख चंद कीयं। चखि कज्जल अंबर हार लीयं ॥
घन घंटनि छिद्र नितंब भरै। मयमत्त सुधा मनमछ्छ करै ॥
अति अधि तंबोल अमोड मुखं। अहि लोक सु अछ्छर कौन सुखं॥
कुच ढंकति कंचु कसी कसियं। जुग बीर जुरे मनमछ्छ भये ॥
घन जंघनि कंचन रंभ बनी। पहिरंति पटंबर अंग तनी ॥
चष भ्रू अति बंक निसंग्य खरै। विष बान कटाछिन प्रान हरै ॥
कर कंकन अंकन जायि नहीं। भ्रिहि जानु गुहे भुजपाल बही ॥
वर हंस विराजत हंस घनी। तप छंडि जोगेन्द्र मद सुनी ॥
चरनावलि चेम बिसाल अंगं। करजो दल जानि कसुंभ रंगे ॥
बनि ताडिय अंगनि आयि खरी। रथ खंचि रह्यो रवि एक घरी ॥[१३४]

(७) पृथ्वीराज—ये बीकानेर-नरेश राव कल्याणमल के बेटे और राव जैतसी के पोते थे। इनका जन्म सं० १६०६ में हुआ था। इतिहास-प्रसिद्ध महाराजा रायसिंह इनके बड़े भाई थे। कर्नल टॉड ने इनके विषय मे लिखा है कि 'पृथ्वीराज अपने युग के वीर सामंतों में एक श्रेष्ठ वीर थे और पश्चिमीय ट्रूबेडार राजकुमारों की भाँति अपनी ओजस्विनी कविता के द्वारा किसी भी कार्य का पक्ष उन्नत कर सकते थे तथा स्वयं तलवार लेकर लड़ भी सकते थे। इतना ही नहीं, राजपूताने के कवि-समुदाय ने एक स्वर से गुणज्ञता का सेहरा भी इन्हीं वीर राठौड़ के सिर बाँधा था।[१३५]

ये मुगल सम्राट् अकबर के बड़े कृपापात्र थे और प्रायः शाही दरबार में रहा करते थे। मुता नैणसी की ख्यात से पता लगता है कि बादशाह ने इन्हें गागरौन का किला दिया था, जो बहुत समय तक इनकी जागीर में रहा।[१३६]

१३४. हस्तलिखित प्रति, पृ० ४०४-४०५।

१३५. कर्नल टाड; दि एनल्स ऍड ऐंटिक्विटीज आव राजस्थान (प्रथम संस्करण), पृ० ३४३।

१३६. "तठा पछे वळे एक वारए पृथ्वीराज कल्याणमलोत बीकानेरीया पातसाहजी गढ़ गागरुण दी थी। तद पिण वेढ हुई। तिकारा पृथ्वीराजजी जीती। खीची हारिया।" (उदयपुर के सरस्वती भंडार की हस्तलिखित प्रति, पत्र सं० ६७)।

इन्होंने दो विवाह किये थे। इनकी पहली स्त्री का नाम लालाँदे था। यह जैसलमेर के रावल हरराज की पुत्री थी। इसका देहान्त हो जाने पर इन्होंने इसी की बहिन चाँपादे से अपना दूसरा विवाह किया। इन दो स्त्रियों से पृथ्वीराज के कितनी सन्तति हुई इसका ठीक-ठीक पता इतिहास-ग्रंथों से नहीं लगता। परन्तु इनके सन्तति हुई थी यह निश्चित है। इनके वंशज पृथ्वीराजोत बीका कहलाते हैं, जो बीकानेर राज्यान्तर्गत दद्रेवाके पट्टेदार हैं।[१३७] पृथ्वीराजका देहावसान सं० १६५७ में हुआ था। उस समय इनकी आयु ५१ वर्ष की थी।

उच्च कोटि के योद्धा एवं कवि होने के अतिरिक्त पृथ्वीराज भगवद्भक्त भी पूरे थे। भक्तवर नाभादास ने भी अपने 'भक्तमाल' में इनका बखान किया है।[१३८] ये पिंगल और डिंगल, दोनों में कविता करते थे। इनका लिखा 'वेलि क्रिसन रुकमणी री' डिंगल भाषा का एक अद्वितीय ग्रंथ है। मिश्रबन्धु-विनोद में इनके 'प्रेमप्रदीपिका' नामक एक व्रजभाषा के ग्रंथ का उल्लेख भी हुआ है, जिसमें से थोड़ा-सा अंश भी उद्धृत किया गया है।[१३९] परन्तु यह पृथ्वीराज की प्रामाणिक रचना नहीं है। राजस्थान के इतिहास-ग्रंथों में कहीं इसका नाम दृष्टिगत नहीं होता, न बीकानेर के अनूप संस्कृत पुस्तकालय में यह ग्रंथ पाया जाता है, जहाँ पृथ्वीराज के सभी ग्रंथ सुरक्षित हैं। ऐसा ज्ञात होता है कि मिश्रबन्धुओं ने भ्रमवश किसी दूसरे कवि की रचना को पृथ्वीराज की मान लिया है।

पृथ्वीराज ने व्रजभाषा में केवल फुटकल कविता लिखी है, जिसमें वीर रस का प्राधान्य है। यह कविता अपने युग की अनुभूति को प्रत्यक्ष करती है और इसमें बहुत बल एवं तेज पाया जाता है, जो व्रजभाषा के बहुत कम कवियों की रचनाओं में देखने को मिलता है।

(८) परशुरामदेव—ये निम्बार्क-सम्प्रदाय के आचार्य श्रीहरिव्यास देवजी के शिष्य थे। इनका 'विप्रमती' नामक एक ग्रंथ मिला है, जो सं० १६७७ में लिखा गया था।[१४०] इससे इनका रचना-काल सं० १६७७ के आसपास निश्चित होता है। ये जाति के आदिगौड़ ब्राह्मण थे। इनके जन्मस्थान का ठीक-ठीक

१३७. ओझा; बीकानेर राज्य का इतिहास प्रथम खण्ड, पृ० १६१।

१३८. छप्पय २४०।

१३९. भाग पहला (चतुर्थ संस्करण), पृ० २८३।

१४०. उदयपुरस्थ श्रीस्वामी प्रयागदासजी महाराजकी स्थलकी 'परशुरामसागर' की हस्तलिखित प्रति, पृ० १७४।

पता नहीं है। निम्बार्क-सम्प्रदाय के लोग जयपुर राज्य के खंडेला ग्राम को इनकी जन्मभूमि बतलाते है। परन्तु नाभादास-कृत भक्तमाल में इनका जो वर्णन मिलता है उससे कुछ ऐसी ध्वनि निकलती है कि ये जंगलदेश अर्थात् बीकानेर के रहनेवाले थे :—

ज्यों चन्दन को पवन, नींब पुनि चन्दन करई।
बहुत काल तम निबिड़ उदय दीपक ज्यौं हरई॥
श्रीभट पुनि हरिव्यास सन्त मारग अनुसरई।
कथा कीरतन नेम रसनि हरि गुण उच्चरई॥
गोबिंद भक्ति गद रोग गति तिलकदांम सद बैद हद।
जंगली देश के लोग, सब परसुरांम किय पारषद॥[141]

परशुरामदेवजी बहुत ज्ञानी और प्रभावशाली महात्मा थे। हरिव्यास देवजी के और भी कई शिष्य थे, जिनमें से कुछ आयु में परशुरामजी से बड़े भी थे। पर उनमें प्रतिष्ठा इनकी सबसे अधिक थी और छोटे-बड़े सभी इनके चरणों में मस्तक नमाते थे :—

आचारज हरिव्यास के, शिष्य सपूत अनंत।
तिनमें मुखिया परसुरॉ, गादीवंत महंत॥
कंठमाल हरिव्यास की, पुनि सर्वेश्वर इस।
सो राजत श्रीमत्प्रभू, परसुराम के सीस॥
सिष्य सकल हरिव्यासके, और प्रसिष्य अनंत।
परसुराम पद-पादुका, सब ही आन नमंत॥[142]

—हरिव्यासचर्चीसी

परशुरामदेव-विरचित 'परशुरामसागर' अभी तक अप्रकाशित है। इसकी एक हस्तलिखित प्रति उदयपुरस्थ श्री स्वामी प्रयागदासजी महाराज के स्थल में विद्यमान है। यह सं० १८३७ में लिपिबद्ध हुई थी। इसमें इनके निम्नलिखित २२ ग्रंथ संगृहीत हैं :—

(१) साखी का जोड़ा, (२) छन्द का जोड़ा, (३) सवैया दस अवतार का, (४) रघुनाथचरित्र, (५) श्रीकृष्णचरित्र, (६) सिंगार सुदामाचरित्र, (७) द्रोपदी का जोड़ा, (८) छप्पय गज-ग्राहका, (९) प्रहलादचरित्र, (१०) अमरबोध लीला, (११) नामनिधि लीला, (१२) साँच निषेध लीला, (१३) नाथ लीला, (१४) निज रूप लीला, (१५) श्रीहरि लीला, (१६) श्रीनिर्वाण लीला, (१७) समझणी

१४१. छप्पय नं० २३७।
१४२. स्वामी प्रयागदासजी के स्थलकी हस्तलिखित प्रति, पत्र ३।

लीला, (१८) तिथि लीला, (१९) बार लीला, (२०) नक्षत्र लीला, (२१) श्रीबावनी लीला, (२२) विप्रमती और (२३) पद।

परशुरामदेवजी की भाषा साहित्यिक ब्रजभाषा नहीं है। वह सर्वसाधारण की बोलचाल की भाषा है, जिसमें राजस्थानी का भी पर्याप्त पुट लगा हुआ है। ये सगुणोपासक भक्त थे। अतएव इन्होंने सगुण भक्ति पर विशेष लिखा है। परन्तु इनकी निर्गुण भक्ति सम्बन्धिनी कविताएँ भी मात्रा में कम नहीं हैं। शैली इनकी प्रथाबद्ध है। भावों में भी नवीनता बहुत थोड़ी है। अधिकतर कबीर, सूर इत्यादि के भावों को अपनाया गया है। परन्तु कहीं-कहीं मौलिक सूक्तियाँ भी हैं, जो बड़ी सरस और प्राणवान हैं।

(९) **तत्त्ववेत्ता**—ये भी निम्बार्क-सम्प्रदाय के आचार्यों में से थे और श्री परशुरामदेवजी के शिष्य थे। इनका आविर्भाव-काल सं० १६८० के लगभग है। इनके वास्तविक नाम का पता नहीं है। 'तत्त्ववेत्ता' इनका उपनाम था, जो तत्त्वज्ञान सम्बन्धी इनके गहन ज्ञान को देखकर गुरु ने रख दिया था। ये जोधपुर राज्य के जैतारण गाँव में पैदा हुए थे और जाति के गुर्जरगौड़ ब्राह्मण थे। इनकी गद्दी अभी तक जैतारण में चल रही है। वहीं इनका समाधि-स्थान भी है।

ये ब्रजभाषा के अच्छे कवि थे। इनकी 'वाणी' जैतारण के गोपाल मंदिर में विद्यमान है। उसमें ज्ञान-उपदेश की बातों का प्राधान्य है। फिर भी रचना मनोहारिणी है। इनका 'कवित्त' नामक एक और ग्रंथ उपलब्ध हुआ है।[१४३] इसमें ९८ कवित्त (छप्पय) हैं, जिनमें राम, कृष्ण, नारद आदि भारत के प्राचीन महापुरुषों की महिमा गायी गई है। ग्रंथ नाभादास-कृत भक्तमाल की शैली पर लिखा गया है। रचना सुन्दर है। भाषा इस ढंग की है:—

उग्रसेन बलहीन कृष्णजी राजा कीनौ।
राजपाट राज्यंद छत्र सिंघासन दीनौ॥
स्वामी सेवक होय चत्रुभुज चौंर ढलावै।
पीतांबर स्यौं छाँड़ि पाय पनही पहरावै॥
दालिद हरन दयाल विपुल वैभौ बिस्तारा।
करुणासागर कृष्ण किसोर कीनौ स कुँवारा॥
ततवेता तिहुँ लोक में भगतवछल जस गाइयै।
मनसा वाचा कर्मणा मन बंछित फल पाइयै॥[१४४]

---

१४३. राजस्थान में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज, प्रथम भाग, पृ० ३९।
१४४. हस्तलिखित प्रति, पत्र ४०।

द्वितीय अध्याय का परिशिष्ट

(१०) देवा, उदयपुर। नि० का० सं० १६३२; र० फुटकर; वि० ये कूट-काव्य लिखते थे।

(११) लालाँदे, बीकानेर। नि० का० सं० १६४०; र० फुटकर; वि० राठौड़ पृथ्वीराज की पहली स्त्री।

(१२) चाँपादे, बीकानेर, नि० का० सं० १६५०; र० फुटकर; वि०, राठौड़ पृथ्वीराज की दूसरी स्त्री।

(१३) राइधबीजी, सिरोही। नि० का० सं० १६५० के लगभग; र० फुटकर; वि० यह सिरोही-नरेश की राणी थी।

(१४) मानसिंह, जयपुर। नि० का० सं० १६४६-७५; र० फुटकर; वि० ये जयपुर के महाराजा थे।

(१५) हरनाथ, जयपुर। नि० का० सं० १६६०; र० फुटकर; वि० महाराजा मानसिंह के समकालीन।

(१६) लीलाधर, जोधपुर। नि० का० सं० १६७७; र० फुटकर; वि० महाराजा गजसिंह के आश्रित।

(१७) चतुर्भुजसहाय, उदयपुर। नि० का० सं० १६७७; र० फुटकर, वि० ये जाति के राव थे।

(१८) परसाद, उदयपुर। नि० का० सं० १६८०; र० फुटकर; वि० महाराणा कर्णसिंह के आश्रित।

(१९) जसवंतसिंह, प्रतापगढ़। नि० का०सं० १६८५-९०; र० फुटकर; वि० ये प्रतापगढ़ के राजा थे।

तृतीय अध्याय

मध्यकाल (सं० १७००-१९००)

लगभग सं० १७०० से ब्रजभाषा साहित्य का मध्यकाल आरंभ होता है, जो सं० १९०० तक चलता है। आदि काल में भक्ति-काव्य की प्रधानता थी, पर इस काल में भक्ति-काव्यके साथ-साथ रीति-काव्य और चरित्र-काव्य का भी निर्माण हुआ। विशेषकर रीति-काव्य तो इतना अधिक रचा गया कि उसे देखकर कुछ विद्वानों ने इस काल का नाम ही 'रीति काल' रख दिया है। यह नाम उपयुक्त है और सार्थक भी, क्योंकि इससे इस काल की प्रमुख काव्य धारा का बहुत कुछ अनुमान हो जाता है।

रीति के मुख्य अंग तीन हैं—अलंकार, रस और ध्वनि। ब्रजभाषा का अलंकार-विषय अधिकतर जयदेव के 'चन्द्रालोक' और अप्पय दीक्षित के 'कुवलयानंद' के आधार पर निर्मित हुआ है। इसी प्रकार रस तथा ध्वनि-विषयक विवेचन के लिये 'काव्यप्रकाश', 'साहित्यदर्पण', 'रसमंजरी' इत्यादि संस्कृत-ग्रंथों से सहायता ली गई है। अतः विषय-मौलिकता की दृष्टि से ब्रजभाषा का यह रीति-साहित्य विशेष महत्व का नहीं है। परन्तु विषय-प्रतिपादन की दृष्टि से इसका भारी महत्व है, क्योंकि मूल विषय-सामग्री दूसरों की होते हुए भी ब्रजभाषा के कवियों ने उसे ऐसी उत्तमता से सजाया है कि वह सर्वथा नवीन-सी प्रतीत होती है। इतना ही नहीं, नायिका-भेद-वर्णन में तो ये कवि संस्कृत-कवियों से भी कुछ आगे निकल गये हैं।

राजस्थान में लिखे गये इस काल के रीति-काव्यों के नाम नीचे दिये जाते हैं :—

लेखक	ग्रंथ	रचना-काल
१. जान	रसकोश	सं० १६७६
	कविवल्लभ	सं० १७०४
	रसमंजरी	सं० १७०९
	रसतरंगिनी	सं० १७११
२. केहरी	रसिकविलास	सं० १७१०
३. जगन्नाथ	रतिभूषण	सं० १७१४
४. सूरदत्त	रसिकहुलास	सं० १७१६

लेखक	ग्रंथ	रचना-काल
५. जसवंतसिंह	भाषाभूषण	सं० १७१७
६. उदयचंद	अनूपरसाल	सं० १७२८
७. नंदराम	अलसमेदनी	सं० १७२८*
८. मान	संयोगद्वात्रिंशिका	सं० १७३१
९. सतीदास व्यास	रसिक-आराम	सं० १७३३
१०. रूपजी	रसरूप	सं० १७३९
११. कुलपति मिश्र	रस-रहस्य	सं० १७४३
१२. वृन्द	भावपंचाशिका	सं० १७४३
	श्रृंगारशिक्षा	सं० १७४८
१३. अभयराम	अनूपश्रृंगार	सं० १७५४
१४. लोकनाथ चौबे	रसतरंग	सं० १७६०
१५. सूरत मिश्र	अलंकारमाला	सं० १७६६
	रसरत्नमाला	सं० १७६८
	काव्यसिद्धान्त	सं० १७८५
१६. तिलोकराम	रसप्रकास	सं० १७६७
१७. अजीतसिंह	भावविरही	सं० १७७०*
१८. बुधसिंह	नेहतरंग	सं० १७८४
१९. श्री कृष्णभट्ट	श्रृंगाररसमाधुरी	सं० १७६९
	अलंकार-कलानिधि	सं० १७९१
२०. सोमनाथ	रसपीयूषनिधि	सं० १७९४
२१. दलपतिराय-बंसीधर	अलंकार-रत्नाकर	सं० १७९८
२२. पीथल	जुगल-विलास	सं० १८०० (?)
२३. शिवसहायदास	लोकोक्तिरस-कौमुदी	सं० १८०९
२४. दौलतराय	रसप्रबोध	सं० १८२०
२५. हरिचरणदास	कविवल्लभ	सं० १८३९
२६. रामकर्ण	अलंकार-समुच्चय	सं० १८५५
२७. उत्तमचंद भंडारी	अलंकार-आशय	सं० १८६०
२८. गणपति भारती	नवरस	सं० १८६०

* संवत् अनुमानित है।

लेखक	ग्रंथ	रचना-काल
	अलंकारसुधानिधि	—
२९. उमेदराम	वाणी-भूषण	सं० १८६१
३०. पद्माकर	जगतविनोद	सं० १८६७
	पद्माभरण	सं० १७६७
३१. कृष्णलाल	कृष्णविनोद	सं० १८७२
	रसभूषण	सं० १८७४
३२. गणेश	रसचन्द्रोदय	सं० १८७५
३३. मंडन भट्ट	रसरत्नाकर नवरसरत्नाकर रस-समुद्र	सं० १८७७
३४. हरि	रसमंजरी	सं० १८८३
३५. ब्रजेन्द्र	रसानंद	सं० १८९०
३६. उदयचंद	रसशृंगार	सं० १८९०
	रसनिवास	सं० १८९२
३७. चतुरदास	चतुर-रसाल	सं० १८९०
३८. चतुर्भुज मिश्र	अलंकार-आभा	सं० १८९९

इस काल के चरित्र-काव्यों में पृथ्वीराज रासौ मुख्य है, जिसका विस्तृत विवेचन गत अध्याय में किया जा चुका है। इसके अनन्तर जितने भी चरित्र-काव्य यहाँ रचे गये हैं, प्रायः उन सभी पर पृथ्वीराज रासौ की रचना-शैली का न्यूनाधिक प्रभाव पाया जाता है। कुछ में तो थोड़े-बहुत अंतर के साथ छंद के छंद पृथ्वीराज रासौ से उठाकर रख दिये गये हैं। विशेषकर सेना, युद्धादि के वर्णन में ऐसा बहुत हुआ है। पृथ्वीराज रासौ व इस काल के अन्य कुछ बहुत प्रसिद्ध चरित्र-काव्यों के नाम ये हैं—

रचयिता	ग्रंथ	रचना-काल
१. चंद	पृथ्वीराज रासौ	सं० १७००*
२. हरिदास	अमरबत्तीसी	,, १७०१
३. दलपति मिश्र	जसवंत-उद्योत	,, १७०५ (?)

* ये संवत् अनुमानित हैं।

रचयिता	ग्रंथ	रचना-काल
४. राम कवि	जयसिंहचरित्र	सं० १७१०*
५. डूँगरसी	शत्रुसाल रासौ	सं० १७१०*
६. जान	कायमरासौ	सं० १७११
७. कुँभकर्ण	रतन रासौ	सं० १७३२
८. मानजी	राजविलास	सं० १७३४
९. दयालदास	राणा रासौ	सं० १७३७-५५
१०. हरिनाभ	केसरीसिंह-समर	सं० १७५४
११. वृन्द	वचनिका	सं० १७६२
	सत्यस्वरूप	सं० १७६४
१२. जोधराज	हमीर रासौ	सं० १७८५
१३. नंदराम	जगविलास	सं० १८०२
१४. सूदन	सुजानचरित्र	सं० १८२५*

यहाँ पर यह उल्लेख कर देना भी आवश्यक जान पड़ता है कि उपरोक्त साहित्य, रीति-काव्य और चरित्र-काव्य, इस काल में रचा अवश्य गया है और यह इस काल की साहित्यिक प्रवृत्तियों का द्योतक भी है, पर यह इस युग की अनुभूति को प्रत्यक्ष करनेवाला साहित्य नहीं है। क्योंकि यह जनसाधारण का साहित्य नहीं है, न यह जनसाधारण की दृष्टि से लिखा गया है। यह केवल शृंगारी कवियों तथा उनके आश्रयदाता राजा-महाराजाओं की भाव-भावनाओं को व्यक्त करता है, जिनके मनोरंजनार्थ इसकी रचना हुई है। रीति-काव्यों की सृष्टि उनकी मानसिक काम-वासना की तृप्ति के लिये की गई है और चरित्र-काव्यों की उनकी यश-लिप्सा की शान्ति के लिये और इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिये रीति-काव्यों में बहुधा राधा-कृष्ण की भक्ति को बहाना बनाया गया है और चरित्रकाव्यों में इतिहास को। परन्तु दोनों के मूल में मनोवृत्ति वही एक काम कर रही है। और वह है राजा-महाराजाओं की संतुष्टि।

आगे इस काल के कवियों का विवरण दिया जाता है, जिनमें सर्वप्रथम मुसलमान कवि जान सामने आते हैं।

(२०) जान कवि—जयपुर राज्य के सुप्रसिद्ध करद संस्थान सीकर के इलाके में परगना फतहपुर है। वहाँ वर्तमान शेखावत राजवंश से पहले कायम-

* ये संवत् अनुमानित हैं।

खानी नवाबों का शासन था। कायमखानी वंश का मूल पुरुष चौहाण करमसी था, जिसको फीरोजशाह तुगलक के पदाधिकारी और हिसार के सेनापति सैयद नासिर ने सं० १४४० में मुसलमान बनाया और उसका नाम बदलकर कायमखाँ रखा। वही कायमखाँ कायमखानी वंश का मूल पुरुष हुआ और उसके वंशधर कायमखानी (क्यामखाँनी) कहलाने लगे।[1]

सैयद नासिर की मृत्यु के उपरान्त कायमखाँ उसकी जगह नियुक्त हुआ और हिसार उसको जागीर में मिला। कायमखाँ बड़ा वीर और महत्वाकांक्षी पुरुष था। उसने अपना प्रभाव इतना बढ़ा लिया कि बादशाह खिजरखाँ उससे डरने लगा और भयभीत होकर उसने उसे दिल्ली के किले पर से जमुना में गिरवा दिया और उसके पुत्र मुहम्मदखाँ तथा ताजखाँ को हिसार से निकाल बाहर किया। दोनों भाई कुछ वर्षों तक जैसलमेर और नागौर में रहे। बाद में वापस हिसार पहुँच गये और दोनों के लिए पृथक्-पृथक् दो रियासतें—झूँझणू और फतहपुर—कायम हुई। मुहम्मदखाँ के पुत्र नवाब शमसखाँ ने झूँझणू बसाया और ताजखाँ के पुत्र नवाब फतहखाँ ने फतहपुर।

फतहखाँ फतहपुर का पहला नवाब था। इससे आठवीं पीढ़ी में न्यामतखाँ हुए जो कविता में अपना नाम जान लिखा करते थे। वंश-वृक्ष इस प्रकार है:—

फतहखाँ
|
जलालखाँ
|
दौलतखाँ
|
नाहरखाँ
|
फदनखाँ
|
ताजखाँ
|
अलफखाँ
|
न्यामतखाँ (जान कवि)

जान कवि के जन्म और मृत्यु संवत् का ठीक-ठीक पता नहीं है। परन्तु अपने ग्रंथों में इन्होंने उनका लेखन-समय दिया है, जिससे इनका रचना-काल सं० १६७१–१७२१ निश्चित होता है।

ये संस्कृत, अरबी, फारसी, पिंगल आदि कई भाषाओं के अच्छे जानकार और आशु कवि थे। इन्होंने कुल ७५ ग्रंथ बनाये, जिनके नाम ये हैं:—

---

१. मुहणोत नैणसी की ख्यात, पृ० १९६।

(१) मदनविनोद, (२) ज्ञानदीप, (३) रसमंजरी, (४) अलफखाँ की पैड़ी, (५) कायमरासो, (६) पुहुपवरखा, (७) कंवलावती कथा, (८) वरखा ग्रंथ, (९) छबिसागर, (१०) कलावती कथा, (११) छीता की कथा, (१२) रूपमंजरी, (१३) मोहनी, (१४) चन्द्रसेन राजा सीलनिधान की कथा, (१५) अरदेसर पातिसाह की कथा, (१६) कामरानी या पीतमदास की कथा, (१७) पाहन परिच्छा, (१८) शृंगारशतक, (१९) भावशतक, (२०) विरहशतक, (२१) बलूकिया बिरही की कथा, (२२) तमीम अनसारी की कथा, (२३) कथा कलंदर की, (२४) कथा निर्मल की, (२५) मतवन्ती की कथा, (२६) शीलवन्ती की कथा, (२७) कुलवन्ती की कथा, (२८) खिजरखाँ साहिजादा व देवल देवी, (२९) कनकावती की कथा, (३०) कौतूहली की कथा, (३१) कथा सुभटराय की, (३२) बुधिसागर, (३३) कामलता कथा, (३४) चेतननामा, (३५) सिख ग्रंथ, (३६) सुधासिख ग्रंथ, (३७) बुधिदायक, (३८) बुधिदीप, (३९) घूँघटनामा, (४०) दरसनामा, (४१) अलकनामा, (४२) दरसननामा, (४३) बारहमासा, (४४) सतनामा, (४५) बर्ननामा, (४६) बाँदीनामा, (४७) याजनामा, (४८) कबूतरनामा, (४९) गूढ़ ग्रंथ, (५०) देसावली, (५१) रसकोष, (५२) उत्तम सब्द, (५३) सिख्यासागर, (५४) वैद्यक सिख सतपद, (५५) शृंगारतिलक, (५६) प्रेमसागर, (५७) वियोगसागर, (५८) षट्ऋतु पवंगम छंद, (५९) रसतरंगिनी (६०) रतनमंजरी, (६१) नल-दमयंती, (६२) पैमुनामा, (६३) मानविनोद, (६४) बिरही को मनोरथ, (६५) जफरनामा, (६६) पदनामा, (६७) भावकल्लोल, (६८) कंदर्पकल्लोल, (६९) नाममाला अनेकार्थी, (७०) रतनावती, (७१) सुधासागर, (७२) श्वाससंग्रह, (७३) लैला-मजनूं, (७४) कविवल्लभ और (७५) वैदकमति।

जैसा कि उपर्युक्त सूची से स्पष्ट है, जान कवि ने प्रेमाख्यान अधिक लिखे हैं। अतएव इनकी रचना में शृंगार रस का प्राधान्य है। बहुत ऊँची काव्य-प्रतिभा इनमें दिखाई नहीं देती। परन्तु वर्णन की स्वाभाविकता तथा सजीवता और कथा-प्रवाह की धारावाहिकता द्वारा पाठक का ध्यान इधर-उधर न भटकने देने की जो कला-क्षमता एक कुशल कहानीकार में होनी चाहिये वह इनमें पूरी-पूरी विद्यमान थी और इस दृष्टि से इनके प्रेमाख्यानों की जितनी भी प्रशंसा की जाय वह थोड़ी है।

इसके अतिरिक्त इनकी भाषा भी देखने योग्य है। वह व्यवस्थित है और विषयानुकूल भी। सरल तो वह इतनी है कि उसे समझने में किसी प्रकार की कठिनाई नहीं होती। साधारण पढ़ा-लिखा पाठक भी उसे आसानी से समझ लेता है। उदाहरण—

पद्मिनि कहै कहा भयौ भेद। नैन सजल तन आवत स्वेद॥
रतन कह्यौ मो सीस पिरात। प्रगट न करत पैमु की बात॥
पद्मनि कह्यौ सुनहु रतनावति। जौलौं मेरी पीरि न पावति॥
तौलौं तेरी पीरि न जाइ। मेरी पीरि चढ़ी सिर आइ॥
रतन कह्यौ सुनि पद्मनि रानी। हौं तो मोहन हाथ बिकानी॥
तैं मुहि दीनौ कुंवर दिखाइ। किधौं दई तैं चेटक लाइ॥
पद्मनि को भाये ये बैन। कहाँ चलहु देखहु भरि नैन॥
रतन कह्यौ अछिरा सब जागै। चल्यौ न जै देखत इन आगै॥
अरध निसा अछिरा गई सोइ। पद्मनि रतन चली ये दोइ॥
आगै बैठो हो यहि मोहन। लग्यौ दूरहू तैं अति सोहन॥

(२१) **जसवंतसिंह**—जोधपुर नगर के बसानेवाले राठौर राव जोधाजी से दसवीं पीढ़ी में राजा गजसिंह हुए जिनके दो पुत्र थे—अमरसिंह और जसवंतसिंह। अमरसिंह को राजा गजसिंह ने देश निकाला दे दिया था।[२] इसलिये उनके बाद जसवंतसिंह जोधपुर के राज्यसिंहासन पर आरूढ़ हुए। इनका जन्म सं० १६८३ में हुआ था और राज्याभिषेक सं० १६९५ में। राजगद्दी पर बैठने के समय इनकी आयु केवल १२ वर्ष की थी। इसलिये मुगल सम्राट् शाहजहाँ ने इनके राज्य की देखभाल करने के लिए आसोप के ठाकुर राजसिंह कूँपावत को नियुक्त किया, क्योंकि जोधपुर राज्य उन दिनों मुगल साम्राज्य के अधीन था।

सं० १७१४ में मुगल सिंहासन को प्राप्त करने के लिये जब शाहजहाँ के पुत्रों में झगड़ा हुआ तब जसवंतसिंह ने दारा का पक्ष लिया था। इसलिए औरंगजेब इनसे बहुत कुढ़ता था। इनका बिगाड़ तो वह कुछ न सका, पर अपने राज्य से दूर रखने के लिये उसने इनको काबुल का गवर्नर बनाकर उधर भेज दिया। वहीं सं० १७३५ में इनका स्वर्गवास हुआ। इनकी मृत्यु का समाचार जब औरंगजेब के पास दिल्ली पहुँचा तब उसके आनन्द का पारावार न रहा और हर्ष से उछलकर उसने कहा—'दर्वाजए कुफ्र शिकस्त' अर्थात् आज धर्म-विरोध का दरवाजा टूट गया।

---

२. श्रीगजसिंघ नरिंद के, अगनित महल समाजु।
पटरानी रुकमावती, जिहि जनम्यौ जसराजु॥
सोनिगरी उर औतर्यौ, महाराउ अमरेसु।
आपु जीय गजसिंघ नृप, जा कहँ दयौ बिदेसु॥
—जसवंत-उद्योत, पद्य ५१४–५१५

महाराजा जसवंतसिंह बड़े वीर, देशाभिमानी और नीति-निपुण नरेश थे। ये हिंदूधर्म के बड़े पक्षपाती और उन्नायक थे। जब तक ये जीवित रहे, इन्होंने औरंगजेब को हिंदुओं पर जजिया नहीं लगाने दिया और बराबर उसका विरोध करते रहे। परन्तु इनके मरते ही उसने जजिया प्रचलित कर दिया[३] और हिन्दुओं को नाना प्रकार की यातनाएँ देने लगा।

महाराजा का साहित्यिक जीवन उनके राजनीतिक जीवन से किसी अंश में कम महत्त्वपूर्ण न था। ये जैसे वीर थे, वैसे कवि भी थे और कवियों आदि का बड़ा मान करते थे। एक बार लाहौर में उपस्थित १४ कवियों में से प्रत्येक को इन्होंने डेढ़-डेढ़ हजार रुपया एक ही दिन दान दिया था।[४] इनका मंत्री मुहणोत नैणसी इतिहास का भारी पंडित था। उसका रचा हुआ 'नैणसी री ख्यात' नामक ग्रंथ इतिहास की एक अमूल्य निधि है। इनके आश्रित दलपति कवि ने 'जसवंत-उद्योत' नामक एक ऐतिहासिक काव्य लिखा था, जिसकी एक हस्तलिखित प्रति बीकानेर के अनूप संस्कृत पुस्तकालय में है।

हिंदी साहित्य के इतिहास में जसवंतसिंह का एक विशिष्ट स्थान है, जिसका कारण इनका 'भाषाभूषण' ग्रंथ है। इसकी रचना संस्कृत साहित्य के सुप्रसिद्ध आचार्य जयदेव-कृत 'चन्द्रालोक' और अप्पय दीक्षित-कृत 'कुवलयानंद' की पद्धति और आधार पर हुई है। इसमें २१० दोहे हैं। आदि के ४२ दोहों में मंगलाचरण के बाद संक्षेप में नायक-नायिका-भेद तथा रसांगों का परिचय कराया गया है। तदंतर अलंकारों का वर्णन प्रारंभ होता है। 'भाषाभूषण' की सबसे बड़ी विशेषता है वर्णन की संक्षिप्तता। एक ही दोहे में लक्षण और उदाहरण दोनों दिये गये हैं इससे विषय बहुत सरल हो गया है और उसे कंठाग्र करने में विशेष कठिनाई नहीं होती। इसमें संदेह नहीं कि यह ग्रंथ उल्लिखित संस्कृत ग्रंथों की छाया पर रचा गया है, पर साथ ही इसमें मौलिकता का सर्वथा अभाव भी नहीं है, बल्कि कुछ अलंकार तो इसमें ऐसे हैं जिनके लक्षण-उदाहरण 'चन्द्रालोक' से बहुत भिन्न हैं। उदाहरण के लिए, असंगति अलंकार को लीजिए। 'चन्द्रालोक' में इसका लक्षण-उदाहरण इस प्रकार दिया गया है—

आख्याते भिन्नदेशत्वे कार्ये हेतोरसंगतिः।
त्वद्भक्तानां नमत्यङ्गं भङ्गमेति भवक्लमः।

---

३. वी० ए० स्मिथ; ऑक्सफार्ड हिस्ट्री ऑव इण्डिया, पृ० ४३८।
४. विश्वेश्वरनाथ रेउ; मारवाड़ का इतिहास, पृ० २४३।

परंतु 'भाषाभूषण' में इसकी व्याख्या इस भाँति की गई है—

औरे काज आरंभिए, औरे करिए दौर।
कोयल मदमाती भई, झूलत अंबा मौर॥

'भाषाभूषण' के सम्बन्ध में थोड़ा-सा मत-भेद है। डा० ग्रियर्सन का कहना है कि यह ग्रंथ जोधपुर के महाराजा जसवंतसिंह का नहीं, बल्कि तेरवाँ के बघेला राजा जसवंतसिंह का बनाया हुआ है।[5] परन्तु उनका यह कथन अनुचित है। बघेला राजा जसवंतसिंह का रचना-काल सं० १८५६ माना गया है।[6] लेकिन 'भाषाभूषण' की रचना इससे भी बहुत पहले हो चुकी थी, जैसा कि दलपतिराय और बंसीधर के 'अलंकार-रत्नाकर' से स्पष्ट है। 'अलंकार-रत्नाकर' भाषाभूषण की टीका है। यह सं० १७९८ में लिखी गई थी।

इसके अतिरिक्त 'भाषाभूषण' की हस्तलिखित प्रतियाँ भी अनेक मिलती हैं, जिनमें कुछ सं० १८५६ के पहले की भी हैं। इनकी पुष्पिकाओं में 'राठौर जसवंतसिंह' साफ लिखा हुआ है। उदाहरणस्वरूप सं० १७९५ की लिखी हुई एक प्रति की पुष्पिका के आवश्यक अंश को हम यहाँ उद्धृत करते हैं—

"इति श्रीमन्महाराजाधिराज राठौर वंसावतंस जसवंतसिंह विरचितायाँ भाषाभूषण ग्रंथ संपूर्णः।"[7]

कहने का अभिप्राय यह कि 'भाषाभूषण' ग्रंथ वास्तव में जोधपुर के महाराजा जसवंतसिंह ही का रचा हुआ है और डा० ग्रियर्सन ने इस सम्बन्ध में जो शंका उठाई है वह निर्मूल है।

भाषाभूषण के सिवाय महाराजा जसवंतसिंह के कुछ ग्रंथ और भी मिलते हैं, जिनके नाम ये हैं—

(१) सिद्धांतबोध, (२) सिद्धांतसार, (३) अनुभवप्रकाश, (४) अपरोक्ष सिद्धांत, (५) आनन्दविलास, (६) चन्द्रप्रबोध (नाटक) और (७) पूली-जसवंत संवाद।

परन्तु ये ग्रंथ वेदान्त विषयक हैं। इनका साहित्यिक मूल्य प्रायः नगण्य है।

---

५. दि मॉडर्न वर्नाक्युलर लिटरेचर आव हिंदुस्तान, पृ० १००।
६. मिश्रबंधु-विनोद, (द्वितीय भाग) पृ० ८४२।
७. स० मं० उ० की हस्तलिखित प्रति, पृ० ९।

इनके एक और ग्रंथ का पता हाल ही में लगा है। इसका नाम 'इच्छा विवेक' है।[८] यह भी वेदान्त का ग्रंथ है।

(२२) बिहारी—कविवर बिहारीलाल धौम्य गोत्री सोती घरबारी माथुर चौबे थे और ग्वालियर में पैदा हुए थे। 'बिहारी-बिहार' के अनुसार इनका जन्म सं० १६५२ में हुआ था[९]—

संवत जुग सर रस सहित, भूमि रीति जिन लीन्ह।
कातिक सुदि बुध अष्टमी, जन्म हमहि विधि दीन्ह॥

इनकी बाल्यावस्था बुंदेलखण्ड में व्यतीत हुई थी और तरुणावस्था में ये अपनी ससुराल मथुरा में रहे थे। ये आमेर के मिर्जा राजा जयसिंह (सं० १६६८-१७२४) के आश्रित थे। इनका देहान्त सं० १७२१ के लगभग हुआ था।[१०]

बिहारीलाल के पिता का नाम अज्ञात है। इनकी 'सतसई' में एक स्थान पर 'केशवराय' शब्द आया है—

जनम लियो द्विजराज कुल, सुबस बसे ब्रज आय।
मेरे हरो कलेस सब, केसव केसवराय॥

इसके आधार पर हिंदी के कुछ साहित्यान्वेषकों ने हिंदी के सुविख्यात ग्रंथ 'रामचन्द्रिका' के कर्ता महाकवि केशवदास को इनका पिता माना है। इसमें संदेह नहीं कि केशवदास ने अपनी कुछ रचनाओं में अपना नाम 'केशव दास' और 'केशवराय' दोनों लिखा है। जैसे—

(१) (क) बाँधिबे के नाउ ताल बाँधियत केसौदास,
मारिबे के नाउ तौ दलिद्र मारियत हैं।
—विज्ञानगीता[११]

(ख) काम क्रोध लोभ मोह दंभादिक केसौराइ
पाखंडु अखंड झूठ जीतिबे के रुचि जाहि
पाप के प्रताप ताकें केसौराइ भोग जोग
सोध्यौं चाहैं आधि व्याधि भावना असेस दाहि॥

८. राजस्थान में हिंदी के हस्तलिखित ग्रंथों की खोज, प्रथम भाग, पृ० १२।
९. नागरीप्रचारिणी पत्रिका, भाग ८, अंक २, पृ० १२९–१३०।
१०. वही; पृ० १५२।
११. स. मं. उदयपुर की हस्तलिखित प्रति, पत्र ३।

जीत्यौ चाहैं इंद्रीगनु भाँति भाँति माया मनु
लोपि कै अनेक भाव देख्यौ चाहै एकताहि।
जीत्यौ चाहैं काल इहि देह रच्यौ चाहै गेह
सोई तौ सुनावैं सुनैं ज्ञान गीतिकाहि ॥

—विज्ञानगीता[१२]

(२) (क) एक थल थिति पैं बसत जग जन जीय
द्विकर पैं देस-देस कर को धरतु है।
त्रिगुन बलित बहु बलित ललित गुन
गुननि के गुन तरु फलित करतु है ॥
चारि ही पदारथ कौ लोभु केसौदास जिहि
दीबे पदारथ समूह को भरतु है।
साहिन कौ साहि जहाँगीर साहि आदि पंच
भूत की प्रभूत भवभूत कौ सरतु है ॥

—जहाँगीरचंद्रिका[१३]

(ख) जहाँगीर जू जगतपति, दे सिगरो सुख साजु।
केसवराइ जहाँनु मैं, कियो राय ते राजु ॥

—जहाँगीरचंद्रिका[१४]

परन्तु ये 'केसवदास' अथवा 'केसवराय' बिहारी के पिता थे, ऐसा मानने के लिये कोई दृढ़ आधार नहीं है। बिहारीलाल जाति के माथुर चौबे थे यह निर्विवाद है। और केशवदास जाति के सनाढ्य थे, जैसा कि वे स्वयं लिख रहे हैं—

(१) सनाढ्य जाति गुनाढ्य हैं जगसिद्ध सुद्ध सुभाव।
सुकृष्णदत्त प्रसिद्ध हैं, महि मिश्र पंडितराव ॥
गणेश सो सुत पाइयो, बुध काशीनाथ अगाध।
अशेष शास्त्र विचारि कै, जिन जानियो मत साध ॥

---

१२. वही; पत्र २।

१३. स. भ. उदयपुर की हस्तलिखित प्रति, पत्र २१२।

१४. वही; पत्र २२१।

उपज्यो तेहि कुल मंदमति, शठ कवि केशवदास।
रामचंद्र की चंद्रिका, भाषा करी प्रकास॥
—रामचंद्रिका[१५]

(२) तहाँ प्रकास सों निवास मिश्र कृष्णदत्त को।
असेस पंडिता गुनी सुदासु विप्र भक्त को॥
सुकासिनाथ तस्य पुत्र विग्य कासिनाथसों
सनाढ्य कुंभकार वंसु अंसु वेदव्यासको
※ ※ ※
तिनकै केसवराय सुतु, भाषा कवि मतिमंदु।
करी ग्यानगीता प्रगट, श्रीपरमानंदु कंदु॥
—विज्ञानगीता[१६]

ऐसी स्थिति में केशव-बिहारी का पिता-पुत्र का सम्बन्ध स्थापित करना असंगत है।

कुछ विद्वानों का अनुमान है कि 'सतसई' के उक्त दोहे में बिहारीलाल ने 'केशवराय' नाम का जो प्रयोग किया है वह उनके पिता का नाम नहीं बल्कि उनके गुरु का नाम है। यह अनुमान ठीक मालूम पड़ता है। कवि-परिपाटी के अनुसार बिहारी ने भी अपने आराध्य केशव की वंदना के पश्चात् अपने गुरु केशवराय की वंदना की है। परन्तु ये केशवराय 'रामचंद्रिका' के रचयिता महाकवि केशवदास थे अथवा कोई अन्य व्यक्ति, इस संबंध में निश्चित रूप से कुछ कहना कठिन है। दोनों ही संभावनाएँ हैं। महाकवि केशवदास की मृत्यु सं० १६७४ के आसपास हुई थी। उस समय बिहारीलाल २२ वर्ष के थे। अतएव बहुत संभव है कि कुछ काल तक केशवदास बिहारीलाल के काव्य-गुरु रहे हों। दूसरी संभावना यह है कि केशवराय महाकवि केशवदास से भिन्न कोई दूसरे ही व्यक्ति हों, जिन्होंने बिहारी को विद्याभ्यास कराया हो। परन्तु इस विषय में अधिक कुछ कहने के लिये प्रामाणिक ऐतिहासिक सामग्री की आवश्यकता है, जो प्राप्त नहीं है।[१७]

१५. पहला प्रकाश, पत्र ४—५।

१६. स. भं. उदयपुर की हस्तलिखित प्रति, पत्र १।

१७. प. विश्वनाथप्रसाद मिश्र का अनुमान है कि बिहारी के उपर्युक्त दोहे में 'केसव केसवराय' पद जो आया है वह पूरा का पूरा पद किसी एक व्यक्ति का नाम है और सम्भवतः यही बिहारी के पिता रहे हों। देखिये 'बिहारी की वाग्विभूति', (उपक्रम) पृ० ६—१०।

अपने जीवनकाल में बिहारी ने केवल एक ही ग्रंथ 'बिहारी-सतसई' बनाया, जो हिंदी-साहित्य-भंडार का अनमोल रत्न और हिन्दी भाषा-भाषियों के गौरव की वस्तु माना जाता है। यह आमेर के मिर्जा राजा जयसिंह की आज्ञा से लिखा गया था :—

हुकुम पाइ जयसाहि को, हरि राधिका प्रसाद।
करी बिहारी सतसई, भरी अनेक सवाद॥

इसका रचना-काल सं० १७०४ के लगभग है।[१८] यह हिंदी की एक अत्यन्त लोकप्रिय रचना है। इसकी लोकप्रियता का अनुमान इसी से हो सकता है कि इसपर पचास से अधिक टीकाएँ लिखी जा चुकी हैं और अभी भी यह क्रम जारी है।[१९] ये टीकाएँ संस्कृत, हिन्दी, राजस्थानी, गद्य, पद्य सभी में हैं। डा० अमरनाथ झा ने इसके १०० दोहों का अंग्रेजी अनुवाद भी किया है।

किंतु खेद है कि ऐसे अद्वितीय ग्रंथ का वैज्ञानिक ढंग से तैयार किया हुआ कोई प्रामाणिक संस्करण अभी तक नहीं निकला। जितने भी संस्करण अब तक प्रकाशित हुए हैं उनमें स्वर्गीय बाबू जगन्नाथदास रत्नाकर का 'बिहारी-रत्नाकर' सर्वश्रेष्ठ माना गया है। यह संस्करण वास्तव में बहुत उत्तम कोटि का है और इसके पाठ-निर्णय, पाठ-संशोधन इत्यादि पर यथेष्ट श्रम किया गया है, जो रत्नाकरजी जैसे विद्वान्, ब्रजभाषा-पटु और काव्यमर्मज्ञ ही का काम है। परन्तु इसमें भी दो-एक दोष आ गये हैं। एक तो यह कि इसकी भाषा को रत्नाकरजी ने इतना माँज दिया है कि वह बिहारी की भाषा न रहकर एक तरह से रत्नाकरजी की भाषा हो गई है। अतएव भाषाशास्त्र की दृष्टि से यह संस्करण विशेष उपयोगी नहीं है।

दूसरे, जिन पाँच हस्तलिखित प्रतियों के आधार पर 'बिहारी-रत्नाकर' का संपादन किया गया है वे न बहुत प्राचीन हैं, न प्रामाणिक। सबसे प्राचीन प्रति जो रत्नाकरजी को मिली वह सं० १७७२ की थी।[२०] जिन दो प्रतियों

१८. नागरीप्रचारिणी पत्रिका, भाग ८, अंक २२, पृ० १५१।

१९. स्वर्गीय रत्नाकरजी ने नागरीप्रचारिणी पत्रिका में 'बिहारी-सतसई' की ५० टीकाओं का उल्लेख किया है। इनके अतिरिक्त श्रीकृष्ण भट्ट, उमेदराम तथा परमानद नामक तीन और कवियों की टीकाओं का पता लगा है। इनमें से प्रथम दो कवियों की टीकाएँ हिंदी में और तीसरे की संस्कृत में है।

२०. बिहारी-रत्नाकर, (भूमिका) पृ० २३।

को उन्होंने सं० १७७२ के पूर्व की बतलाया है वे संदिग्ध हैं,[२१] क्योंकि उनका लेखन-काल कुछ सुनी-सुनाई बातों तथा अनुमान के आधार पर स्थिर किया गया है। परन्तु 'बिहारी-सतसई' की कुछ ऐसी प्रतियाँ हमारे देखने में आई हैं, जो काफी पुरानी होने के साथ-साथ विश्वास योग्य भी हैं। एक प्रति बीकानेर के अनूप संस्कृत पुस्तकालय में वर्तमान है, जो अब तक की प्राप्त प्रतियों में से सबसे प्राचीन है। इसका लेखन-काल सं० १७२४ है।[२२] दूसरी प्रति उदयपुर के सरस्वती भंडार में है। यह सं० १७४२ में लिपिबद्ध हुई थी।[२३] ऐसी महत्त्वपूर्ण प्रतियों का उपयोग न हो सकने के कारण रत्नाकरजी का संस्करण पूर्ण और प्रामाणिक होने से वंचित रह गया है। और तो और, बिहारी के सभी दोहे ही उसमें संकलित नहीं हो पाये हैं। उदाहरण के लिए बिहारी के पाँच दोहे हम नीचे उद्धृत करते हैं। ये उदयपुरवाली उल्लिखित प्रति में पाये जाते हैं, पर 'बिहारी-रत्नाकर' में नहीं आये हैं :—

अनब्याही हाँसे मरै, ब्याही लेहि उसास।
गौने की मौने रही, देखि रास मृदु हास॥

यह छिन मत-नगु राखि कै, जगत बड़ौ जसु लेहु।
जरी विषम जुर ज्याइयै, आइ सु दरसन देहु॥

हरि मुँह फेरि कि हेरि इत, हित चिति समुहो नारि।
डीठि परस उठि पीठि कै, पुलकै कहै पुकारि॥

चारौं बलि तो दृगनि पर, अलि खंजन मृग मीन।
आधी दीठि चितौनि जिहि, किये लाल आधीन॥

जो जिय जैहै जाउ, काम न मेरे है कछु।
इतीक लौं ठहराउ, पिय हिय सुख दुख की सुनहु॥

उपर्युक्त दो प्रतियों के अतिरिक्त 'बिहारी-सतसई' की सैकड़ों प्रतियाँ और भी राजस्थान में इधर-उधर देखने को मिलती हैं। यहाँ के राजकीय

---

२१. वही, पृ० २०—२३।

२२. "संवत् १७२४ विषे कृष्ण पषे ११। गुरुवार। बीकानेर मध्ये। श्री पं० श्री श्रीआणदजी सिष। खेमराज। लिखतं वाचनार्थं। श्री। शुभं भवतु।"

२३. राजस्थान में हिंदी के हस्तलिखित ग्रंथों की खोज, प्रथम भाग, पृ० ७२।

पुस्तकालयों, जैन-भांडारों आदि मे कदाचित् ही कोई ऐसा देखने में आवे जहाँ इसकी दो-चार प्रतियाँ सुरक्षित न हों। इन प्रतियों में कुछ चित्रित[24] तथा कुछ सादी हैं और कुछ पर्याप्त प्रामाणिक भी हैं। इन सबको एकत्र कर इनके आधार पर 'बिहारी-सतसई' का एक नवीन संस्करण निकालने की बड़ी आवश्यकता है, जैसा कि भंडारकर ओरियंटल रिसर्च इंस्टीट्यूट, पूना, ने महाभारत का और भारतीय विद्याभवन, बम्बई, ने भर्तृहरि-शतक का निकाला है। यह कार्य व्यय-साध्य और कठिन अवश्य है, पर उतना ही आवश्यक भी है।

बिहारीलाल ने कुल दोहे कितने लिखे थे, इसका ठीक-ठीक पता नहीं लगता। 'बिहारी-सतसई' की जो अनेकानेक हस्तलिखित प्रतियाँ देखने में आती हैं उनमें ७०१ से लेकर ७५३ तक दोहे मिलते हैं। उक्त बीकानेर वाली प्रति में ७२९ और उदयपुरवाली प्रति में ७२१ दोहे हैं। चन्द्रमणि उपनाम कोविद कवि, जैन टीकाकार मानसिंह और प्रेम कवि ने 'बिहारी-सतसई' के दोहों की संख्या क्रमशः ७००,[25] ७१३[26] और ७५०[27] बतलाई है। स्वर्गीय रत्नाकरजी ने इनमें से मानसिंह की संख्या को ठीक माना है, जिसका कारण उन्होंने यह बताया है कि यह टीका सं० १७३४ से पूर्व अर्थात् बिहारी के जीवन-काल में रची गई थी।[28] इसी आधार पर उन्होंने अपने 'बिहारी-रत्नाकर' में ७१३ दोहे रखे हैं। परन्तु यहाँ उनसे भूल हुई है। इस भूल का कारण यह है कि उन्होंने 'राजविलास' के कर्ता मानसिंह और 'बिहारी-सतसई की टीका' के रचयिता मानसिंह, इन दोनों को एक व्यक्ति मान लिया है और 'राजविलास' का जो रचनाकाल (सं० १७३४) है लगभग वही 'बिहारी-सतसई' की टीका का भी स्थिर किया है। परन्तु असल में ये दो भिन्न व्यक्ति हैं, जैसा कि मिश्रबन्धु-विनोद से पाया जाता है।[29] इनका रचनाकाल क्रमशः सं० १७३४ और सं० १७७० है। इस विषय में अधिक विस्तारपूर्वक यथा-स्थान आगे लिखा जायगा। अतएव मानसिंह की जिस टीका को रत्नाकरजी ने

२४. ए कैटेलॉग ऑव मैनुस्क्रिप्ट्स इन दि लाइब्रेरी ऑव हिज हाईनेस दि महाराना ऑव उदयपुर, पृ० २३८।

२५. नागरीप्रचारिणी पत्रिका, भाग ९, अंक १, पृ० ७१।

२६. वही; पृ० ६६।

२७. वही; पृ० ८५।

२८. नागरीप्रचारिणी पत्रिका, भाग ९, अंक १, पृ० १०१–१०३।

२९. वही; पृ० ४६२ और ४७२।

बिहारी के जीवन-समय की लिखी हुई तथा प्रामाणिक कहा है, वह बिहारी की मृत्यु से लगभग पचास वर्ष बाद की लिखी हुई है और उतनी प्रामाणिक नहीं है, जितना कि उसे माना गया है।

अतः जहाँ तक दोहों की संख्या का प्रश्न है, हमारी सम्मति में बीकानेर वाली उल्लिखित प्रति को आदर्श मानना उचित होगा, क्योंकि यह प्रति बिहारीलाल की मृत्यु से केवल तीन-चार वर्ष बाद की लिखी हुई है और अब तक की प्राप्त प्रतियों में सबसे प्राचीन तथा प्रामाणिक है। यदि इस आधार को स्वीकार किया जाय तो फिर बिहारी के दोहों की संख्या ७३० के लगभग निश्चित होती है।

बिहारीलाल जन्मसिद्ध कवि थे। ब्रजभाषा पर इनका असाधारण अधिकार था। इन दोनों गुणोंका पूर्णोत्कर्ष इनकी सतसई में देखने को मिलता है। इनकी भाषा बहुत प्रौढ़ और वाक्य-रचना बहुत गठी हुई है। उसमें एक भी शब्द कहीं भरती का नहीं पाया जाता। प्रत्येक शब्द किसी विशेष अभिप्राय से व्यवहृत हुआ है और अपने स्थान पर ठीक बैठा है। इनकी भाषा में अर्बी, फारसी, आदि विदेशी भाषाओं तथा पूर्वी, बुंदेलखंडी और खड़ी बोली के शब्द एवं प्रयोग भी मिलते हैं। कहीं-कहीं राजस्थानी का भी रंग दिखलाई देता है। जैसे—

"पटु पाँखै भखु काँकरै, सपर परेई संग"।[३०]
"मरुधर पाय मतीरहीं, मारू कहत पयोधि"।[३१]
"नहिँ जानतु इहिँ पुर बसैं, धोवी औड़ कुंभार"।[३२]
"गाढ़िली गरबु न कीजियै, समै-सुहागहिँ पाय"।[३३]
"थाकी जतन अनेक करि, नैंक न छाड़ति गैल"।[३४]
"तौ ब्यौंड़ौ घर को भयौ, पैंड़ौ कोस हजार"।[३५]

बिहारी की कविता में शृंगार रस का प्राधान्य है और उसमें दो गुणों की मुख्यता है। वे दो गुण हैं, भाव की गंभीरता और वर्णन की संक्षिप्तता। दोहा जैसे छोटे छंद में जो विपुल भाव इन्होंने भरा है वह वास्तव में अद्भुत है। इन्हीं दो विशेषताओं को लक्ष्य में रखकर किसी कवि ने यह दोहा कहा है—

३०. बिहारी-रत्नाकर, पृ० २५६।
३१. वही; पृ० १५१।
३२. वही; पृ० १८०।
३३. वही; पृ० १३१।
३४. वही; पृ० ५६।
३५. वही; पृ० ६४।

सतसैया के दोहरा, ज्यौं नावक के तीर।
देखन में छोटे लगैं, घाव करैं गंभीर ॥

बिहारीलाल बड़े सूक्ष्मदर्शी कवि थे। इनकी दृष्टि बड़ी पैनी थी। मानव-प्रकृति का इनको गहरा ज्ञान था, जिसका निदर्शन सतसई में स्थान-स्थान पर मिलता है। विशेषकर नायक-नायिकाओं के मनोभावों का जैसा चित्रोपम वर्णन बिहारी ने किया है वैसा हिंदी का दूसरा कोई कवि नहीं कर सका। इस विषय में अंग्रेज कवि शेक्सपियर बहुत निपुण माने गये हैं। अतः उनकी तुलना में बिहारी का काव्य-कौशल देखिए।

रोज़ेलिंड की सखी सीलिया उसके प्रेमी ऑरलैंडो से मिलकर वापस आती है। उस समय प्रिय-संदेश के सुनने में आतुर रोज़ेलिंड पागल-सी हो जाती है और सीलिया से कहती है कि यदि ऑरलैंडो से मिलने के सब समाचार उसने शीघ्र न कहे तो उससे इतने प्रश्न करेगी कि जिनसे सारा उत्तरी सागर भर जायगा। पर उसकी आतुरता को बढ़ानेके लिये सीलिया फिर भी मौन ही रहती है। इस पर रोज़ेलिंड प्रश्नों की झड़ी लगा देती है। वह पूछती है—

What did he when thou saw'st him ? What said he ? Wherein went he ? What makes he here ? Did he ask for me ? Where remains he ? How parted he with thee ? And when shalt thou see him again ? Answer me in one word."[३६]

ऐसी ही दुविधावस्था में बिहारी की नायिका भी है। नायिका, राधा, की सहेली श्रीकृष्ण से मिलकर घर आती है। इस पर बिहारीलाल लिखते हैं :—

फिरि फिरि बूझति कहि कहा, कह्यौ साँवरे गात।
कहा करत देखे कहाँ, अली चली क्यो बात ॥

प्रसंग दोनों का एक है। बिहारी के समान शेक्सपियर ने भी स्त्री-हृदय के उस स्थल पर हाथ डाला है, जो सबसे निर्बल है। पर जिस समय शेक्सपियर रोज़ेलिंड के मुँह से प्रश्न करवाते हैं, उनकी कल्पना-शक्ति कुंठित हो जाती है और उनके मस्तिष्क से कुछ ऐसे प्रश्न निकलते हैं जिनमें रस, चमत्कार, विदग्धता इत्यादि कुछ नहीं हैं। वस्तुतः शेक्सपियर के ये प्रश्न परीक्षा-पत्रों में दिये हुए प्रश्नों के सदृश जटिल और शुष्क प्रतीत होते हैं।

---

३६. ऐज़ यू लाइक इट; अंक ३, दृश्य २।

इसके विपरीत बिहारीलाल नारी-हृदय को टटोलकर बाहर निकल आते हैं और सारी बात को बड़े हृदयग्राही ढंग से प्रस्तुत करते हैं, जिसमें व्यंग्य है, व्यंजना है और है मार्मिक भाव। निःसन्देह अंग्रेज कवि के प्रश्न संख्या में अधिक हैं, पर सबसे महत्त्वपूर्ण प्रश्न को तो वे भूल ही गये हैं, जिसका उल्लेख बिहारी ने अपने दोहे के अन्तिम चरण मे किया है—'अली चली क्यो बात।' हे सखी! मेरी बात चली कैसे? मेरा प्रसंग आया क्यों? सच पूछिये तो यही कवि-हृदय की मार्मिक अनुभूति है। काव्य-कौशल की अंतिम सीमा है।

बिहारी ने प्रेमभरी चेष्टाओं एवं प्रेमोन्माद के भी अनेक चित्र अंकित किये हैं, जो एक से एक बढ़कर सुन्दर हैं और ऐसे हैं कि उनके जोड़ के हिन्दी-साहित्य में अन्य नहीं मिलते—

छला छबीले लाल को, नवल नेह लहि नारि।
चूँबति चाहति लाइ उर, पहिरति धरति उतारि॥
उड़ति गुड़ी लखि ललन की, अँगना अँगना माँह।
बौरी लौं दौरी फिरति, छुवति छबीली छाँह॥
भेटत बनै न भावतो, चितु तरसतु अति प्यार।
धरति लगाइ लगाइ उर, भूषन बसन हथ्यार॥
कर लै चूमि चढ़ाइ सिर, उर लगाइ भुज भेंटि।
लहि पाती पिय की लखति, बाचति धरति समेटि॥

बिहारी की कविता का भाव-पक्ष जितना पुष्ट है उतना ही पुष्ट उसका कला-पक्ष भी है। काव्य-रीति का कोई ऐसा अंग नहीं जिसकी विशेषताएँ बिहारी की कविता में न मिलें। कहीं-कहीं तो एक ही दोहे में रस की मधुर व्यंजना, अलंकारों का सुष्ठु प्रयोग और शब्दों का मधुर विन्यास साथ-साथ देखने को मिलता है—

जरे दुहुन के दृग झमकि, रुके न झीनैं चीर।
हुलकी फौज हरौल ज्यौं, परै गोल पर भीर॥
लाज-लगाम न मानहीं, नैना मो बस नाहिं।
ए मुँहजोर तुरंग ज्यों, एंचत हूँ चलि जाहिं॥

बिहारी-सतसई के अतिरिक्त बिहारी के रचे कुछ फुटकर कवित्त भी मिले हैं, जो ब्रजभाषा में हैं।[३७] परन्तु इनमें चमत्कार विशेष नहीं है।

३७. राजस्थानी भाषा और साहित्य, पृ० १५०—१५१।

(२१) डूँगरसी—ये बूँदी-निवासी जाति के राव थे। इनका रचना-काल अनुमानतः सं० १७१० है। ये बूँदी के रावराजा शत्रुसाल के आश्रित थे, जिन्होंने इनको नैणवा नामक एक गाँव जागीर में दिया था।[३८] वह गाँव अभी तक इनके वंशवालों के अधिकार में है। इन्होंने 'शत्रुसाल रासो' नामक एक ग्रंथ बनाया, जिसकी एक हस्तलिखित प्रति कलकत्ता के 'सूरजमल-नागरमल पुस्तकालय' में उपलब्ध है। यह फुलस्कैप साइज के ११८ पृष्ठों का एक बड़ा ग्रंथ है। इसमें बूँदी के रावराजा शत्रुसाल (छत्रसाल) का जीवन-चरित्र वर्णित है, जिनकी वीरता-वदान्यता का बखान कवि भूषण[३९], मतिराम तथा लाल[४०] ने भी अपने ग्रन्थों में किया है।

रावराजा शत्रुसाल गोपीनाथ के पुत्र और रतनसिंह के पौत्र थे। ये सं० १६८८ में बूँदी के राजसिंहासन पर बैठे थे।[४१] उस समय इनकी आयु २५ वर्ष के लगभग थी। ये मुगल साम्राज्य के प्रधान स्तम्भों में से थे और शाहजहाँ के समय में एक स्वतन्त्र सूबे के अधिकारी थे। दक्षिण के सूबे में शाहजादे औरंगजेब के अधिकार में जितने युद्ध हुए, उनमें इन्होंने असाधारण वीरता प्रदर्शित कर दौलताबाद, बीदर आदि पर बादशाह का अधिकार करा दिया था। जिस समय धौलपुर में चंबल नदी के किनारे दिल्ली के राजसिंहासन के लिये औरंगजेब की दारा से लड़ाई हुई, इन्होंने दारा की सेना को निर्बल और औरंगजेब का प्रपंच सबल देखकर भी शाहजहाँ की आज्ञा से दारा का साथ दिया था। केवल साथ ही नहीं दिया, बल्कि दारा जब रणक्षेत्र से

---

३८. डूगर कियो है डूगरो, मांगत राव सत्ते।
हाथी दियो रग चावळा, नैणा गॉव पट्टे॥

—प्राचीन पद्य

३९. "हाथी ते उतरि हाड़ा जूझो लोह लंगर दै, एती लाज का में जेती लाज छत्रसाल में। तन तरवारिन में मन परमेश्वर में, प्रान स्वामि कारज में माथो हरमाल में॥"

—छत्रसाल दशक

४०. "गोपीनाथ नंद चित चाही बकसीसन सों, जाचक धनेस कीन्हे सकल जहान में। ज्ञान में दिवान शत्रुसाल सुरगुरु साहिबी में सुरपति सुरतरु नरदान में॥"

—ललितललाम

४१. "दारा सार बाजत रन छाज्यौ, जवन पातसाही को भाज्यौ।
हाडा माग धारमें पैठ्यो, सूरज भेदि विमानहि वैठ्यो॥"

—छत्रप्रकाश

भाग गया तब इन्होंने उसकी सेना का संचालन किया और लड़ते-लड़ते प्राण दे दिये।

शत्रुसाल केवल रणवीर ही न थे। इन्होंने अपने हाथ से अतुल धन-संपत्ति ब्राह्मणों एवं चारण-भाटों को दान में दी थी।

डूँगरसी ने अपने 'शत्रुसाल रासो' में इन्हीं बातों का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है।

इसमें दूहा, साटक, कवित्त (छप्पय), भुजंगी, मोतीदाम इत्यादि कुल मिलाकर पाँचसौ से कुछ ऊपर छंद हैं। इसकी वर्णन-शैली सजीव और कविता सशक्त है और उससे डूँगरसी की जन्मसिद्ध काव्य-प्रतिभा का पता लगता है। ग्रंथ वर्णनात्मक है और इसमें वीर रस का प्राधान्य है। परन्तु इसमें शृंगार आदि दो-एक अन्य रसों का भी प्रसंगानुसार अच्छा निरूपण हुआ है।

(१४) केहरी—इनका पूरा और प्रामाणिक इतिवृत्त नहीं मिलता। अपनी रचना 'रसिकविलास' में इन्होंने राजा शत्रुसाल का बखान किया है—

सकल देह मे केहरी, जैसे मनु परवान।
त्यों भूपनि मनि जानिये, सत्रसालु अति जान॥
सत्रसालु ज्यों केहरी, भूपनि को सिरताजु।
त्यों बरनत सब रसिक जन, है सिंगारु रसराजु॥[४२]

इससे जान पड़ता है कि ये शत्रुसाल नामक किसी राजा के आश्रित अथवा समकालीन थे। लेकिन ये शत्रुसाल कौन थे, और कहाँ के थे, इसका ठीक-ठीक पता नहीं लगता। परन्तु अनुमान ऐसा होता है कि ये बूँदी-नरेश राव शत्रुसाल थे। इस अनुमान की पुष्टि दलपत मिश्र-कृत 'जसवंत-उद्योत' से भी होती है, जिसमें इन्होंने शत्रुसाल नाम के आगे 'राव' पदवी लगाई है और उनके द्वारा कवि केहरी का निहाल होना बताया है—

आलमपनाह साहिजहाँ नरनाह दिजु,
सुंदरनि निवाज्यौ महा महा कविराइ कैं।
बिदित बुँदेला इन्द्रजीत को बढ़ायौ केसौ-
दास सु सिरै गायौ गुनि गनना गनाइ कैं

४२. अ० सं० पु० बीकानेर की प्रति, पत्र १२६–१२७।

रावु सत्रसाल सौं निहाल भयौ सुकवि,
केहरी कनौजिया कविंदु पद पाइ कैं।
गरीबनिवाज महाराजा जसराज त्यौं,
तिहारे बाट पर्यौ दलपति कवि आइ कैं ।।[४३]

'राव' पदवी उन दिनों बूँदी के राजाओं की थी। अतएव केहरी और दलपत ने अपनी रचनाओं में जिन शत्रुसाल का नामोल्लेख किया है वे बूँदी के राव शत्रुसाल मालूम पड़ते हैं, जिनका शासन-काल सं० १६८८—सं० १७१० है।

कवि केहरी का उपरोक्त 'रसिकविलास' नायक-नायिका-भेद का एक बड़ा ग्रंथ है। इसकी एक ही प्रति अभी तक मिली है, जो बीकानेर के अनूप संस्कृत पुस्तकालय में है। इसमें सात प्रभाव (अध्याय) हैं। इसका छठा प्रभाव विशेषकर बड़े महत्त्व का है, जिसमें शृंगार रस के विविध अंगों का विशद और मनोवैज्ञानिक ढंग से विवेचन किया है। रचना का नमूना देखिये—

भौंन के कोन मे भीतर भावनु लोग जगै पर के बहरावै।
द्यौंत बनै न निकासन कौं खिनु ही खिनु बाहिर भीतर आवै ।।
केहरि ज्यौं ज्यौं उज्यारौ चहे तिनु लेकर जोति जिठानी जगावै।
बैनी बनाइ कै सौहे ह्वै आइ के त्यौं त्यौं तिया हो दिया अचरावै ।।

(२५) वृन्द कवि—इनके व्यक्तिगत जीवन और इनकी कृतियों आदि के विषय में हिंदी-संसार प्रायः अंधकार में है। हिंदी-साहित्य के इतिहासकार इनको केवल एक सूक्तिकार मानते हैं[४४] और 'वृन्द-सतसई' के अतिरिक्त इनकी अन्य रचनाओं से प्रायः अपरिचित हैं। परन्तु वृन्द ने और भी ग्रंथ लिखे हैं, जो काव्य और इतिहास की दृष्टि से बहुत उत्तम कोटि के हैं और उनके आधार पर इनको भी हिंदी भाषा के प्रथम पंक्ति के कवियों में रखा जा सकता है। ये ग्रंथ किशनगढ़ में इनके वंशजों के पास विद्यमान हैं, जहाँ 'वृन्दरत्नावली' आदि कुछ ग्रंथ अन्य कवियों के भी पाये जाते हैं, जिनसे वृन्द के जीवन-चरित्र पर अच्छा प्रकाश पड़ता है।

वृन्द का वास्तविक नाम वृन्दावनदास था। ये जाति के सेवक अथवा

४३. जसवत-उद्योत, पद्य ७१७।

४४. पंडित रामचन्द्र शुक्ल; हिन्दी-साहित्य का इतिहास, पृ० ३८५।

भोजक थे। इनके पूर्वज बीकानेर के रहनेवाले थे[४५]। परन्तु किसी कारण-विशेष से इनके पिता रूपजी जोधपुर राज्यान्तर्गत मेड़ते में आ बसे थे, जहाँ सं० १७०० में इनका जन्म हुआ था[४६]। इनकी माता का नाम कौशल्या और पत्नी का नवरंगदे था। ये जब दस वर्ष के थे तब इनके पिता ने इनको विद्योपार्जन के लिये काशी भेज दिया। वहाँ ताराजी नामक एक पंडित के पास रहकर इन्होंने साहित्य, दर्शन इत्यादि विभिन्न विषयों का ज्ञान प्राप्त किया और कविता करना भी सीखा। काशी से लौटकर जब ये अपने जन्म-स्थान मेड़ते आये तब वहाँ पर इनका बड़ा सम्मान हुआ और जोधपुर के महाराजा जसवंतसिंह (प्रथम) ने कुछ भूमि पुण्यार्थ देकर इनकी प्रतिष्ठा बढ़ाई। कालान्तर में महाराजा जसवंतसिंह ने इनका परिचय मुगल सम्राट औरंगजेब के कृपापात्र वजीर नवाब मुहम्मद खाँ से भी करा दिया, जिससे आगे जाकर इनका शाही दरबार में प्रवेश हो गया।

कहते हैं कि पहले पहल जिस समय नवाब मुहम्मद खां वृन्द को शाही दरबार में ले गया उस समय इनकी परीक्षा लेने के हेतु बादशाह औरंगजेब ने इन्हें एक समस्या दी और उसकी पूर्त्ति करने को कहा। वह समस्या थी, 'पयोनिधि पैरयो चाहै मिसरी की पुतरी'।

बादशाह औरंगजेब का झुकाव ईश-भक्ति की ओर विशेष सुना जाता था इसलिए वृन्द ने तुरन्त ईश-महिमा-विषयक यह कविता रचकर सुनाई—

पूरन परम परब्रह्म को भरोसो धारि
सुर मुनि साख जिन डोलै इत उतरी।
थिरचर जीवन की जीवन की वृत्ति जाकै
ता ही सूं रुचि-रुचि राच प्रीति जुतरी॥
वृंद कहै साहिब समरत्थ सब बातन में
उनकी कृपा तैं ऐसी बात अद्भुत री।

४५. माधुरी, संख्या २, अगस्त १९२३, में प्रकाशित 'महाकवि वृन्द' शीर्षक अपने एक लेख में गोस्वामी किशोरीलाल ने लिखा है कि वृन्द गौड़ ब्राह्मणकुल में मथुरा प्रान्त के किसी गाँव में पैदा हुए थे। परन्तु उनका यह कथन सर्वथा निराधार है।

४६. मिश्रबन्धुओं ने इसका जन्म सं १७४२ और पं० रामनरेश त्रिपाठी ने सं० १७३४ बताया है। ये दोनों ही संवत् अशुद्ध हैं।

पंगु गिरि गाहैं मूक निगम निबाहैं क्यों न
पयोनिधि पैर्यो चाहे मिसरी की पुतरी ॥[४७]

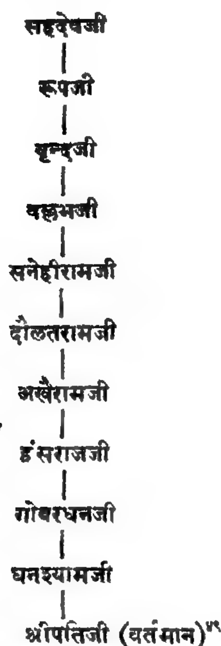
परन्तु बादशाह को यह रचना कुछ कम पसन्द आई। उसने कहा कि ईश-महिमा की जो बात इस कविता में कही गई है वह यथार्थ है। परन्तु कोई ऐसी कविता बनाओ जिसमें काव्य-चमत्कार हो। इसलिए वृन्द ने उक्त समस्या को लेकर उसकी पूर्ति दूसरे प्रकार से फिर की—

कुंभज कल्लर ता की कठिन कल्लर दीठि,
देखि कै डरानौ न हलानौ इत उतरी।
परिहरि लहर गहर गाज छाँड़ दई
वृन्द कहै भई गति अदीठि अश्रुत री॥
अमल मुकुर कैसो अचल सुभाव रह्यौ
रह्यौ दखि भई बात ऐसी अद्भुत री।
होकर निसंक अंक ऐसो दाव पाय क्यों न
पयोनिधि पैर्यो चाहै मिसरी की पुतरी ॥[४८]

औरंगजेब काव्य का विरोधी था। कवियों को वह न धन देता था, न प्रोत्साहन। परन्तु वृन्द की यह अनूठी उक्ति उस पर भी वार कर गई और उसके मुँह से सहसा निकल पड़ा "खूब ! खूब !!"। बादशाह ने वृन्द को बहुत-सा धन दिया। उन्हें अपना दरबारी कवि बनाया और अपने पौत्र अजीमुश्शान का अध्यापक नियुक्त कर गौरवान्वित किया। कालान्तर में जब अजीमुश्शान बंगाल का सूबेदार होकर उधर गया तब वृन्द को भी अपने साथ ले गया। तभी से वे उसके पास रहने लगे।

अनुमानतः सं० १७६४ मे किशनगढ़ के महाराजा राजसिंह ने वृन्द को अजीमुश्शान से माँग लिया और अच्छी भू-संपत्ति देकर स्थायी रूप से किशनगढ़ में बसा दिया। वहीं सं० १७८० में इन्होंने अपनी इहलोक-लीला संवरण की। इनके वंशज अभी तक किशनगढ़ में विद्यमान हैं। वंश-वृक्ष इस प्रकार है:—

४७. वृन्दरत्नावली की हस्तलिखित प्रति, पृ० ५।
४८. वही; पृ० ६।



वृन्द ब्रजभाषा के कवि थे। इन्होंने ब्रजभाषा में ग्यारह ग्रंथ बनाये जिनके नाम निम्नलिखित हैं—

(१) समेतसिखर छंद, (२) भावपंचाशिका, (३) शृंगारशिक्षा, (४) पवन-पचीसी, (५) हितोपदेशसंधि, (६) वृन्द-सतसई, (७) वचनिका, (८) सत्यस्वरूप, (९) यमक सतसई, (१०) हितोपदेशाष्टक और (११) भारत कथा।

(१) समेतसिखर छंद। यह वृन्द की सर्वप्रथम रचना है। इसका प्रणयन सं० १७२५ में हुआ था। इसमें ८ छप्पय हैं, जिनमें जैन संप्रदाय के प्रसिद्ध तीर्थ 'समेतसिखर' का माहात्म्य कहा गया है।

(२) भावपंचाशिका। यह ग्रंथ औरंगाबाद में लिखा गया था। इसका रचना-काल सं० १७४३ है। इसमें पचीस दोहे और पचीस सवैये हैं, जिनमें शृंगार रस के विभाव, अनुभाव, संचारी भाव आदि का चमत्कारपूर्ण वर्णन किया गया है। यद्यपि यह ग्रंथ छोटा है तथापि इसकी रचना सरस एवं हृदय-ग्राहिणी है और वृन्द की विलक्षण कवित्व शक्ति का परिचय देती है। भाषा भी इसकी बहुत प्रौढ़, परिष्कृत और श्रुतिमधुर है। इसकी रचना के संबंध में एक

४९. वृन्दरत्नावली की हस्तलिखित प्रति, पृ० १।

कथा प्रसिद्ध है। जब वृन्द औरंगाबाद में थे तब वहाँ के किसी काव्य-प्रेमी एक सज्जन ने कवियों की एक सभा बुलाई और वृन्द को भी उसमें सम्मिलित होने का निमन्त्रण दिया। जिस समय सब लोग एकत्र हो गये, वहाँ यह प्रश्न उठा कि इस सभा में सबसे अच्छा कवि कौन है और किसको उसका सभापति बनाया जाय। बहुत देर तक वाद-विवाद होता रहा। जब कुछ भी तय न हो पाया तब उस सज्जन ने कहा कि आज की रात में जो व्यक्ति सर्वश्रेष्ठ कविता बनाकर लायगा वही कवि-शिरोमणि समझा जायगा और उसी को सभापति का पद मिलेगा। रातभर में वृन्द ने यह ग्रंथ बनाया और प्रातःकाल होते ही सब के सामने जाकर पढ़ा। वृन्द के सामने किसी दूसरे कवि का रंग नहीं जमा और यही सर्वसम्मति से सर्वश्रेष्ठ कवि माने गये।"[५०] वृन्द के शिष्य किशनगढ़ के मीर मुंशी माधौराम ने भी अपने 'शक्ति-भक्ति-प्रकाश' में इस घटना की ओर संकेत किया है—

कारज औ कारण तूँ विस्व-विस्तारन है
अखिल की पालक सुजोति चिदानंद की।
तूँही गति तूँही मति तूँही सुख संपति है
विपति विहंडनी वली है अनंद की॥
तेरे गुन गाइबे कौं विधि हू समर्थ नाहिं
तो कहा गति मेरी रसना मतिमंद की।
भक्तन की पति राखि ताकै सुनें गीत साखी
पति राखी मेरता के बासी कवि वृन्द की॥

(३) शृंगार-शिक्षा। यह नायिका-भेद का ग्रंथ है। इसकी रचना मुगल सम्राट औरंगजेब के वजीर नवाब मुहम्मद खाँ के पुत्र मिर्जा कादरी की कन्या को पातिव्रत-धर्म की शिक्षा देने के लिए सं० १७४८ में की गई थी। मिर्जा कादरी अजमेर का सूबेदार था। इस ग्रंथ में उसकी भी प्रशंसा की गई है—

ता को मिरजा कादरी, सब विधि सरस सुजान।
वीर धीर बानैत वर, सुबुधि सरूप निधान॥
कुलमनि मिरजा कादरी, रस चातुर रिझवार।
दाता ज्ञाता भोगता, अति चित परम उदार॥"[५१]

---

५०. वृन्दरत्नावली की हस्तलिखित प्रति; पृ० १०—११।
५१. वही; पृ० १२।

इसके प्रारम्भ में वर-कन्या के गुण-दोषों आदि का वर्णन है। फिर नवोढ़ा, मुग्धा, प्रोषितपतिका, इत्यादि नायिकाओं के लक्षण बताये गये हैं। अन्त में १६ शृंगारों का बहुत ही सरस, व्यवस्थित और काव्य-कलापूर्ण वर्णन किया गया है। बहुतेरे कवियों के समान न तो इस ग्रंथ में भरती के शब्द एवं वाक्य हैं और न कहीं भावावेश में आकर कवि ने लोक-मर्यादा का उल्लंघन किया है।

(४) पवन-पचीसी। इसमें पवन सम्बन्धी २५ छप्पय हैं। शृंगार रस की रचना है। इसका रचना-काल सं० १७४८ है। इसकी भाषा मधुर और प्रवाहयुक्त है। रचना सरस और मनोहारिणी है। इसमें से एक छप्पय यहाँ दिया जाता है—

पटु पराग पट पीत, सुखद सुन्दर तन सोहत।
बंसी बंस बजाय, सुमन खग मृग मन मोहत॥
करि विलास रस केलि, लता ललिता पुंजन मैं।
सदन सदन संचरत, धीर विचरत कुंजन मैं॥
जल न्हात पदमिनी वास हर, चढ़त सुविटप कदंब पर।
माधव स्वरूप माधव-पवन, कहत वृन्द आनन्द कर॥

(५) हितोपदेशसंधि। यह संस्कृत भाषा के सुप्रसिद्ध ग्रंथ 'हितोपदेश' की चतुर्थ कथा का पद्यानुवाद है। इसकी रचना कवि ने सं० १७५९ में किशनगढ़ के महाराजा मानसिंह के ज्येष्ठ पुत्र महाराजकुमार राजसिंह के लिये की थी:—

निधि सर मुनि ससि के बरस, माह बहुल दिव सेस।
द्वादसि कौं पूरन भयो, भाषा हित उपदेस॥
मान महीपति कुँवर मणि, राजसिंह जस नेत।
वृन्द लिख्यो ढाका नगर, राज सुतन के हेत॥[५२]

(६) वृन्दसतसई। यह वृन्द की बहुत प्रसिद्ध रचना है। इसी का दूसरा नाम दृष्टान्त-सतसई है। यह मुगल सम्राट औरंगजेब के पौत्र शाह अजीमुश्शान के अनुरोध से लिखी गई थी। इसका निर्माण सं० १७६१ में ढाका शहर में हुआ था जैसा कि कवि ने स्वयं ही इसके अन्त में लिखा है—

५२. वृन्दरत्नावली की हस्तलिखित प्रति; पृ० २०।

संवत ससि रस वार ससि, कातिक सुदि ससिवार।
सात ढाका सहर में, उपज्यौ इहै विचार॥

इसमें सातसौ से कुछ ऊपर दोहे हैं। प्रत्येक दोहा सद्विचारपूर्ण एवं मार्मिक है और उससे वृन्द के व्यावहारिक ज्ञान का अच्छा परिचय मिलता है। नीति-सदाचार संबन्धी बातों को वृन्द ने ऐसे मनमोहक ढंग से व्यक्त किया है कि वे तुरन्त पाठक के हृदय में घर कर लेती हैं। प्रसाद गुण की बहुलता होने के कारण साधारण पढ़े-लिखे लोग भी इन दोहों का मर्म समझ लेते हैं और स्थान-स्थान पर उद्धृत कर अपने पक्ष तथा प्रसंग का समर्थन करते हैं। दोहे लोकोक्तियाँ बन गई हैं। हिंदी-साहित्य में अधुना सात-आठ सतसइयाँ प्रचलित हैं। काव्य-प्रेमियों में सभी का यथेष्ट आदर भी है। परन्तु सर्वप्रियता की दृष्टि से यदि देखा जाय तो बिहारी-सतसई के अनन्तर वृन्द-सतसई ही उत्कृष्ट रचना ठहरती है।

(७) वचनिका। यह ग्रंथ किशनगढ़ के महाराजा मानसिंह के आदेशानुसार उनके पिता महाराजा रूपसिंह की ख्याति को अक्षय रखने के लिये बनाया गया था। इसका रचनाकाल सं० १७६२ है। इसमें उस युद्ध का वर्णन है जो मुगल सम्राट शाहजहाँ के पुत्रोंमें दिल्ली के राजसिंहासन के लिये धौलपुर के मैदान में हुआ था। यह एक ऐतिहासिक ग्रंथ है। इसके प्रारंभ में कन्नौज के महाराज राव सीहाजी से लेकर महाराजा रूपसिंह तक के राठौर नरेशों की वंशावली दी गई है। तदंतर महाराजा रूपसिंह के शौर्य-पराक्रम का वर्णन किया गया है। इस लड़ाई में महाराजा रूपसिंह ने दारा का पक्ष लिया था। औरंगजेब की सेना को काटते-काटते वे उसकी सवारी के हाथी तक जा पहुँचे और वहाँ पैदल होकर हौदे की रस्सियाँ तलवार से काटने लगे। यह देखकर औरंगजेब के बहुत से सैनिक एक साथ उन पर टूट पड़े और उनके टुकड़े-टुकड़े कर डाले[१]। जैसा वीरतापूर्ण इतिहास है वैसी ही वीरतापूर्ण भाषा-शैली में यह लिखा भी गया है। वीर रस का कवि ने ऐसा सबल, ओजपूर्ण और लोमहर्षण वर्णन किया है कि पढ़कर भुजाएँ फड़कने लगती हैं।

(८) सत्यस्वरूप। यह ग्रंथ सं० १७६४ में रचा गया था। इसमें बादशाह औरंगजेब के मरने पर दिल्ली के राजसिंहासन के लिये शाहजादा मुअज्जम (बहादुरशाह), आज़म, कामबख्श इत्यादि की लड़ाई का वर्णन

५३. मुंशी देवीप्रसाद; राजरसनामृत, पृ० ५३।

है। इस युद्ध में किशनगढ़ के महाराजा राजसिंह बहादुरशाह के पक्ष में लड़े थे। उनके हाथसे आज़म के पक्षवर्ती नवाब, राजा-महाराजा इत्यादि लड़नेवालों के १७ हौदे खाली हुए जिनमें दतिया के राजा दलपत और कोटा के महाराव राजा रामसिंह मुख्य थे। इस युद्ध की विजय का सुयश महाराजा राजसिंह को मिला[५४]। इतिहास की लगाम को मानते हुए भी कवि ने अपनी प्रतिभा से सत्यस्वरूप को एक उच्च कोटि का काव्य-ग्रंथ बना दिया है। भाषा, भाव, छंद, शब्द-विन्यास सभी का इसमें अपूर्व सम्मिलन हुआ है। उदाहरण—

वह पटमुख यह एक मुख कासीस्वर
वा को जस कोटिन जपत नर अति हैं।
वह महेन्द्र यह सेनापति महेन्द्र ज्यों व
आगरे मे उग्वई लख्यो अद्‌भुत गति है॥
तब सिवरानी सिव सोच कर्यो वीत्यो सुनि
कहै कवि वृन्द बोल गगन गनपति है॥
दौरि गिरवानन पुकार गिरिजा सौं कही
नेरो यह दलपत नाहिं गव दलपति है॥

(९) यमक सतसई। इसमें कुल सात सौ दोहे हैं, जिनमें अधिकांश दोहे शृंगार रस के हैं। प्रत्येक दोहे में यमक अलंकार का उदाहरण प्रस्तुत किया गया है। वृन्द-सतसई में कवि ने भाव-प्रदर्शन की ओर विशेष ध्यान दिया है, पर इसकी रचना उन्होंने कविता के भाव-पक्ष और कला-पक्ष दोनों को सामने रखकर की है। अतएव इसमें कला-चातुर्य और भाव-सौंदर्य दोनों का सुन्दर संयोग पाया जाता है। उदाहरण-स्वरूप चार दोहे यहाँ दिये जाते हैं—

कुंज-बिहारी कुंज में, छरी छरी दिखराइ।
चित्त उचकी चितवत चकी, परतन परतन पाइ॥
बनी माँहि राधे बनी, बनी बनी की भाँति।
भई देखि फिर उन मनी, सबै उनमनी काँति॥
दही दही बेचत दही, दही दही यह जाति।
गोरस मिस गोरस हिँ हरि, मग मँडराति डराति॥
एरी ए कौनैं कही, कौनैं कही रिसाइ।
गौनैं गहि कौनैं रही, अब गौनैं तैं आइ॥

५४. वृन्दरत्नावली की हस्तलिखित प्रति, पृ० ३१।

(१०) हितोपदेशाष्टक। इसमें आठ घनाक्षरी हैं। शांत रस का ग्रंथ है। इसमें रचनाकाल का उल्लेख नहीं है। परन्तु इसकी प्रौढ़ता को देखते हुए यह वृन्द की वृद्धावस्था की रचना जान पड़ती है। कविता इस ढंग की है—

नैननि की जोति जो लौं नीके कै निहार हरि
सुन लै पुरान जो लौं सुनै तुव कान है।
रसना रसीली जो लौं रसत रसीले बैन
तो लौं हरि गुन गाय जो पै तू सुजान है॥
काँपै नाहि कर तो लौ भली भाँति सेवा कर
पायन प्रदक्षिना दे जो लौं बलवान है।
जरा जकरै तें कहा करि हो कहत वृन्द
भज भगवान जो लौ देह सावधान है॥

(११) भारत-कथा। यह महाभारत की एक कथा का सारांश है। यक्ष के प्रश्नों का उत्तर देने के पूर्व नकुल, सहदेव, अर्जुन और भीम जब सरोवर से पानी पीते हैं और फलस्वरूप मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं तब युधिष्ठिर आकर उसके प्रश्नों का उत्तर देते हैं। इसी घटना को लेकर यह छोटा-सा ग्रंथ लिखा गया है। रचना साधारण है। इसका प्रारम्भ इस तरह होता है—

एक समय बन सघन में, विचरत पाँचों वीर।
भई तृषातुर द्रौपदी, चाहै पायौ नीर॥
नृप आज्ञा तै जो गये, नीर भरन सर तीर।
सरवर में बानी सुनी, भये चकित चित धीर॥

मिश्रबन्धु-विनोद में 'प्रताप-विलास' नामक एक और ग्रंथ को वृन्द-रचित बतलाया गया है।[५५] परन्तु यह वृन्द की प्रामाणिक रचना नहीं है। किसी दूसरे कवि की कृति है, जिसे भ्रमवश वृन्द की मान लिया गया है।[५६]

(२६) उदयचन्द—ये खरतरगच्छीय जैन यति थे। इनका 'अनूप-रसाल' नामक एक ग्रन्थ उपलब्ध हुआ है, जो बीकानेर के महाराज अनूपसिंह के लिए बनाया गया था:—

---

५५. पृ० ४९६।
५६. इनके 'बारहमासा' नामक एक और ग्रन्थ का पता अभी-अभी लगा है।

विक्रमपुर पति कर्ण-सुत, श्री अनूप भूपाल।
राजै गाजै वाजतैं, रसिक सिरोमनि माल॥
ता हित चित करिकै रच्यौ, ग्रन्थ अनूपरसाल।
कवि कोकिल कुल सुख मदन, सरस मधुर सुविसाल॥[57]

यह ११६ छंदों का एक छोटा-सा रीति-ग्रन्थ है। इसका रचना-काल सं० १७२८ है[58]। इसमें तीन खण्ड हैं, जिनको स्तवक नाम दिया गया है। विषय-विभाजन इस प्रकार हुआ है—

प्रथम स्तवक	नायिका-वर्णन	पद्य संख्या ६१
द्वितीय स्तवक	नायक-वर्णन	पद्य संख्या २०
तृतीय स्तवक	अलंकार-वर्णन	पद्य संख्या ३५

अनूपरसाल की भाषा चलती हुई ब्रजभाषा है। विषय-वस्तु की दृष्टि से इसमें कोई विशेष बात नहीं है; पर रचना सरस और मार्मिक है। उदाहरण—

नैन भौंह चितवनि चलनि, बॉकी मुर मुसकानि।
अंगनि अति सुकुमारता, ऐसे ललित बखानि॥
रम्य वस्तु को देखि सुनि, ह्वै चंचल अति चित्त।
कवि-कोविद जन कै मतै, सोइ कुतूहल भित्त॥

(२७) नन्दराम—ये बीकानेर के महाराज अनूपसिंह (सं० १७२६-५७) के आश्रित थे। इन्होंने 'अलसमेदिनी' नामक एक रीति-ग्रंथ बनाया था, जिसकी एक हस्तलिखित प्रति बीकानेर के अनूप संस्कृत पुस्तकालय में है। इसकी पुष्पिका में इसे महाराजा अनूपसिंह की रचना बताया गया है,[59] पर वास्तव में यह नन्दराम की कृति है जैसा कि इसके एक दोहे से स्पष्ट है—

नृप अनूप के हुकुम ते, कोविद कवि नँदराम।
रस-मन्थन को सार ले, करत ग्रन्थ अभिराम॥[60]

५७. अ० सं०पु० बीकानेर की हस्तलिखित प्रति, पत्र १, पद्य ३ और ५।
५८. "संवत सतरै सै अठइसैं", तृतीय स्तवक, पद्य ३५।
५९. इति श्रीमन्महाराजा श्रीअनूपसिंह विरचितायामलसमेदिन्यामलंकारनिरूपण तृतीय प्रमोद सम्पूर्ण (हस्तलिखित प्रति पत्र ११)।
६०. अ० सं० पु० की हस्तलिखित प्रति, प्रथम प्रमोद, पद्य ५०।

अलसमेदिनी में तीन प्रमोद (खंड) हैं, और ११५ पद्य। इसके प्रथम प्रमोद में नायिका-वर्णन, द्वितीय प्रमोद में नायक-वर्णन और तृतीय प्रमोद में अलंकार-वर्णन है। ग्रन्थ की रचना जैन कवि उदयराज के उल्लिखित 'अनूप-रसाल' के अनुकरण पर हुई प्रतीत होती है, पर उसकी अपेक्षा विषय की गहराई इसमें कुछ अधिक है। इसके उदाहरण भी अपेक्षाकृत सुन्दर हैं। भाषा का नमूना यह है:—

पिय आवन सुनि हरष हिय, भूषन बसन सँवार।
होइ और की और जहँ, सो विभ्रम रस सार॥
जानबूझ अनजान ज्यौं, पिय स्यौं बूझै तीय।
यहै मुग्धता कवि कहै, सुनि राखौ धरि हीय॥

(२८) नरहरिदास—ये रोहड़िया शाखा के चारण लक्खाजी के पुत्र थे। इनका जन्म सं० १६४८ में और देहान्त सं० १७३३ में हुआ था।[६१] ये जोधपुर-नरेश महाराजा गजसिंह के आश्रित थे, जिन्होंने इनको टहला नामक एक ग्राम प्रदान किया था। ये दो भाई थे। छोटे भाई का नाम गिरधरदास था। नरहरिदास के कोई संतान नहीं थी। इस सम्बन्ध में इनकी भावज ने इन्हें एक दिन जब ताना दिया तब क्रुद्ध होकर इन्होंने उसे कहा कि संतान तो मेरे नहीं है, जिससे मेरे मरने के पश्चात् मेरा नाम दुनिया में रह सके। परन्तु विधाता ने मुझे कविता करने की अलौकिक शक्ति प्रदान की है, जिसके द्वारा मैं अपने नाम को अमर कर दूँगा। इसी प्रतिज्ञा को पूरा करने के लिए इन्होंने अपने विख्यात ग्रंथ 'अवतारचरित्र' की रचना की, जिससे अभी तक इनका नाम चला आता है।

'अवतारचरित्र' चारण जाति का एक अत्यन्त लोकप्रिय ग्रन्थ है। इसको पढ़े बिना एक चारण कवि की शिक्षा अपूर्ण समझी जाती है। इसकी चित्रित और अचित्रित दोनों प्रकार की हस्तलिखित प्रतियाँ एक भारी संख्या में राजस्थान के चारण-भाटों के घरों, राजभंडारों आदि में पड़ी मिलती हैं। यह ग्रन्थ ज्ञान-सागर प्रेस, बम्बई से प्रकाशित भी किया जा चुका है। इसमें रॉयल अठपेजी आकार के ५२० पृष्ठ हैं। छपाई बहुत अशुद्ध हुई है।

यह ग्रन्थ १७३३ में लिखा गया था, जैसा कि इसके अंतिम पद्य से विदित होता है—

---

६१. ओझा; उदयपुर राज्य का इतिहास, पृ० ५११।

सतरह सै तैतीस नियत संवत उतरायन।
रितु ग्रीषम आषाढ़ मास पख कृष्ण सुपायन॥
थनि आठै तिथि भौमवार सिधि जोग समंगल।
पुहकररन्य प्रसिद्ध मध्य पूजित भुवमंडल॥
अवतारचरित्र चांईस ए विजय सुजस जग वित्थर्यौ।
कवि दास राम नरहरि सुकवि कृत उधार अपनो कर्यौ॥[६२]

इसमें चौबीस अवतारों का सविस्तार वर्णन है। इसकी छंद संख्या १६००० से ऊपर है—

सोर सहस अरु आठ सैं, इकसठ ऊपर आनि।
छंद अनुष्टुप करि सकल, पूरन ग्रंथ प्रमानि॥[६३]

इसमें साटक, कवित्त, दोहा इत्यादि कई प्रकार के छंदों का प्रयोग हुआ है, पर पद्धरि छंद सबसे अधिक देखने में आता है। इसकी भाषा बहुत सीधी-सादी ब्रजभाषा है, जिसमें कहीं-कहीं राजस्थानी का भी पुट दृष्टिगोचर होता है। इसकी वर्णन-शैली इतनी सरस और रोचक है कि पढ़ने में किसी प्रकार की कठिनाई नहीं होती। पाठक बड़ी सरलतापूर्वक विषय-वस्तु को हृदयंगम करता हुआ आगे बढ़ता चला जाता है और उसे इस बात का भान ही नहीं रहता कि वह सैकड़ों छंदों को पारकर आगे निकल गया है। भाषा की ऐसी सरलता और वर्णन की ऐसी स्वाभाविकता बहुत कम चारण कवियों की रचनाओं में पाई जाती है।

परन्तु 'अवतारचरित्र' में भावों की मौलिकता का प्रायः अभाव-सा है। इसमें दिया हुआ रामवतार का वर्णन तो एक प्रकार से तुलसी-कृत रामचरित-मानस का अनुवाद ही प्रतीत होता है। उदाहरण—

चाप चढ़ावन कौ गनै, सकै न अवनि छुड़ाइ।
भइ उर्व्वी निर्व्वीर अब, कह्यौ जनक अकुलाइ॥
जौ जानत निर्व्वीर भुव, तौ न करित पन एहु।
पावक प्रजलत गेह अब, तब कहं पइयत मेहु॥
रहो कुँवारी कन्यका, लिखत बिरंच ललार।
पन कीनौ जौं परिहरौं, तो उपहास संसार॥[६४]

—अवतारचरित्र

६२. अवतारचरित्र, पृ० ५६६।
६३. वही; पृ० ५६६।
६४. वही; पृ० १२५।

रहा चढ़ाउब तोरब भाई। तिल भरि भूमि न सकेउ छुड़ाई ॥
अब जनि कोउ माखै भट मानी। बीर बिहीन मही मैं जानी ॥
तजहु आस निज निज गृह जाहू। लिखा न बिधि बैदेहि बिवाहू ॥
सुकृत जाय जो प्रन परिहरऊँ। कुँवरि कुँआरि रहै का करऊँ ॥
जो जनतेउँ बिनु भट महि भाई। तो प्रन करि करतेउँ न हँसाई ॥

—रामचरितमानस

और भी—

इहाँ रघुबीर सरित तट आए। बोहित लावहु कीर बुलाए ॥
आनत नाँहि नाव इहि ओरा। किरिवा राम अग्र कर जोरा ॥
बोले कीर तहाँ मृदु बानी। जगत प्रसिद्ध हमहुँ पुनि जानी ॥
राम-चरन-रज परस पुनीता। उड़ी सिला जब गगन अभीता ॥
द्विज सराप त्रिय पाहन देही। सो रज परसत मिली सनेही ॥
उपल तैं तोल कछु अधिकाई। गनियत काठ माँझ गरुवाई ॥
वहि गति जौ मम नाव उड़ाई। बामा पुत्र मरहि बिललाई ॥
पुनि हौं दीन नाव कहँ पाऊँ। जन कुटुंब किहि आस जिवाऊँ ॥[६५]

—अवतारचरित्र

माँगी नाव न केवट आना। कहै तुम्हार मर्म मै जाना ॥
चरण-कमल-रज कहँ सब कहई। मानुस करनि मूरि कछु अहई ॥
छुवत सिला भइ नारि सुहाई। पाहन ते न काठ कठिनाई ॥
यह प्रति पालहुँ सब परिवारू। नहि जानहुँ कछु आन कबारू ॥
तरनिहु मुनि घरनी होइ जाई। बाट परै मोरि नाव उड़ाई ॥

—रामचरितमानस

जहाँ कहीं तुलसी-कृत रामचरितमानस से भिन्नता है वहाँ केशव-कृत रामचन्द्रिका को आधार बनाया गया है। जैसे—

मुहि देख कहा कृत मन मलीन। लै करै अंग ही अंग लीन ॥
मम बचन सुनहु सीता समोह। कहा राम काज एतो अदोह ॥
आकास बास देखै न कोइ। संपखै बातुल होइ सोइ ॥
कृतघ्न कुदानि कुकन्या कुकंत। अपैस सबै तिहि छलै अंत ॥
मुंडी जटीनि कौं महा मित्र। चाहै अनाथ रीझै चरित्र ॥
दूखै जु तुमहि तिहिं लोक देइ। अंतर उदास उहि चरित एहि ॥

६५. अवतारचरित्र; पृ० १९१।

निर्गुण अनाथ लीजै न नाम । ठिक नाहि न जाको ठौर ठाम ॥
जाके न मात कोउ पिता जान । नित खोज करत सुनि मुनि निदान॥"[६६]
—अवतारचरित्र

सुनो देवि मोपै कछू दृष्टि दीजै । इतो सोच तो राम काजै न कीजै ॥
बसैं दंडकारण्य देखे न कोऊ । जु देखे महा बावरो होय सोऊ ॥
कृतघ्नी कुदाता कुकन्याहि चाहै । हितू नग्न मुंडीन ही को सदा है ॥
अनाथै सुन्यों मै अनाथानुसारी । बसै चित्त दंडी जटी मुंडधारी ॥
तुम्हें देवि दूखै हितू ताहि मानै । उदासीन तो सो सदा ताहि जानै ॥
महा निर्गुणी नाम ताको न लीजै । सदा दास मोपै कृपा क्यों न कीजै ॥
—रामचंद्रिका

कहते हैं कि अवतार-चरित्र' के अतिरिक्त नरहरिदास ने १६-१७ ग्रंथ और भी बनाये थे पर उन सबका पता नहीं लगता । केवल नीचे लिखे छह ग्रंथ मिलते हैं—

(१) दसमस्कन्ध भाषा, (२) रामचरित्र कथा, (३) अहिल्या-पूर्व-प्रसंग, (४) वाणी, (५) नरसिंह-अवतार-कथा और (६) अमरसिंह रा दूहा[६७] ।

(२९) मानजी—हिन्दी-साहित्य में कवि मानका नाम बहुत प्रसिद्ध है । परन्तु इनका जीवन-वृत्तान्त अभी तक अन्धकार में है । मिश्रबन्धुओं ने इनका कविता-काल सं० १७१७ माना है और लिखा है कि इन्होंने 'राजविलास' नाम का एक ग्रन्थ बनाया, जिसमें महाराणा मानसिंह का वर्णन है[६८] । लेकिन उनके ये दोनों ही कथन निर्मूल हैं । मानजी का कविता-काल सं० १७१७ नहीं है, न 'राजविलास' में महाराणा मानसिंह का वर्णन है । मेवाड़ में मानसिंह नामका कोई राजा हुआ ही नहीं । इसी प्रकार इनकी जातिके सम्बन्धमें भी बहुत भ्रम फैला हुआ है । कोई भाट और कोई चारण बताते हैं । वास्तव में ये जैन यति थे जैसा कि कविराजा बाँकीदास ने लिखा है—"मानजी जती राजविलास नाँव रूपक राणा राजसिंह री वणायौ"[६९] ।

६६. अवतारचरित्र, पृ० २६१ ।

६७. यह अन्तिम ग्रन्थ डिंगल का है ।

६८. मिश्रबन्धु-विनोद; पृ० ४६२ (भाग दूसरा) ।

६९. राजस्थानी वातां; सूरजमल-नागरमल पुस्तकालय कलकत्ता की हस्तलिखित प्रति; वात-संख्या १११ ।

उदयपुर के सरस्वती भंडार में 'राजविलास' की एक हस्तलिखित प्रति सुरक्षित है। वह सं० १७४६ की लिखी हुई है और इस ग्रन्थ की मूल अथवा प्राचीनतम प्रति है। उसकी पुष्पिका में इनका नाम मानसिंह लिखा हुआ है[७०]। इससे मालूम पड़ता है कि इनका पूरा नाम मानसिंह था और कविता में ये अपना नाम कवि मान लिखा करते थे।

कवि मान-कृत 'राजविलास' नागरीप्रचारिणी सभा काशी द्वारा प्रकाशित किया जा चुका है। इसमें मेवाड़ के महाराणा राजसिंह (प्रथम) का जीवन-चरित्र वर्णित है। इसकी रचना का प्रारम्भ सं० १७३४ में हुआ था—

सुभ संवत दस सात बरस चौंतीस बधाई।
उत्तम मास असाढ़ दिवस सत्तमि सुखदाई॥
बिमल पाप बुधवार सिद्धिवर जोग संपत्तौ।
हरपकार रिपि हस्त रासि कन्या ससि रत्तौ॥
तिन द्यौस मात त्रिपुरा सुतवि कीनों ग्रन्थ मंडान कवि।
श्रीराजसिंह महाराण को रचियहि जस जौं चंद रवि॥[७१]

इसमें अठारह खण्ड हैं। ये विलास कहे गये हैं। इसकी छंद-संख्या १५२७ है। प्रथम विलास में सरस्वती-वंदना के अनन्तर चित्तौड़ के मोरी राजा चित्रांगद और बापा रावल का संक्षिप्त इतिहास दिया गया है, जो दन्तकथाओं पर आधारित है। द्वितीय विलास में बापा रावल से लेकर महाराणा राजसिंह तक के मेवाड़ के राजाओं की वंशावली दी गई है। यह वंशावली अशुद्ध है और इतिहास में दी हुई वंशावली से मेल नहीं खाती। तदुपरान्त १४८वें छन्द से महाराणा राजसिंह का जीवन-वृत्तान्त प्रारम्भ होता है, जो ठेठ अन्तिम विलास तक चला गया है। यह समूचा वृत्तान्त बहुत रोचक एवं काव्य-गुणों से ओत-प्रोत है और इसमें ऐतिहासिक तथ्यों का बहुत संरक्षण किया गया है। महाराणा राजसिंह की प्रशंसा में कहीं-कहीं अत्युक्ति अवश्य हुई है। जैसे—

अजमेरह अग्गरौ धाक दिल्ली धर धुज्जै।
रिनथंभह रलतलै लच्छि लाहौर लुटिज्जै॥

---

७०. इति श्री राजविलास ग्रंथ संपूर्णः श्रीरस्तु। लिखितं कवि श्रीमानसिंहजी। श्रीचित्रकूटाधिपति राणा श्रीजयसिंहजी विजयमान राज्ये सं० १७४६ कार्तिक दीपमालिका बुधवासरे...।

७१. राजविलास, पृ० ८।

खुरासान खंधार थाट मुलतान थरक्कै।
चंदेरी चलचलय भीति उज्जैनि भरक्कै॥
मंडवह धार धरनी मिलय डुलत देस गुजरात डर।
औदकै साहि औरंग अति राण सबल राजेस वर॥[७२]

परन्तु यह राजाश्रित कवियों की पम्परागत काव्य-शैली का अनुकरण मात्र है। इस प्रकार का अत्युक्तिपूर्ण वर्णन चंद, भूषण इत्यादि हिन्दी के और भी कई कवियों ने किया है।

राजविलास की भाषा ब्रजभाषा है। परन्तु इसमें डिंगल भाषा के शब्दों का भी प्रचुर प्रयोग हुआ है। इसीलिये कुछ लोग इसे डिंगल का ग्रंथ मानते हैं। परन्तु यह डिंगल का ग्रन्थ नहीं है; पिंगल का है। क्योंकि इसके व्याकरण का ढाँचा ब्रजभाषा का है।

इसकी भाषा बहुत प्रौढ़, परिमार्जित एवं अलंकार-बहुल है। उसमें थोड़ी-सी कठोरता अवश्य है, जो वीर रस के वर्णन में तो अरुचिकर प्रतीत नहीं होती, पर शृंगार रस के वर्णन में कानों पर हलका-सा आघात करती है। यथा—

कहियै श्री राजकुँआरी, अच्छी अपछरि अनुहारी।
वपु सोभा कंचन वरनी, हरिहर ब्रह्मा मनहरनी॥
सचि सुरभि सकोमल सारी, कच्छरि मनु नागिनि कारी।
सिर मोती माँग सुसाजैं, राखरी कनकमय राजै॥
लखि सीस फूल रवि लोपै, अष्टमि ससि भाल सु ओपै।
बिन्दुली जराउ बखानी, अलि भृकुटी ओपमा आनी।
छवि अंजन दृग मृगछौना, तपनीय श्रुति जरित तरौना॥
नकबेसरि सोहति नासा, पयनिधि सुत लाल प्रकासा॥[७३]

राजविलास में प्रसाद एवं माधुर्य की मात्रा न्यून और ओज की अधिक है। वर्णन की स्वाभाविकता, कथा का संगठन, इतिहास की सत्यता आदि गुणों का जो सुन्दर स्वरूप इसमें प्रस्तुत किया गया है वह बहुत ही प्रभावपूर्ण और प्रांजल है। महाराणा राजसिंह अपने समय के विख्यात हिन्दू नेता थे। ऐसे वीर सेनानी का जीवनचरित्र जिस तल्लीनता से लिखा जाना

---

७२. वही; २६२।
७३. वही; पृ० १०४।

चाहिये वैसी ही तल्लीनता से इसमें लिखा गया है। सचमुच यह हिंदी का गौरव ग्रंथ है।

(३०) कुलपति मिश्र—ये जयपुर के महाराजा रामसिंह (प्रथम) के आश्रित कवि जाति के माथुर चौबे थे। ये आगरा के रहनेवाले थे, जहाँ से आकर जयपुर में बस गये थे। अपने 'संग्रामसार' ग्रंथ में इन्होंने अपना थोड़ा-सा परिचय दिया है जिसके अनुसार इनका वंश-क्रम इस प्रकार बनता है: अभयराम-तारापति-मयाराम-हरिकृष्ण-परशुराम-कुलपति[७४]।

कहा जाता है कि कुलपति मिश्र 'बिहारी-सतसई' के रचयिता कविवर बिहारीलाल के भानजे थे[७५]। यह भी प्रसिद्ध है कि जयपुर के मिर्जा राजा जयसिंह ने इनको जागीर और कविवर की पदवी प्रदान की थी। परन्तु इन बातों का कोई विश्वसनीय प्रमाण अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ। ये तैलंग भट्ट पंडितराज जगन्नाथ के शिष्य थे, जिनसे इन्होंने संस्कृत और भाषा का ज्ञान प्राप्त किया था। इनका रचना-काल सं० १७२४-४३ है। इनके वंशज जयपुर में विद्यमान हैं। कुछ अलवर में भी पाये जाते हैं।

कुलपति के वंशवालों का कहना है कि इन्होंने ५० ग्रंथ बनाये थे। परन्तु इस समय इनके सभी ग्रंथ नहीं मिलते। केवल १० ग्रन्थों का पता है, जिनके नाम ये हैं—

(१) रसरहस्य, (२) दुर्गाभक्तिचन्द्रिका, (३) संग्रामसार, (४) युक्ति-तरंगिणी, (५) नखशिख, (६) दुर्गासप्तशती का अनुवाद, (७) सुरूप-कुरूप-संवाद, (८) आसाम की बाद, (९) सेवा की बाद और (१०) विष-अमृत का झगड़ा।

इनमें रसरहस्य, संग्रामसार, और युक्तितरंगिणी ये तीन कुलपति मिश्र की अत्युत्कृष्ट रचनाएँ हैं। शेष सामान्य कोटि की हैं। रसरहस्य एक रीति ग्रंथ है। यह सं० १७२७ में रचा गया था। इसमें आठ अध्याय हैं, जिनमें काव्य के विभिन्न अंगों का अत्यन्त मौलिक एवं शास्त्रीय विधि से विवेचन किया गया है। 'संग्रामसार' महाभारत के द्रोण-पर्व का पद्यानुवाद है। इसका निर्माण महाराजा रामसिंह की आज्ञा से सं० १७३३ में हुआ

---

७४. प्रथम परिच्छेद, पद्य १५-१६।

७५. मिश्रबंधु-विनोद, पृ० ४७२ (दूसरा भाग)।

था[७६]। यह राजस्थान का बहुत लोकप्रिय ग्रंथ है। 'युक्तितरंगिणी' में सात सौ दोहे हैं। ग्रंथ शृंगार रस की उक्तियों से लबालब भरा हुआ है।

कुलपति मिश्र की भाषा शुद्ध ब्रजभाषा है। मँजाई उसकी अवश्य कुछ कम हुई है, परन्तु है वह बहुत व्यवस्थित और विषयानुकूल। इनकी कविता ललित, कलापूर्ण और प्रसाद गुण-समन्वित है।

(३१) दयालदास—ये मेवाड़-निवासी जाति के राव थे। इनका लिखा हुआ 'राणारासौ' नाम का एक ग्रंथ मिला है, जिसमें मेवाड़ का इतिहास वर्णित है। इस ग्रंथ की एक हस्तलिखित प्रति प्राप्त है, जो सं० १९४४ की लिखी हुई है। यह उदयपुर के महता जोधसिंह के पुस्तकालय में वर्तमान है। इसकी पुष्पिका में इसको सं० १६७५ की लिखी हुई प्रति की प्रतिलिपि बताया गया है:—

"सं० १६७५ का माहा विद ५ सुभं लिखतां भाई सोभजी। यह राणारासा की पुस्तक जिला रासमी के परगना गलूंड के फूलेस्या मालियों के राव दयाराम की पुस्तक सं० १६७५ की लिखी हुई से राजस्थान उदयपुर में गोलवाल विष्णुदत्त ने सं० १९४४ का मगसर विद ४ के दिन पंडितजी श्रीमोहनलालजी-विष्णुलालजी पंड्या के पुस्तकालय के लिये लिखी।"

इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि 'राणरासौ' सं० १६७५ में अथवा इससे पूर्व लिखा जा चुका था, जो असंभव है। क्योंकि इसके अंतिम भाग में महाराणा कर्णसिंह (सं० १६७६-८४) का विस्तारपूर्वक वर्णन दिया हुआ है और इसके प्रारंभ में मेवाड़ के महाराणाओं की जो वंशावली दी हुई है उसमें महाराणा जगतसिंह (सं० १६८४-१७०९) महाराणा राजसिंह (सं० १७०९-३७) तथा महाराणा जयसिंह (सं० १७३७-५५) का नामोल्लेख है, जो सब सं० १६७५ के बाद में हुए हैं:—

सीसोदा जगपति नृपति, ता सुत राजड़ रानु।
तिनके निरमल वंस को, कह्यौ प्रसंसु बखानु॥
जगतस्यंध घर जनमियौ, राजस्यंघ अवतार।
बीस चारि सुभ आनियो, कीने भ्रम्म अपार॥
राजस्यंघ के पाट अब, बैठे जैस्यंघ रान।
धरा ध्रम्म अवतार लै, मनौं भान के भान॥[७७]

७६. सत्रहसै तेतीस सम, गुन जुत फागुन मास।
कृष्ण पक्ष तिथि सप्तमी, कियो ग्रंथ परकास॥

७७. हस्तलिखित प्रति, पत्र १ और ६।

यदि यह ग्रंथ सं० १६७५ से पूर्व लिखा गया होता तो इसमें उपरोक्त महाराणाओं का उल्लेख होना असंभव था। अतः पुष्पिका में जो संवत् दिया गया है वह भ्रमात्मक है और राव-भाटों की करतूत जान पड़ती है। वास्तव में यह ग्रंथ महाराणा जयसिंह के शासन-समय में लिखा गया है और इसका रचना-काल सं० १७३७ और सं० १७५५ के मध्य में है। मिश्रबंधुओं ने इसका प्रणयन-काल सं० १६७७ लिखा है[७८]। परन्तु उल्लिखित कारणों से वह भी अशुद्ध है।

राणारासौ के अतिरिक्त दयालदास का लिखा हुआ दूसरा कोई ग्रंथ नहीं मिलता। 'मिश्रबंधु-विनोद' में इनके रचे दो ग्रंथ और बताये गये हैं—(१) अकल को अंग और (२) रामी को अंग[७९]। परन्तु ये ग्रंथ इनके नहीं हैं। दयालदास नामक एक रामस्नेही संत के लिखे हुए हैं, जिनको भ्रम से इनका मान लिया गया है।

पृथ्वीराज रासौ की रचना के पश्चात् उसकी वर्णन-शैली पर ऐतिहासिक काव्य लिखने की राजस्थान के चारण, भाट, राव आदि जातियों के लोगों में एक प्रथा-सी चल पड़ी थी। यह राणारासौ उसी का नमूना है। इसमें मेवाड़ का इतिहास दिया गया है, जो ८७५ छंदों में समाप्त हुआ है। इसके आदि में सृष्टिकर्त्ता ब्रह्मा से लेकर महाराणा जयसिंह तक के राजाओं की वंशावली दी गई है, जिसमें अनेक नाम कपोल-कल्पित हैं। तदनन्तर बापा, कुंभा, प्रताप इत्यादि कुछ मुख्य-मुख्य राजाओं का सविस्तर वृत्तान्त दिया है। विशेषकर इनकी लड़ाइयों का वर्णन बहुत ही विस्तार के साथ हुआ है। एक नई बात इसमें यह मिलती है कि बापा रावल को एकलिंग का पुत्र बताया गया है—

> एकलिंग के एक सुतु, ताको बापा नामु।
> रावल बखत बिलंद हुव, अपूरब आठौं जामु ॥[८०]

इसी प्रकार की और भी अनेक त्रुटियाँ इसमें पाई जाती हैं। अतएव इतिहास की दृष्टि से यह एक बिलकुल भ्रष्ट रचना है।

परन्तु साहित्य की दृष्टि से यह ग्रंथ पढ़ने योग्य है। इसकी भाषा में सरसता और प्रवाह है। वर्णन में गति और वेग है—

---

७८. मिश्रबन्धु-विनोद, पृ० ३९०।

७९. वही, पृ० ३९०।

८०. हस्तलिखित प्रति, पत्र ३।

धमक धसति धर धरति, धरनी धीरजु तजि।
फटति फुटति छवि छुटति, टुटति खुर खुटति जुटति लजि ॥
चँपति कँपति तन तपति, ढंपति जल छपति उछरति।
ठिलति खिलति बिलबिलति, मिलति तल वितल तुच्छ भति ॥
पायांन रान अमरेस दल, कवि दयाल कल कित्ति कहि।
छिन छिन छिपंत कच्छप छकहु, ज्वार हथ्थ जिमि मथ्थ अहि ॥[८१]

(३२) हरिनाम—ये जयपुर राज्यांतर्गत खंडेला (बड़ा पाना) के निवासी और वहाँ के राजा केसरीसिंह के आश्रित थे। ये जाति के पारीक ब्राह्मण थे। शांडिल्य इनका गोत्र था। रचनाकाल सं० १७५४ है।[८२] इन्होंने 'केसरीसिंह-समर' नाम का एक ग्रंथ बनाया, जिसमें शेखावत-वंश-प्रवर्तक राव सेखाजी से आरंभ कर राजा केसरीसिंह तक के इतिहास का वर्णन किया गया है। केसरीसिंह ने औरंगजेब की हिंदू-हित-विघातिनी नीति का विरोध किया था। इस पर वह इनसे नाराज हो गया और सं० १७५४ में अपने सेनापति अब्दुल्ला खाँ को एक बड़ी सेना देकर इनके विरुद्ध लड़ने को भेजा। खंडेले के पास हरीपुरे के मैदान में भारी संग्राम हुआ, जिसमें केसरीसिंह अपने अनेक योद्धाओं सहित वीरगति को प्राप्त हुए और उनकी चार राणियाँ उनके साथ सती हुईं।

केसरीसिंह-समर में छप्पय, हनूफाल, मोतीदाम, भुजंगप्रयात आदि विविध छंदों का प्रयोग किया गया है। इसकी पद्य-संख्या ५९१ है। ग्रंथ यद्यपि वर्णनात्मक है तथापि मार्मिक स्थलों पर कवि ने अपनी सहज रससिक्त लेखनी से अनेक सुन्दर चित्र उपस्थित किये हैं। युद्ध-वर्णन, सतीचरित्र-वर्णन आदि बड़े ही मनोहारी हैं। इसी प्रकार सती-परी-प्रश्नोत्तरी के वर्णन में भी कवि ने अपनी स्वाभाविक सूक्ष्मदर्शिता और काव्यशक्ति का अच्छा परिचय दिया है। रचना का नमूना यह है—

चढ़िकै तत्र राज निसांन कियै, हय ऊपर पाखर डारि दियै।
सब ही अंग सूरन कौच कसै, जमराज भयंकर रूप जिसै ॥
जरिकै गज पाखर साज बनै, मनु पाय चलै सु पहार घनै।
सजिकै सब तोपन अग्ग कियै, उड़ि खूरन धूरिन छाय रियै ॥[८३]

८१. वही; पत्र ८९।
८२. उपाध्याय प्रगट्यौ जवै कुल पारीख उजाल।
नाम कत्त साँचौ कह्यौ सवत चौवन साल ॥
—केसरीसिंह-समर, दूसरा प्रकरण, छंद २०९
८३. केसरीसिंह-समर, पहला प्रकरण, छंद २०९।

(३३) अभयराम—ये सनाढ्य जाति के कवि केशवदास के पुत्र थे और रणथंभौर के समीपवर्ती वैहरन गाँव के रहनेवाले थे।[८४] इनके बनाये 'अनूप-श्रृंगार' ग्रंथ का पता है। यह सं० १७५४ में रचा गया था[८५]। इसके अध्ययन से विदित होता है कि ये बीकानेर के महाराजा अनूपसिंह के बड़े कृपापात्र थे और उन्होंने इनको 'कविराय' की पदवी प्रदान की थी[८६]। उन्हीं की आज्ञा से इन्होंने इस ग्रंथ का निर्माण किया था।

अनूपश्रृंगार रीति-काव्य है। इसमें ५५० से कुछ ऊपर छंद हैं, जिनमें से आदि के ४० छंदों में कवि ने अपने आश्रयदाता महाराजा अनूपसिंह और उनके पूर्ववर्ती राजाओं का वृत्तांत दिया है। तदनंतर अपना वंश-परिचय देकर मुख्य विषय प्रारम्भ किया है।

इसकी भाषा राजस्थानी से प्रभावित ब्रजभाषा है। रचना मधुर और काव्य-कला-पूर्ण है। उदाहरण—

मोहत मुपेत टीकी लगति ललाट नीकी
हँसति कपोल गाड़ मुख सोत साल की।
कहै अभैराम कंठ मोतिन की माल उर
बीच सुमनि को हार गोरी छवि हाल की॥
जैसी चंद चाँदनी में बनी है सुपेत सारी
चली है प्यारी हो बड़ाई हंस चाल की।
कहाँ लौं बखानौं अभिमार यह रूप चारु
ससि हू की जोति सो मिली है जोत भाल की॥

---

८४. स्वाभ पदारथ चंद ये, जिनके कैसवदास।
मेर साहि सब बिधि भले, भाषा चतुर निवास॥
अभैराम जिनके भये, सब कवि ताके दास।
रणथभौर गढ़ की तनी, गाँव बैहरन वास॥
जाति सनावढ़ गोति करैया, अभै नाम हरि दीनौं।
जासौं कृपा करि महराजा, जब गिरथ यह कीनौं॥
—अनूपरसाल, पद्य ४३-४५

८५. सवत सतरैसे चौपना, ग्रन्थ जन्म जग जानि।
—अनूपरसाल, पद्य ४८

८६. कृपा करि महाराज ने, बकस्यौ बहुत बनाय।
रोग हरे सब दुख गयौ, नाम दियो कविराय॥
—अनूपरसाल, पद्य ४७

(३४) मुरली—ये मेवाड़ राज्य के कोठारिया ठिकाने के रावत उदयभान के आश्रित थे। इनके लिखे 'अश्वमेध-कथा' और 'त्रिया-विनोद' नामक दो ग्रन्थों का पता है[८७]। लेकिन इनसे इनके व्यक्तिगत जीवन पर विशेष प्रकाश नहीं पड़ता। केवल इतना ही सूचित होता है कि उक्त ग्रन्थों को इन्होंने क्रमशः मेवाड़ के महाराणा जयसिंह और कोठारिया के स्वामी चौहाण उदयभान के लिये बनाया था।

'अश्वमेध-कथा' कवित्त, सवैया, छप्पय, दोहा आदि विविध छंदों में लिखा हुआ एक वर्णनात्मक ग्रन्थ है। इसकी छंद संख्या ७९३ है। यह सं० १७५५ में लिखा गया था[८८]। इसमें धर्मराज युधिष्ठिर के अश्वमेध-यज्ञ का वर्णन है, जो बहुत ही रोचक एवं प्रभावोत्पादक है।

'त्रिया-विनोद' ग्रन्थ बहुत बड़ा है। इसमें १५८१ छंद हैं। इसका निर्माण-काल सं० १७६३ है[८९]। इसमें मदनपुरी के श्रीपाल नामक एक सेठ की व्यभिचारिणी स्त्री की कहानी है। कहानी काल्पनिक है। इसके अंतर्गत कई कथा-उपकथाएँ हैं, जिनमें स्वैरिणी स्त्रियों का चरित्रोद्घाटन किया गया है।

ये दोनों ग्रंथ राजस्थानी से प्रभावित ब्रजभाषा में हैं। विषय की गहराई इनमें कुछ कम देख पड़ती है, पर हैं दोनों ही बहुत सरस और मार्मिक।

(३५) आनन्दराम—नाजर आनन्दराम बीकानेर के महाराजा अनूपसिंह के मुसाहब थे[९०]। इनका रचना-काल सं० १७११ है। ये संस्कृत, ब्रजभाषा, राजस्थानी आदि कई भाषाओं के विद्वान् थे और गद्य एवं पद्य दोनों लिखते थे। इनके रचे तीन ग्रंथ मिले हैं—भगवद्गीता भाषा टीका, गीता माहात्म्य भाषा टीका और एकादशी कथा भाषा।

उपर्युक्त तीनों ग्रंथ ब्रजभाषा गद्य में हैं और इस दृष्टि से बहुत उपयोगी हैं। गद्य का नमूना यह है—

---

८७. राजस्थान में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज, भाग १, पृ० १० और ३९।

८८. सतरैसे पच्चावने, कौतुक उत्तम वास।
बदि पख आठम वार रवि, कीनौ ग्रंथ प्रकास॥
—अश्वमेधकथा, पद्य ७९१

८९. संमत सत्रे तीरषट, कातिक सुदि सुभ मास।
वार बुद्ध तिथि सप्तमी, कीनौ ग्रंथ प्रकास॥
—त्रियाविनोद, पद्य १३

९०. ओझा; बीकानेर राज्य का इतिहास, पृ० २८५।

प्रथम श्रीकृष्ण जू नै विचार किया। अर्जुन कौ देह अरु आत्म कै विवेक तै सोक उपज्यौ। ऐसे जानि के ज्ञानोपदेस के निमित्त श्री भगवान कहते हैं। हे अर्जुन जा वस्तु कौ सोक कर्यो ना चाहीयै ता वस्तु कौ तूँ सोक करत है। अरु तूँ बुद्धिवंत कैसौ वचन कहत है पै बिनु समझ्यां हठ करे है। तातै जे बुद्धिवंत विवेकी हैं ते मुए अरु जीवते को सोच नाहीं करत काहे तै जनम मरन दोनों मिथ्या हैं।

(३६) प्रियादास—ये गलता के प्रसिद्ध महात्मा कृष्णदास पैहारी की शिष्य-परंपरा में भक्तवर नाभादास के चेले थे। इनके बनाये दो ग्रंथ मिलते हैं—(१) भक्तमाल की टीका[९१] और (२) भागवत भाषा[९२]। इनमें 'भक्तमाल की टीका' हिंदी साहित्य की बहुत प्रसिद्ध रचना है। इसका नाम 'भक्तिरसबोधिनी टीका' है। इसका निर्माण इन्होंने अपने गुरु नाभादास के इच्छानुसार सं० १७६९ में किया था, जैसा कि इनके अंतिम छंद से विदित होता है—

नाभा जू को अभिलाप पूरण लै कियो मैं तो
 ताकी साखी प्रथम सुनाई नीके गाइ कै।
भक्ति विश्वास जाके ता ही को प्रकास कीजै
 भीजै रंग हियो लीजै तनक लड़ाई कै॥
संवत प्रसिद्ध दस सात सत उनहत्तर
 फाल्गुण मास वदी सप्तमी बिताई कै।
नारायणदास सुख-रासि भक्तमाल लै कै
 प्रियादास दास उर बसौ रहौ छाई कै॥

भक्तिरसबोधिनी टीका में ६२४ छंद हैं, जिनमें प्रायः सभी घनाक्षरी हैं। मूल ग्रंथ में जिन भक्तों का वर्णन बहुत संक्षेप में हुआ है उन्हीं का प्रियादास ने विस्तारपूर्वक कथन किया है और उनके विषय में कुछ नवीन बातें भी लिखी हैं। इन नवीन बातों में कुछ ठीक हैं, पर अधिकांश ऐसी हैं जो इतिहास की कसौटी पर खरी नहीं उतरतीं। उदाहरण के लिये, मीराँबाई के प्रसंग को लीजिये। इसमें इन्होंने मुगल सम्राट् अकबर और मीराँ की भेंट का वर्णन किया है, जिसमें काल-दोष स्पष्ट है। वास्तव में मीराँ-बाई और अकबर समकालीन नहीं थे। कुछ अन्य भक्तों के विषय में भी

९१. श्यामसुन्दरदास; हस्तलिखित हिन्दी पुस्तकों का संक्षिप्त विवरण, पृ० ९२।
९२. मिश्रबन्धु-विनोद, प्रथम भाग, पृ० ३५९।

इसी तरह की कपोल-कल्पित और अनैतिहासिक बातें लिखी मिलती हैं, जो उनकी भक्ति की महिमा को बढ़ाकर बतलाने के लिये लिखी गई प्रतीत होती हैं। इतना सब होते हुए भी ग्रंथ उपयोगी और पठनीय है।

(३७) **मानसिंह**—ये उदयपुर के रहनेवाले जैन कवि थे। स्वर्गीय बाबू जगन्नाथदास रत्नाकर ने इनको विजयगच्छ ग्राम का[९३] निवासी और मिश्रबन्धुओं ने विजयगढ़[९४] का रहनेवाला बताया है। इन दोनों का आधार मानसिंह-कृत 'बिहारी-सतसई की टीका' की एक हस्तलिखित प्रति की यह पुष्पिका है—

"इति श्री बिहारीदास कृत सतसई। दोहरा सम्पूर्ण सतसईरा। टीका कृतं विजैगछै कवि मानसिंह जू। टीका कीनी उदयपुर मध्ये। ग्रंथाग्रंथ ४५०५ इति संख्या। सम्पूर्ण। शुभं भवतु। श्री श्री सं० १७७२ वर्षे वैशाख वदि कृष्ण पक्षे द्वितीयायां लिखतं प्रतापविजय लिपिकृतं अजमेर मध्ये। श्रीरस्तु॥ श्री॥"[९५]

परन्तु 'विजैगच्छ' किसी ग्राम-विशेष का नाम नहीं है। वह जैन यतियों के एक गच्छ अर्थात समुदाय-विशेष का नाम है। इस प्रकार के गच्छ जैन समाज में ८५ हैं[९६]। जैसे, तपागच्छ, खरतरगच्छ, सागरगच्छ, विमलगच्छ आदि। अतएव रत्नाकरजी की भूल तो स्पष्ट ही है। मिश्रबन्धुओं की भूल 'विजयगच्छ' के 'च्छ' को 'ढ़' पढ़ने के कारण हुई है। इसलिये इस पर टीका-टिप्पणी व्यर्थ है।

मानसिंह नाम के एक जैन कवि मेवाड़ में और भी हो गये हैं, जिनका लिखा 'राजविलास' ग्रंथ प्रसिद्ध है। उनका परिचय पहले दिया जा चुका है। वे इनसे भिन्न कवि हैं। परन्तु रत्नाकरजी ने इन दोनों को एक व्यक्ति माना है और यह मानकर 'राजविलास' के रचनाकाल (सं० १७३४) को 'बिहारी-सतसई की टीका' का भी रचनाकाल स्थिर किया है[९७]। परन्तु यहाँ उन्होंने भूल की है। 'राजविलास' के रचयिता मानसिंह और 'बिहारी सतसई

९३. नागरीप्रचारिणी पत्रिका, भाग ९, अंक १, पृ० १०१।

९४. मिश्रबन्धु-विनोद, पृ० ७७२ (भाग दूसरा)।

९५. नागरीप्रचारिणी पत्रिका, भाग ९, अंक १, पृ० १०२।

९६. रिपोर्ट मर्दुमशुमारी राज मारवाड़, सन् १८९५ (पृ० १३१) में ८९ गच्छों के नाम दिये गये हैं। परन्तु इनके अलावा भी कुछ गच्छ और हैं।

९७. नागरीप्रचारिणी पत्रिका, भाग ९, अंक १, पृ० १०१ १०३।

के टीकाकार मानसिंह दोनों एक व्यक्ति नहीं हो सकते। क्योंकि इन दोनों की भाषा-शैली सर्वथा भिन्न है। राजविलास की भाषा बहुत प्रौढ़ एवं परिष्कृत है और उसमें सैकड़ों शब्द राजस्थानी भाषा के प्रयुक्त हुए हैं। जैसे—खाल, ठाण, सिंघला, पंखाला, दुहेली, कंकाल, दकबक, पांथल, खेतल, पसाव, अरदास, नाहर, आल, थाट, रिधू, मैंगल, अबीह, नेगी, उतबंग इत्यादि। इसके विपरीत 'बिहारी-सतसई' की टीका की भाषा बहुत शिथिल है, पर वह शुद्ध ब्रजभाषा है और उसमें एक शब्द भी कहीं राजस्थानी भाषा का प्रयुक्त नहीं हुआ है।

मिश्रबन्धुओं ने इन दोनों मानसिंहों को दो भिन्न व्यक्ति माना है। परन्तु उन्होंने एक दूसरा भ्रम पैदा कर दिया है। वह यह कि 'बिहारी-सतसई' के टीकाकार, मानसिंह का रचनाकाल सं० १८२३ लिख दिया है[१८], जो एक भारी भूल है। क्योंकि 'बिहारी-सतसई की टीका' की दो ऐसी हस्तलिखित प्रतियाँ मिली हैं, जो सं० १८२३ से बहुत पहले की लिखी हुई हैं। एक की पुष्पिका ऊपर उद्धृत की जा चुकी है। दूसरी उदयपुर के सरस्वती भंडार में है। उसका लिपिकाल सं० १७७२ है[१९]। अतः मिश्रबन्धुओं का बताया हुआ संवत् ठीक नहीं है। अनुमानतः इनका रचना-काल सं० १७७० है।

मानसिंह-कृत 'बिहारी-सतसई की टीका' एक साधारण श्रेणी की रचना है। यह ब्रजभाषा गद्य में है। इसमें बिहारी के ७१२ दोहों की टीका की गई है। टीका क्या है, दोहों के अर्थ अपनी समझ के अनुसार कर दिये गये हैं, जिनसे बिहारी के मर्म को समझने में विशेष सहायता नहीं मिलती। मालूम होता है कि मानसिंह 'बिहारी-सतसई' को नायक-नायिका-भेद का ग्रंथ समझते थे। अतएव उन्होंने बिहारी के प्रत्येक दोहे के भाव को खींचखाँच कर राधाकृष्ण पर घटाने की चेष्टा की है, जिससे अनेक स्थानों पर अर्थ का अनर्थ हो गया है। उदाहरण—

कहा भयो जो बीछुरे, मो मन तो मन साथ।
उड़ी जाउ कितऊ तऊ, गुड़ी उड़ायक हाथ॥

---

१८. मिश्रबन्धु-विनोद, पृ० ७७२।

१९. "इति श्री बिहारीकृत सतसही सपूर्णः समाप्त स० १७७२ वर्षे काती सुदि ८ शुक्रवासरे लिखतिया" (पत्र ११८)

टीका

श्रीकृष्ण मथुरा नगर तैं श्रीराधाजु कौं संदेस कहि धीरज दिढ़ावै है ॥ कहा० ॥ मो म० ॥ तुम्ह हम्ह बिछुरे तो कहा भयो। तुम्हारो हमारो तो मन एक ही संग रहै है ॥ उड़ी जा० कितहूँ दूरंतर उड़ी जाऊं हूँ ॥ गुड़ी उ० ॥ गुड़ी उड़ायक उड़ावनहार के हाथ मैं है। गुड़ी अर उड़ावन हार एकठ ही मानीयें ॥ त्युं आपन मन करी एकठे ही है। बीछुरे नहीं। इत्यर्थ ॥[100]

और भी—

प्यासे दुपहर जेठ के. फिरे सबै जल सोध।
मुरधर पाइ मतीर ही, मारू कहत पयोध ॥

टीका

श्रीराधाजु श्रीकृष्ण सौं खंडित वै कहै है ॥ प्यासे० ॥ फिरे० ॥ काम रूप दुपहर जेठ के प्यासे ॥ सबै सुंदर गोपीरूप जल सबै ठौर सो धर फिरै ॥ मुर० ॥ मारू ॥ अहो श्रीकृष्ण तुम मरुधर देस के मारू पासे लोक त्यौं कुबरी मतीर फल मारू मूढ़ पयोधि ॥ पाइ समुद्र रूप महालक्ष्मी सी कहो हो। इत्यर्थ ॥[101]

फिर भी ग्रंथ महत्व का है, क्योंकि ब्रजभाषा गद्य के इतिहास संबन्धी अध्ययन के लिये इसका उपयोग किया जा सकता है।

(३८) अजीतसिंह—ये जोधपुर के महाराजा जसवंतसिंह (प्रथम) के पुत्र थे और उनकी मृत्यु से कोई तीन माह बाद सं० १७३५ में पैदा हुए थे। इनका जन्म होने के पूर्व ही मुगल सम्राट् औरंगजेब ने इनके पैतृक राज्य पर अपना अधिकार कर लिया था और फिर इनका जन्म होने के बाद वह इनको मरवाकर इनके राज्य को बिलकुल निगल जाने की चेष्टा में था। परन्तु उसकी इस कुभावना का पता राठोड़ दुर्गादास आदि इनके कुछ स्वामि-भक्त सरदारों को लग गया था। इसलिये उन्होंने इनको जोधपुर के बाहर

१००. स० भं० उदयपुर की हस्तलिखित प्रति, पृ० १९।
१०१. वही; पृ० ११७।

छिपाये रखा और इनकी बाल्यावस्था का अधिकांश मेवाड़ तथा सिरोही राज्यों में व्यतीत हुआ।

परन्तु औरंगजेब के मरते ही इन्होंने अपने सरदार-सामंतों की सहायता से जोधपुर पर पुनः अधिकार कर लिया और मुग़ल अधिकारियों को वहाँ से निकाल बाहर किया।

महाराज की मृत्यु एक अत्यन्त करुणाजनक स्थिति में हुई। एक दिन जब कि ये अपने रनिवास में सोये हुए थे, इनके द्वितीय पुत्र बख्तसिंह ने इनको मार डाला। यह दुर्घटना सं० १७८१ अषाढ़ सुदी १३ को हुई। महाराजा के शव के साथ इनकी कई राणियों, उपपत्नियां, दासियों, नाजिरों आदि ने प्राण दिये[१०२]। इनका दाह-संस्कार मंडोर में हुआ, जहाँ एक बड़ा (स्मारक) अब तक विद्यमान है, जो विशाल और दर्शनीय है।

महाराजा अजीतसिंह बड़े वीर और कष्ट-सहिष्णु राजा थे। साथ ही उदारता की मात्रा भी इनमें यथेष्ट पाई जाती थी। समय-समय पर इन्होंने अपने सरदारों, ब्राह्मणों, चारण-भाटों आदि को गाँव तथा भूमि प्रदान कर उनका समुचित सत्कार किया था। परन्तु इनमें एक बहुत बड़ा अवगुण यह था कि ये कान के कुछ कच्चे थे। इसलिये लोगों के बहकाने में जल्दी आ जाते थे। बहकाने में आकर ही इन्होंने अपने सच्चे और स्वामिभक्त सहायक राठौड़ दुर्गादास को अपने देश से निर्वासित कर दिया था, जिसके कारण इनकी निंदा अभी तक चली आती है—

(क) महाराज अजमाल री, जद पारख जाणीह।
दुरगो देसाँ काढ़ियौ, गोलाँ गागाणीह॥
(ख) अण घर आही रीत, दुरगो सफराँ दागियौ।

महाराज डिंगल और पिंगल दोनों में निष्णात थे। इनके बनाये हुए पिंगल भाषा के ग्रंथों के नाम ये हैं—गुणसागर, भाव-विरही और दुर्गापाठ भाषा[१०३]।

---

१०२. ओझा; जोधपुर राज्य का इतिहास, पृ० ६००।

१०३. मिश्रबंधु-विनोद में इनके बनाये अन्य ग्रन्थों के नाम इस प्रकार मिलते हैं : राजरूप का ख्याल, निर्वाणी दोहा, ठाकुराँ रा दोहा, भवानी सहस्र-नाम और फुटकर दोहे।

इनका स्वच्छ और चलती हुई ब्रजभाषा पर अच्छा अधिकार था। इनकी कविता बहुत कोमल एवं रसीली है और कला उसमें अपने प्रकृति सौंदर्य के साथ विहार कर रही है।

(३९) बुधसिंह—ये हाड़ा राजपूत बूँदी-नरेश रावराजा अनिरुद्धसिंह के पुत्र और भावसिंह के पौत्र थे। इनका जन्म सं० १७५२ में हुआ था और अपने पिता की मृत्यु के पश्चात् सं० १७४२ में बूँदी के राजसिंहासन पर आसीन हुए थे। ये बड़े वीर, समर-पटु और आत्माभिमानी पुरुष थे। मुगल सम्राट् औरंगजेब की मृत्यु के अनंतर उसके बेटों में दिल्ली के राज-सिंहासन के लिये जो संग्राम हुआ उसमें बहादुरशाह (शाहआलम) की विजय इन्हीं के कारण हुई थी। महामति कर्नल टॉड के शब्दों में "केवल बुधसिंह के पराक्रम ही से शाहआलम अपने प्रतिद्वंद्वियों को जीतकर दिल्ली के सिंहासन पर बैठ सका। कोटे का रामसिंह और दतिया का दलपत बुंदेला तोप के गोलों से उड़ गये और शाहजादा आजम अपने बेटे बेदारबख्त समेत इस लड़ाई में बुधसिंह की तलवार खाकर सदा के लिये कब्र में सो गया।" इससे प्रसन्न होकर शाहआलम ने इनको महाराव राजा की पदवी, पाँच हजारी मनसब, बहुत से आभूषण और गागरौन, छबड़ा, शाहाबाद, शेरगढ़ आदि ५४ परगने दिये[१०४]।

इनका देहान्त सं० १७९६ में हुआ था। इनके छह पुत्र थे, जिनमें से चतुर्थ पुत्र उमेदसिंह उत्तराधिकारी हुए।

महाराव राजा बुधसिंह कला एवं सौन्दर्य के उपासक और ब्रजभाषा के उत्तम कवि थे। इनका बनाया हुआ 'नेहतरंग' हिंदी-साहित्य की एक अनमोल निधि है। यह एक रीति-काव्य है। इसका निर्माण सं० १७८४ में हुआ था, जैसा कि इसके अंतिम दोहे से स्पष्ट है—

सतरह सै चौरासिया, नवमी तिथि ससिवार।
शुक्ल पक्ष भादौं प्रगट, रच्यौ ग्रंथ सुखसार॥

नेहतरंग १४ खंडों में विभाजित है, जिनको तरंगें नाम दिया गया है। इसमें कुल ४४६ पद्य हैं; लक्षण दोहों में और उदाहरण कवित्त-सवैया में दिये गये हैं। विषय-वस्तु का विभाजन चौदह तरंगों में इस प्रकार हुआ है—

---

१०४. मुंशी देवीप्रसाद; राजरसनामृत, पृ० ६९।

तरंग	विषय	पद्य संख्या
प्रथम	अनुकूलादि नायक पद्मन्यादि नायिका निरूपण	२७
दूसरी	चतुरविधि दरसन नि०	१३
तीसरी	नायिका मुग्धा, मध्या, प्रौढादि नि०	४५
चौथी	अष्ट नायिका नि०	२०
पाँचवीं	मिलन स्थान नि०	२४
छठी	सखी जन कर्म चेष्टा स्वयं दूती नि०	८५
सातवीं	मान मोचन विविध नि०	३४
आठवीं	प्रवास विरह नि०	५४
नवीं	भाव-हाव नि०	५५
दसवीं	रस निरूपण नि०	३६
ग्यारहवीं	चतुरविधि कवित्त वृत्ति आदि नि०	२०
बारहवीं	छह रितु नि०	१३
तेरहवीं	पिंगल मत छंद नि०	१६
चौदहवीं	अलंकार नि०	४

ग्रंथ अमुद्रित होने से अभी तक प्रकाश में नहीं आ पाया है। परन्तु साहित्य की दृष्टि से यह एक निष्कलंक रचना है। भाषा, भाव, काव्य-सौष्ठव सभी का इसमें सुन्दर संयोग हुआ है। बुधसिंह के जीवन का अधिकांश भाग रणांगण में और राजनीतिक तथा घरेलू षड्यंत्रों में व्यतीत हुआ था। साहित्य-रचना के लिये ऐसे प्रतिकूल वातावरण में भी उन्होंने 'नेहतरंग' जैसी अमूल्य कृति का निर्माण किया, यह उनके लिये कम गौरव की बात नहीं है। 'नेहतरंग' में से दो कविताएँ यहाँ उद्धृत की जाती हैं—

एक समैं वलि राधिका नें कुबिजा को प्रसंग कह्यौ हितहू सैं।
बोलि हँसी मिलि संग सखी कछु जाहर कैं हरि संगजहू सै॥
ता छिन की उपमा इमि भाइ रही मिलि कैं उन आननहू सैं।
सोधि सबैं बसुधा की सुधा उपटी मनु सोधि सुधाधरहू सैं॥

ऊधौ एक सुनिबै हैं अरज हमारी और
एते पर उनहूँ कैं मन मैं न आती हैं।
भौंन भयौ भाखसी सौं साखसी सौ दिन भयौ
राकसी सी रैनि भई देखैं न सुहाती हैं॥

कहियो जू एती दई मन में जौ आवै क्यों हू
देखन जो पावूँ केती कहिबैं न आती हैं।
चढ़ि चढ़ि नेह निधि कढ़ि कढ़ि लाज हम
सूखैं पानी सफरी लौं बढ़ि बढ़ि जाती हैं ॥

(४०) श्रीकृष्ण भट्ट—ये तैलंग ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम लक्ष्मण था। इनका जन्म सं० १७२५ में हुआ था। ये पहले बूँदी के महाराव राजा बुधसिंह (सं० १७५२—९६) के आश्रित थे। परन्तु बाद में जयपुर के महाराजा सवाई जयसिंह (सं० १७५६—१८००) इनको उनसे माँगकर आमेर ले आये थे[१०५]। ये संस्कृत एवं भाषा के परम विद्वान् और मंत्र-शास्त्र के विचक्षण ज्ञाता थे। इनकी मंत्र-चमत्कार संबंधी अनेक कथाएँ लोगों के मुँह से सुनने में आती हैं। कवि भी ये पूरे थे। इनकी कविता से प्रसन्न होकर महाराजा जयसिंह ने इनको 'कवि कलानिधि' की उपाधि और एक गाँव उदक में दिया था।

भट्टजी संस्कृत और ब्रजभाषा दोनों में काव्य-रचना करते थे। इनके बनाये हुए ब्रजभाषा के ग्रन्थों के नाम ये हैं—

(१) अलंकारकलानिधि, (२) सांभर-युद्ध, (३) जाजव-युद्ध, (४) बहादुर विजय, (५) वृत्तचंद्रिका, (६) शृंगाररसमाधुरी, (७) विदग्धरसमाधुरी, (८) जयसिंहगुण-सरिता, (९) रामचंद्रोदय, (१०) रामरासा, (११) दुर्गा भक्ति-तरंगिनी, (१२) नखशिख वर्णन, (१३) तैत्तरीयादि उपनिषदों का अनुवाद।[१०६]

(४१) नंदराम—ये मेवाड़ के महाराणा जगतसिंह (द्वितीय) के आश्रित कवि आसि के ब्राह्मण थे। इनके 'शिकारभाव' और 'जगविलास' नामक दो ग्रंथों का पता है, जो क्रमशः सं० १७९० और १८०२ में लिखे गये थे।[१०७]

१०५. बूँदीपति बुधसिंह सौं, लाये मुख सौं जाँचि।
रहे आइ आमेर में, प्रीति रीति बहु भाँति ॥
—राधारूप-चंद्रिका

१०६. इनके रचे संस्कृत-ग्रन्थों के नाम ये है : (१) वेदांतपर्चविंशति, (२) सुंदरी-स्तवराज, (३) ईश्वर-विलास महाकाव्य और पद्यमुक्तावली।

१०७. राजस्थान में हिंदी के हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज, भाग पहला, पृ० १७० ।

शिकारभाव में ९४ छंद हैं, जिसमें महाराणा जगतसिंह के आखेट का वर्णन किया गया है। जगतविलास ४०४ छंदों का बड़ा ग्रंथ है। इसमें महाराणा जगतसिंह की दिनचर्या, उनके वैभव, राज-प्रबंध आदि का वृत्तान्त है। ये दोनों ग्रंथ ब्रजभाषा में हैं और साहित्यिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण होने के साथ-साथ इतिहास की दृष्टि से भी उपयोगी हैं। नंदराम का एक छप्पय यहाँ दिया जाता है—

तिही समय श्रीरान, मान अति मोद महामन।
भूषन बसन मँगाय, पहरि सब तास तेज तन॥
सर सरूप सोहंत, काम कोटिक सम राजै।
नग झगमगत अपार, तेज पूरन गुन साजै॥
सब भाँति भाँति बानिक बने, गिने जात किन पैं कबहि।
उदित प्रकास जनु उदयगिरि, सहस किरन सोहंत सहि॥

(४२) राजसिंह—ये किशनगढ़ के महाराजा मानसिंह के पुत्र और महाराजा रूपसिंह के पौत्र थे। इनका जन्म सं० १७३१ में हुआ था। ये बड़े वीर और नीति-निपुण राजा थे। औरंगजेब की मृत्यु के पश्चात् दिल्ली के राजसिंहासन के लिये जब उसके पुत्रों में युद्ध हुआ तब ये मुअज़्ज़म के पक्ष में लड़े थे और इस लड़ाई की विजय का श्रेय इन्हीं को मिला था। फिर जब मुअज़्ज़म के मरने पर सं० १७६२ में उसके चारों बेटे आपस में लड़ने लगे, ये शाहजादे अजीमुश्शान के साथ थे। इन्होंने अंत समय तक उसका साथ दिया और जब वह अपने हाथी समेत रावी नदी में डूबकर मर गया तब निराश होकर घर लौटे। इनकी मृत्यु सं० १८०५ में हुई थी।

महाराजा राजसिंह कवि थे। कविता करना इन्होंने अपने आश्रित कवि वृंद से सीखा था। इनके बनाये दो ग्रंथों का पता है—बाहुविलास और रसपायनायक। बाहुविलास में श्रीकृष्ण-रुक्मिणी के विवाह का वर्णन है। रसपायनायक में अविवेकिनी और विवेकिनी नामक दो सखियों का संवाद लिखकर नायकों के गुणावगुण बताये गये हैं।

मिश्रबंधु-विनोद में इनके 'राजप्रकाश' नामक एक और ग्रंथ का उल्लेख हुआ है।[१०८] परंतु वह ग्रंथ इनका बनाया हुआ नहीं है। किशोरदास नामक एक भाट का लिखा हुआ है और डिंगल भाषा का ग्रंथ है। उसमें मेवाड़

१०८. मिश्रबंधु-विनोद, पृ० ५४१ (भाग दूसरा)।

के इतिहास-प्रसिद्ध महाराणा राजसिंह (प्रथम) के युद्ध-पराक्रम का वर्णन है।

इनके फुटकर पद भी अनेक मिलते हैं, जिनमें बड़ी स्वाभाविकता और तल्लीनता पाई जाती है। एक पद यहाँ दिया जाता है—

ए अँखियाँ प्यारे जुलम करैं।
यह महरेटी लाज लपेटी झुकि झुकि घूमै भूमि परैं।
नगधर प्यारे होउ न न्यारे हा हा तो सौं कोटि करैं॥
राजसिंह को स्वामी नगधर बिनु देखे दिन कठिन परैं॥

(४३) ब्रजदासी—ये जयपुर राज्य के लिवाण ठिकाने के कछवाहा राजा आनंदराम की पुत्री थीं। इनका विवाह सं० १७७६ में किशनगढ़ के महाराजा राजसिंह के साथ हुआ था।[१०९] इनका वास्तविक नाम ब्रजकुँवरि था, पर कविता में ये अपना नाम ब्रजदासी रखती थीं। इन्होंने श्रीमद्भागवत का ब्रज भाषा में अनुवाद किया जो 'ब्रजदासी-भागवत' के नाम से प्रसिद्ध है। अनुवाद बहुत सुंदर हुआ है और भक्त लोगों में इसका प्रचार भी यथेष्ट है। इसकी भाषा बहुत सीधी-सादी ब्रजभाषा है, जिसमें कहीं-कहीं राजस्थानी का भी अंश दृष्टिगोचर होता है।

(४४) जोधराज—ये आदिगौड़ कुलोत्पन्न अत्रि गोत्रीय ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम बालकृष्ण था। ये अलवर राज्य के नीमराणा ठिकाने के जागीरदार चंद्रभानु के आश्रित थे, जिनके कहने से इन्होंने 'हंमीररासौ' का निर्माण किया, जिसकी समाप्ति सं० १७८५ में हुई थी—

चंद्र नाग बसु पंच गिनि, संवत माधव मास।
शुक्ल सुतृतिया जीव युत, ता दिन ग्रन्थ प्रकास॥

हंमीररासो एक वीर रस-प्रधान काव्य है, जो ९६९ पद्यों में समाप्त हुआ है। इसमें रणथंभौर के चौहाण राजा हंमीर और सुलतान अलाउद्दीन खिलजी की लड़ाई का वर्णन है। यह पृथ्वीराज रासौ की शैली पर रचा गया है और उसी की भाँति ऐतिहासिक त्रुटियों से भरा हुआ है। उदाहरणार्थ, इसमें हंमीर का जन्म सं० ११४१ बताया है और कहा गया है कि अलाउद्दीन

---

१०९. मुंशी देवीप्रसाद; महिलामृदुवाणी, पृ० ९४।

का जन्म भी हंमीर के साथ ही हुआ था।[110] परन्तु यह संवत् इतिहास-पुष्ट नहीं है। इसी प्रकार हंमीर की आत्म-हत्या तथा अलाउद्दीन का समुद्र में कूद कर मर जाने की कथाएँ भी अनैतिहासिक और निराधार हैं। अतएव इतिहास की दृष्टि से हंमीररासौ का मूल्य नगण्य है।

परंतु साहित्य की दृष्टि से यह एक मूल्यवान रचना है। इसकी भाषा-शैली सरस और चित्ताकर्षक है। कविता मनोहर और वीरोल्लासिनी है। इसका मुख्य रस वीर है, पर शृङ्गार आदि दो-एक अन्य रसों की छटा भी इसमें अच्छी दिखाई देती है।

(४५-४६) **दलपतिराय और बंसीधर**—ये दोनों कवि अहमदाबाद के रहनेवाले थे। इनमें बंसीधर जाति के श्रीमाली ब्राह्मण और दलपतिराय महाजन थे—

मेदपाट श्रीमाल कुल, विप्र महाजन काय।
वासी अमदाबाद के, बंसी दलपतराय॥[111]

मेवाड़ के महाराणा जगतसिंह (द्वितीय) की छत्रच्छाया में इन्होंने 'अलंकार रत्नाकर' नामक ग्रन्थ बनाया था। हिंदी के कुछ गण्य-मान्य विद्वानों ने इस ग्रन्थ का निर्माण-काल सं० १७९२ बताया है, जो अशुद्ध है।[112] वास्तव में यह ग्रन्थ सं० १७९८ में लिखा गया था, जैसा कि इसी के एक दोहे से सूचित होता है। वह दोहा इस प्रकार है—

सतरे सै अठयानवैं, माह पक्ष सितवार।
सुभ बसंत पाँचैं भयो, यहै ग्रन्थ अवतार॥[113]

---

११०. ससि वेद रुद्र संवत गिनौ, अग्र खाअ्र खित साक।
दक्षण अयन सु सरद ऋतु, उपजे गए न नाक॥
गजनी गौरी शाह सुत, भय अल्लावदी साय।
ताही दिन रणथंभ गढ़, जन्म हमीर सु आय॥
—हंमीररासौ, पद्य १७२—१७३

१११. अलंकार-रत्नाकर, पृ० २।

११२. प० रामचंद्र शुक्ल; हिंदी-साहित्य का इतिहास, पृ० २४४। डा० भगीरथ मिश्र; हिंदी काव्य-शास्त्र का इतिहास, पृ० ४१।

११३. अलंकार-रत्नाकर, पृ० २।

'अलंकार-रत्नाकर' महाराजा जसवंतसिंह-कृत 'भाषाभूषण' की एक तरह से टीका है। 'भाषाभूषण' में इन कवियों को कुछ दोष दिखाई दिये, जिनके परिहार के लिये यह ग्रंथ रचा गया था—

> कीने रसमय रसिक कवि, सरस बढ़ाय विवेक।
> छाया लहि गिरिवांन की, भाषा ग्रन्थ अनेक॥
> तदपि अलंकृति ग्रंथ कौं, काहू कवि नहिं कीन।
> भाषाभूषण है जऊ, कहूँक लच्छन हीन॥
> या तैं ताहि सुधारि कैं, देख कुवलयानंद[११४]।
> अलंकार-रत्नाकर सु, किय कवि आनँदकंद॥

इसमें कुल ५२३ छंद है, जिनको नीचे लिखे अनुसार चार तरंगों में विभक्त किया गया है—

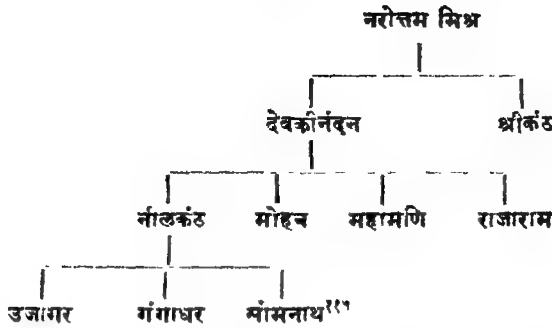
नाम तरंग	पद्य संख्या
पीठिका निरूपण	२२
अलंकार सत्त निरूपण	४३२
रस प्रमाण निरूपण	४२
संकर निरूपण	२७

इन ५२३ छंदों में दलपतिराय और बंसीधर के छंद बहुत थोड़े हैं; अधिकांश दूसरे कवियों के हैं जिनको उदाहरण में रखा गया है। परंतु जितने भी हैं वे परम उत्कृष्ट एवं मनोहर हैं और इन दोनों कवियों के अलंकार-विषयक गहन ज्ञान तथा काव्य-नैपुण्य का परिचय देते हैं। अपने विषय को स्पष्ट करने के लिये इन्होंने स्थान-स्थान पर गद्य का भी प्रयोग किया है। मिश्रबंधुओं ने इनको पद्माकर की कोटि में रखा है, जो उचित है। वास्तव में इनकी कविता पद्माकर की याद दिलाती है।

(४७) सोमनाथ—रीतिकालीन कवियों में कवि सोमनाथ का नाम बड़े आदर से लिया जाता है। ये माथुर चतुर्वेदी ब्राह्मण थे। इनका वंश-वृक्ष इस प्रकार है—

---

११४. वही; पृ० २।



ये भरतपुर के जाट राजा बदनसिंह के दरबारी कवि थे और उनके कनिष्ठ पुत्र प्रतापसिंह के पास रहा करते थे।[११६] इनकी रचनाएँ सं० १७९४ से सं० १८०९ तक की मिलती हैं। अतएव लगभग यही इनका रचनाकाल समझना चाहिये।

सोमनाथ संस्कृत एवं भाषा के उद्‌भट विद्वान् और ज्योतिष के सुज्ञाता थे। इनके बनाये ग्रंथों के नाम ये हैं—

(१) रसपीयूषनिधि, (२) सुजान-विलास, (३) माधव-विनोद, (४) कृष्ण-लीलावली, (५) पंचाध्यायी, (६) दशमस्कंध भाषा, (७) ध्रुव-विनोद, (८) रामकलाधर, (९) वाल्मीकि रामायण, (१०) अध्यात्म रामायण, (११) अयोध्याकांड, (१२) सुन्दरकांड, (१३) ब्रजेन्दु-विनोद, (१४) रसविलास और (१५) रामचरित्र-रत्नाकर।

इनमें 'रसपीयूषनिधि' इनका बहुत प्रसिद्ध ग्रंथ है और इसी पर इनकी ख्याति अवलंबित है। यह हिंदी के काव्य-शास्त्र के सर्वोत्कृष्ट ग्रंथों में से है। इसकी रचना सं० १७९४ में हुई थी। यह इसके अन्तिम दोहे से प्रकट है—

सत्रहसै चौरानवौं, संवत जेठ सुमास।
कृष्ण पक्ष दसमी भृगो, भयो ग्रंथ परकास॥

ग्रंथ बाईस तरंगों में विभक्त है, जिनमें काव्य के विविध अंगों का बहुत विद्वत्तापूर्ण विवेचन किया गया है। ऐसा विवेचन देव, श्रीपति, दास इत्यादि हिन्दी के अन्य दो-चार ही कवि कर पाये हैं। विशेषकर नायिका-भेद-वर्णन इन्होंने बहुत उत्तम रीति से किया है। उसमें नवीनता है और सरसता भी।

---

११५. मिश्रबंधु-विनोद, भाग दूसरा, पृ० ६४७।

११६. वही; पृ० ६४८।

हिंदी साहित्य में सोमनाथ-कृत 'रसपीयूषनिधि' विशेष प्रसिद्ध है और इतिहास-ग्रंथों में इसी की चर्चा अधिक देखने में आती है। इसलिये लोग इनको केवल श्रृंगार रस का कवि समझते हैं। परंतु ये वीर रस के वर्णन में भी उतने ही प्रवीण थे जितने श्रृंगार रस के वर्णन में। यह बात इनके 'सुजान विलास'[११७] ग्रंथ से स्पष्ट है, जिसके प्रारंभ में इन्होंने अपने आश्रयदाता राजा बदनसिंह और उनके पुत्र सूरजमल आदि की वीरता का अत्यन्त सजीव और फड़कता हुआ वर्णन किया है। एक उदाहरण लीजिये—

प्रबल प्रताप दावानल सों विराजै जोर
अरनि के पारै रोरि धमक निसाने की।
ठट्ठ मरहट्ठा के निघट्टि डारे बाननि सों
पेमकस लेत है प्रचंड तिलँगाने की॥
सोमनाथ कहै मिह सूरज कुमार जाको
क्रुद्ध त्रिपुरारि को सो लाज बरवाने की।
चढ़ि कै तुरङ्ग जङ्ग रङ्ग करि सेलनि सों
तोरि डारी तीखी तरवारि तुरकाने की॥

(४८) सूरत मिश्र—ये आगरा-निवासी कनौजिया ब्राह्मण सिंहमणि मिश्र के पुत्र थे। इनका जन्म सं० १७४६ के लगभग हुआ था।[११८] ये जहाँनाबाद के नसरुल्ला खाँ के आश्रित थे और जयपुर, बीकानेर आदि राज्यों के दरबारी कवि भी रहे थे। नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित खोज की रिपोर्टों इत्यादि में इनके रचे निम्नलिखित १९ ग्रंथ बताये गये हैं—

(१) अलंकारमाला, (२) बिहारी-सतसई की अमरचंद्रिका टीका, (३) कविप्रिया की टीका, (४) नखशिख, (५) रसिकप्रिया का तिलक, (६) रससरस, (७) प्रबोधचंद्रोदय नाटक, (८) भक्तिविनोद, (९) रामचरित्र, (१०) कृष्णचरित्र, (११) रस-ग्राहक-चंद्रिका, (१२) रसरत्नमाला, (१३) सरसरस, (१४) भक्तविनोद, (१५) जोरावरप्रकाश, (१६) बैताल-

११७. यह संस्कृत भाषा के सुप्रसिद्ध ग्रंथ 'सिंहासनद्वात्रिंशिका' का अनुवाद है।

११८. नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित 'हस्तलिखित हिंदी पुस्तकों का विवरण' में इनको जोधपुर के महाराज जसवंतसिंह का शिक्षक बताया गया है, जो एक भ्रम है। महाराजा जसवंतसिंह का देहान्त सं० १७३५ में हुआ था। उस समय तक तो सूरत मिश्र पैदा भी नहीं हुए थे।

पंचविंशति, (१७) काव्यसिद्धान्त, (१८) रसरत्नाकरमाला और (१९) शृंगारसार ।

इनके रासलीला अथवा दानलीला नामक एक और ग्रंथ का पता हाल ही में लगा है, जिसकी एक हस्तलिखित प्रति अनूप संस्कृत पुस्तकालय बीकानेर में है ।

इसके अतिरिक्त अपने 'शृंगारसार' ग्रंथ में सूरत मिश्र ने श्रीनाथ विलास, भक्तमाला, कामधेनु कवित्त, कवि-सिद्धान्त और छंदसार इन पाँच और ग्रंथों का उल्लेख किया है । परन्तु इनमें से केवल 'छन्दसार' अभी तक हस्तगत हुआ है, शेष का पता नहीं है ।

उपर्युक्त ग्रंथों में से कुछ के विषय में जो भ्रांतियाँ हिन्दी के विद्वानों में फैली हुई हैं, प्रसंगवश उनका भी उल्लेख यहाँ पर कर देना उचित जान पड़ता है ।

पहली भ्रांति यह है कि रससरस और सरसरस, भक्तिविनोद और भक्त-विनोद, रसरत्नमाला और रसरत्नाकरमाला, कवि-सिद्धान्त और काव्य-सिद्धान्त, दो भिन्न-भिन्न ग्रंथ माने जा रहे हैं । परन्तु ये दो भिन्न रचनाएँ नहीं हैं; एक ही रचना के दो नाम हैं । ये भूलें कुछ तो हस्तलिखित प्रतियों को ध्यानपूर्वक न पढ़ने के कारण हुई हैं और कुछ हस्तलिखित प्रतियाँ ही ऐसी हैं, जिनमें एक ही ग्रंथ का नाम दो प्रकार से लिखा मिलता है ।

दूसरी भ्रांति यह है कि रससरस अथवा सरसरस को सूरत मिश्र की कृति माना जा रहा है । वास्तव में यह ग्रन्थ राय शिवदास का लिखा हुआ है, जैसा कि इसकी प्राचीन लिखित प्रतियों की पुष्पिकाओं में स्पष्ट संकेत किया गया है ।[१२०] इसके अतिरिक्त इस ग्रंथ के अंतिम भाग में राय शिवदास ने

११९. इसकी एक हस्तलिखित प्रति बीकानेर के बृहत् ज्ञानभंडार में है ।

१२०. "इति श्री राय शिवदास विरचिते सरसरस ग्रंथे नाम निरूपणो नाम अष्टमों बिलास संपूरन समापत श्रीरस्तु किल्याणमस्तु ॥ सुभमवत् महाराजाधिराज महाराणा श्री जगतसिंहजी विजै राजै ग्रंथ लिखायत कवि नंदराम । तस्य आज्ञा थी लिखत दसपुर शांति पंडित संभु । सं० १७९५ रा वर्षे मास प्रथम आस्वीन सुद ६ भृगुवासरे । सुभंभुयात् ।"

"इति श्री राय शिवदास विरचितं सरसरस ग्रंथ रस निरूपणो नाम अष्टमा विलास संपूरन समापता । श्रीरस्तु कल्याणमस्तु ॥ सुभंभवत । महाराजा-धिराज महाराणा श्रीअरिसिंहजी विजै राज्यै लिखतं साहा सूरजमल हरपा-लोत सं० १८१९ वर्षे फागुण सुदी १० भोमवासरे लिखतं श्री उदेपुर मध्ये सुभंभुयात् ।"

स्वयं लिखा है कि यह ग्रंथ मेरा बनाया हुआ है और इसके प्रणयन में प्रवीन इत्यादि कुछ अन्य कवियों की भी सम्मति रही है तथा सूरत मिश्र के तो कुछ कवित्त भी इसमें रखे गये हैं:—

एक समै मधि आगरै, कवि समाज को जोग।
मिल्यौ आइ सुखदाइ हिय, जिनकी कविता जोग ।।

तब सब ही मिलि मंत्र यहै, कियौ कविनु बहु जानि।
रचियै ग्रन्थ नवीन इक, नये भेद रस आनि ।।

कवि अनेक मति मैं हुतैं, पै मुख कवि परवीन।
जाकै संमत सौं भयौ, पूरन ग्रन्थ नवीन ।।

सूरति राम सुकवि सरस, कान्यकुबिज बहु जान।
वासी ताही नगर कौ, कविता जाहि प्रमान ।।

केतक धरैं सुग्रन्थ में, वर कवित्त कविराइ।
ताही सौं गंभीरता, अरथ बरन दरसाइ ।।

आठौं रस रसभेद मैं, जै बरनैं मति ठानि।
राजनीति में संभवै, तै मति लीजो मानि ।।

सत्रह सै चौरानवै, संवत सुभ वैसाख।
भयौ ग्रन्थ पूरन सु यह, छठ ससि पुप सित पाख ।।

तीसरी भ्रान्ति 'बिहारी-सतसई' की अमरचंद्रिका टीका के संबंध में है। मिश्रबंधु आदि विद्वानों का कहना है कि यह टीका जोधपुर के महाराजा अमरसिंह के नाम पर लिखी गई थी।[१२१] परन्तु उनका यह कथन निर्मूल है। जोधपुर में अमरसिंह नाम का कोई राजा हुआ ही नहीं है। सच तो यह है कि जिन अमरसिंह के लिये यह टीका बनाई गई थी वे जाति के ओसवाल महाजन थे।[१२२]

चौथी भ्रांति मुंशी देवीप्रसाद, डा० गौरीशंकर-हीराचंद ओझा आदि विद्वानों के कारण हुई है, जिन्होंने रसिकप्रिया की जोरावरप्रकाश टीक

१२१. मिश्रबंधु-विनोद, पृ० ५५५।

१२२. राजस्थान में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज, भाग दूसरा, पृ० १६३।

को बीकानेर के महाराजा जोरावरसिंह की रचना बतलाया है।[१२३] परंतु यह टीका वास्तव में सूरत मिश्र ही की बनाई हुई है, जोरावरसिंह की नहीं है। महाराजा जोरावरसिंह से इसका संबंध केवल इतना ही है कि यह उनके अनुरोध से लिखी गई थी और इसलिये इनका नाम 'जोरावरप्रकाश' रखा गया है। इन बातों का उल्लेख इस टीका के प्रारंभ में हुआ है :—

श्रीकानेर प्रसिद्ध है, अति पुनीत सुभ धाम।
लछिमीनारायन जहाँ, इष्ट परम अभिराम॥
सेव देव जगवंदन की, जहाँ करत चित लाय।
देवि नाग-नेची जहाँ, अनुदिन रहत सहाय॥
दुख हरनी करनी सुखहि, करनी मात प्रसिद्ध।
सब गुन की चरचा जहाँ, सदा धर्म की वृद्धि॥
श्रीजोरावरसिंह जू, राज करत तिहिं ठौर।
सब विद्या में अति निपुन, जिन समान नहि और॥
वैद्यक जोतिष न्याय अरु, कविता रस में लीन।
तिन कवि सूरत मिश्र पैं, कृपा नेह अति कीन॥
बहुविधि सों सनमान करि, कही एक दिन बात।
पोथी केशवदास की, सबै कठिन विख्यात॥
तिन में यह रसिकप्रिया, अति गंभीर है सोइ।
तिहि टीका ऐसी करौ, ज्यों समुझै सब कोइ॥
तब तिनकै हित यह रच्यौ, अति विस्तार बिलास।
नाम धर्‌यौ या ग्रन्थ को, जोरावरपरकास॥[१२४]

सूरत मिश्र ब्रजभाषा गद्य और पद्य दोनों लिखते थे। इनकी भाषा-शैली सुलझी हुई और सरस है। वैसे इन्होंने सभी रसों में मनोहर कविता की है, पर शृंगार रस के वर्णन में इनको विशेषकर अच्छी सफलता मिली है। इनके काव्य की एक बहुत बड़ी विशेषता यह है कि उसे पढ़कर मन में किसी प्रकार की वासना का प्रादुर्भाव नहीं होता, बल्कि स्वच्छ भावों का

१२३. राजरसनामृत, पृ० ५०। बीकानेर राज्य का इतिहास, पृ० ३२२।
१२४. स० भ० उदयपुर की हस्तलिखित प्रति, पत्र १।

स्फुरण होता है। इनके 'भक्ति-विनोद' में से दो कविताएँ यहाँ उद्धृत की जाती हैं, जो इनकी भाषा, कविता आदि का अच्छा प्रतिनिधित्व करती हैं—

फागुन के दिन बावरे ये इनमें न सयानपना निबहैं हैं।
काम दुहाई रही फिरि कैं अब कोउन काहू की कूक लहैं हैं॥
आय कै रंगनि सौं भरि है टरिहैं नहीं नागर मॉची कहैं हैं।
चोरी नहीं बरजोरी नहीं रहि होरी मै कौन धौं कोरि रहै हैं॥

देख्यो नंद नंद आजु सोभा को सदन ए री
सुन्दर बदन तामैं अलकैं रदन हैं।
कैसे मनरंजन बिराजै द्रिग अंजन सौं
कंजन के गंजन बिमालता अयन है॥
सूरत सुकवि छवि देखें बनि आवै और
कहा कहौं एक रस अद्भुत सघन है।
नवनीत प्रिय जू की नव रीत देखन मैं
माखन चुरावैं अरु चोरैं जात मन है॥

(४९) नागरीदास—ये किशनगढ़ के महाराजा राजसिंह के पुत्र और महाराजा मानसिंह के पौत्र थे। इनका जन्म सं० १७५६ में हुआ था। ठाकुर शिव सिंह[१२५] तथा डा० ग्रियर्सन[१२६] ने इनका जन्मकाल सं० १६४८ लिखा है, जो अशुद्ध है। इनका वास्तविक नाम सावंतसिंह था। कविता में नागर, नागरी, नागरिया और नागरीदास लिखा करते थे। अपने पिता के पाँच पुत्रों में ये तीसरे थे। इनका विवाह भानगढ़ के राजा यशवंतसिंह की पुत्री से हुआ था। इनसे इनके चार संतति हुई—दो पुत्र और दो कन्याएँ। इनके ज्येष्ठ पुत्र का नाम सरदारसिंह था।

नागरीदास बचपन से ही शूरवीर थे। इन्होंने दस वर्ष की बाल्यावस्था में एक मन्दोन्मत्त हाथी का सामना कर उसे कृपाण की एक ही चोट से विचलित कर दिया था और तेरह वर्ष की आयु में बूँदी के हाड़ा जैतसिंह को मारा था। अठारह वर्ष की उम्र में इन्होंने थूँण की गढ़ी जैसे अभेद्य दुर्ग को जीतकर लोगों को चकित कर दिया था। दक्षिणी मल्हारराव होलकर से भी इनका

---

१२५. शिवसिंह-सरोज, पृ० १७२।

१२६. दि माडर्न वर्नाक्युलर लिटरेचर आव हिंदुस्तान, पृ० ३३।

सामना हुआ था और लड़ना स्वीकार करके भी इन्होंने उसे 'चौथ' देना स्वीकार नहीं किया था। इस प्रसंग का यह दोहा राजस्थान में बहुत प्रसिद्ध है—

बाजीराव मल्लार सौं, कहतो गयो कथाह।
और राव सब राव हैं, सावंत बात अथाह॥

इन्होंने दो अंगुल चौड़े बाढ़वाली एक नये ढंग की तलवार का आविष्कार किया था, जो 'सावंतशाही बाढ़' कहलाती है।

इनके पिता महाराज राजसिंह के ज्येष्ठ पुत्र सुखसिंह राज-सिंहासन का मोह छोड़कर साधु हो गये थे[१२७] और द्वितीय पुत्र फतहसिंह का देहान्त पिता के जीवन-काल में ही हो गया था।[१२८] अतएव किशनगढ़ की राजगद्दी पर अब सावंतसिंह का हक पहुँचता था। परन्तु दैव-दुर्विपाक से इनको एक दिन के लिए भी राज्य-सुख भोगने का अवसर नहीं मिला। बात यह हुई कि सं० १८०५ में जब इनके पिता महाराजा राजसिंह की मृत्यु हुई तब ये अपने परिवार सहित दिल्ली में थे। वहीं मुगल सम्राट् अहमदशाह ने इन्हें किशनगढ़ राज्यका उत्तराधिकारी नियत किया। परंतु इनकी अनुपस्थिति में इधर इनके छोटे भाई बहादुरसिंह किशनगढ़ के राजा बन बैठे। भाई द्वारा इस प्रकार राज्यापहरण की सूचना जब सावंतसिंह को दिल्ली में मिली तब एक बड़ी सेना लेकर उनसे लड़ने के लिये ये किशनगढ़ आये। दोनों भाइयों की सेनाओं में भयंकर युद्ध और भीषण रक्तपात हुआ। परन्तु बहादुरसिंह की सेना ने इनको किशनगढ़ की सीमा में पाँव न रखने दिया। हताश होकर ये वापस दिल्ली लौट गये और वहाँ से अपने राज्य को हस्तगत करने की चेष्टा करने लगे। मुगल साम्राज्य के ढलते दिन थे और अहमदशाह की दशा उस समय अत्यंत दयनीय थी। इसलिए वह इन्हें यथेष्ट सहायता न दे सका। अतएव दिल्ली में अधिक दिनों तक रहना व्यर्थ समझ तथा मरहठों से सहायता

१२७. राजसिंह के पाँच सुत, तिन में सुखसिंह ज्येष्ठ।
मन लायो जोगी पनैं, तजि संसार सुख श्रेष्ठ॥
—छप्पनभोगचंद्रिका, पृ० ३८

१२८. फतहसिंह दूजे भये, जंग जैत युत नीत।
गयो कुँवर परलोक कौं, गौड़न को धर जीत॥
—छप्पनभोगचंद्रिका, पृ० ६९

प्राप्त करने की आशा से ये दक्षिण की ओर जाने को रवाना हुए। जब वृन्दावन पहुँचे तब हरिदास नामक एक वैष्णवने इनसे कहा कि अब आप को राज्याधिकार प्राप्त हो ऐसा योग नहीं है और अवस्था भी आप की पचास से ऊपर हो गई है। इसलिए सब झंझटों को छोड़कर भगवद्भजन करो और अपने कुँवर को राज्य-प्राप्ति के लिए उद्योग करने दो। यह सुनकर आप तो वहीं रह गये और अपने पुत्र सरदारसिंह को कुछ सेना देकर बहादुरसिंह के विरुद्ध लड़ने को भेजा। बहुत लड़ाई के पश्चात् बहादुरसिंह ने किशनगढ़ का आधा राज्य सरदारसिंह को दे दिया, जिसमें सरवाड़, फतहगढ़ और रूपनगर ये तीनों परगने सम्मिलित थे। सावंतसिंह ने वृन्दावन से आकर आश्विन सुदी १० सं० १८१४ के दिन सरदारसिंह का राज-तिलक किया।[१२९]

सरदारसिंह का राज्याभिषेक हो जाने के पश्चात् सावंतसिंह वापस वृन्दावन चले गये और वहाँ कृष्ण-भक्ति में लीन रहने लगे। ये संसार से प्रायः उदासीन हो गये थे और साधुवृत्ति में रहते थे। कहा जाता है कि एक बार जब ये वृन्दावन से किशनगढ़ आ रहे थे तब मार्ग में एक दिन के लिये जयपुर ठहरे। उस समय वहाँ महाराजा सवाई माधोसिंह राज करते थे। अपने गुप्तचरों द्वारा उनको जब नागरीदास के आने की सूचना मिली तब उनसे मिलने के लिए वे उनके डेरे पर गये और भाँति-भाँति के प्रश्न करने लगे। नागरीदास ने उनके सब प्रश्नों का उत्तर केवल एक सवैये में दिया और तत्काल वहाँ से रवाना हो गये। वह सवैया यह है—

जाति के हैं हम तो ब्रजबासी जू ना रही और हु जात की बाधा।
देस है घोष नै चाहत मोख को तीरथ श्रीजमुना सुख साधा॥
संतन को सतसंग आजीविका कुंज बिहार अहार अगाधा।
नागर के कुलदेव गोबर्धन मोहन मंत्र रु इष्ट है राधा॥

नागरीदास सं० १८१८ में अंतिम बार किशनगढ़ आये थे। दो-एक दिन वहाँ रहे। अन्त में यह कवित्त कहकर चले गये और आजीवन नहीं लौटे—

ज्यौं-ज्यौं इत देखियत मूरख विमुख लोग
त्यौं-त्यौं ब्रजबासी सुखरासी मन भावै हैं।

---

१२९. मुंशी देवीप्रसाद; राजरसनामृत, पृ० ५७।

खारे जल छीलर दुखारे अन्ध कूप चितै
कालिंदी कूल काज मन ललचावै है ॥
जेती इहै बीतत सो कहत न बनत बैन
नागर न चैन परे प्रान अकुलावै हैं।
थूहर, पलास, देख देख के बबूल बुरे
हाय हरे हरे ये कदम्ब सुध आवैं हैं ॥[130]

इनका देहान्त सं० १८२१ में वृन्दावन में किशनगढ़ राज्य की कुंज में हुआ था। वह कुंज आजकल नागर-कुंज के नाम से विख्यात है। वहाँ पर इनकी छतरी (समाधि), चरण-चिह्न आदि विद्यमान हैं, जिनकी अभी तक पूजा होती है। समाधि पर यह लेख खुदा हुआ है—

"श्रीराधाकृष्ण गोवर्धन धारी। वृन्दावन यमुना तट चारी।
ललितादिक वल्लभ बिठलेस। मोहन करो कृपा आवेस ॥
सुत को दै युवराज आप वृन्दावन आये।
रूपनगर पति भक्ति वृन्द बहु लाड़ लड़ाये ॥
सूरबीर गंभीर रसिक रिझवार अमानी।
संत चरनामृत नेम उदधि लौं गावै वानी ॥
नागरीदास विदित सो कृपा ढार नागर ढरिय।
सावंतसिंह नृप कलि विषै सत त्रेता विध आचरिय ॥

सं० १८२१ भादों सुदी ५ को महाराज नागरीदासजी वृन्दावन पाये।"[131]

नागरीदास बड़े कला-प्रेमी, भक्त और कवि थे। संगीत, चित्रकारी, काव्य आदि ललित कलाओं के ये बड़े प्रेमी थे और इनकी सूक्ष्मताओं को समझते भी खूब थे। ये कवियों के आश्रयदाता थे। कई कवि इनके साथ अधिवास करते थे, जिनमें वल्लभजी, हरिचरणदास, हीरालाल, कनीराम, पन्नालाल और विजयराम के नाम विशेष रूप से उल्लेख योग्य हैं। ब्रजभाषा के विख्यात कवि आनंदघन इनके परम मित्र थे।[132]

---

१३०. मुंशी देवीप्रसाद, राजरसनामृत, पृ० ५८।
१३१. श्रीराधाकृष्णदास; श्रीनागरीदास का जीवनचरित्र, पृ० १ (परिशिष्ट)।
१३२. नागरसमुच्चय, पृ० ४ (भूमिका)।

ये वल्लभ संप्रदाय के गोस्वामी रणछोड़जी के शिष्य थे।[१३३] इनके ग्रन्थों का संग्रह ज्ञानसागर यंत्रालय बंबई से 'नागर-समुच्चय' के नाम से प्रकाशित हुआ है। यह तीन खंडों में विभाजित है—वैराग्य-सागर, सिंगार-सागर और पद-सागर। इसमें इनके निम्नलिखित ६९ ग्रंथ संगृहीत हैं।

१. *वैराग्य-सागर*

(१) भक्तिमगदीपिका, (२) देहदसा, (३) बैराग्यबटी, (४) रसिकरत्नावली, (५) कलिवैराग्यवल्ली, (६) अरिल्ल पचीसी, (७) छूटक पद, (८) छूटक दोहा, (९) तीर्थानंद, (१०) रामचरित्रमाला, (११) मनोरथमंजरी, (१२) पदप्रबोध-माला, (१३) जुगलभक्तविनोद, (१४) भक्तिसार और, (१५) श्रीमद्भागवत पारायन विधि प्रकास।

२. *श्रृंगार-सागर*

(१) व्रजलीला, (२) गोपीप्रेमप्रकास, (३) पदप्रसंगमाला, (४) व्रजबैकुंठ-तुला, (५) व्रजसार, (६) बिहारचंद्रिका, (७) भोरलीला, (८) प्रातरसमंजरी, (९) भोजनानंद-अष्टक, (१०) जुगलरसमाधुरी, (११) फूलविलास, (१२) गोधन-आगम, (१३) दोहनानंद-अष्टक, (१४) लगनाष्टक, (१५) फागविलास (१६) ग्रीष्मबिहार, (१७) पावस-पचीसी, (१८) गोपी-बैनविलास, (१९) रासरसलता, (२०) रैनरूपारस, (२१) सीतसार, (२२) इश्कचिमन, (२३) छूटक दोहा मजलस मंडन, (२४) रास अनुक्रम के दोहे, (२५) अरिल्लाष्टक, (२६) सदा की माँझ, (२७) वर्षा रितु की माँझ, (२८) होरी की माँझ, (२९) शरद की माँझ, (३०) श्रीठाकुरजी के जनम उछव के कवित्त, (३१) श्रीठकुरानीजी के जनम उच्छव के कवित्त, (३२) सांझी के कवित्त, (३३) सांझी फूल बीनबि समै संवाद अनुक्रम, (३४) रास के कवित्त, (३५) चाँदनी के कवित्त, (३६) दिवारी के कवित्त, (३७) गोवर्द्धनधारन के कवित्त, (३८) होरी के कवित्त, (३९) फाग खेल समै अनुक्रम, (४०) वसंत वर्णन के कवित्त, (४१) फागबिहार, (४२) फाग गोकुलाष्ट, (४३) हिंडोरा के कवित्त, (४४) वर्षा के कवित्त, (४५) छूटक कवित्त, (४६) वन बिनोद, (४७) बालबिनोद, (४८) सुजानानंद, (४९) रास-अनुक्रम के कवित्त, (५०) निकुंजबिलास और, (५१) गोविंद-परचई।

१३३. वही; पृ० ११।

३. पद-सागर

(१) बनजनप्रसंसा, (२) पदमुक्तावली और (३) उत्सवमाला।

उपर्युक्त ६९ ग्रंथों के अतिरिक्त नागरीदास के बनाये नौ ग्रन्थ और कहे जाते हैं। उनके नाम ये हैं—

(१) छूटकविधि, (२) शिखनख, (३) नखशिख, (४) चरचरियाँ, (५) रेखता, (६) बैनविलास, (७) गुप्तरसप्रकास, (८) धम्य-धम्य और (९) ब्रज संबंधी नाममाला।

इस प्रकार नागरीदास के ग्रंथों की कुल संख्या ७८ होती है। परन्तु जैसा कि पंडित रामचंद्र शुक्ल ने कहा है, इन सभी को ग्रंथ संज्ञा देना उचित न होगा। क्योंकि इनमें कुछ तो ऐसे हैं जिनमें पाँच-पाँच दस-दस पद्यों से अधिक नहीं हैं। वास्तव में ये ग्रंथ न होकर वर्ण्य विषय के शीर्षक मात्र हैं।

कहा जाता है कि नागरीदास डिंगल और पिंगल दोनों में कविता करते थे।[१३४] परंतु इनका बनाया डिंगल भाषा का कोई ग्रंथ अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ। ऊपर जिन ग्रंथों के नाम दिये गये हैं वे सब पिंगल अर्थात् ब्रजभाषा के हैं।

ये कृष्णभक्त कवि थे। इन्होंने अपनी रचना में भगवान् श्रीकृष्ण की प्रेम-लीलाओं का वर्णन किया है, जिसके लिये संयोग शृंगार को अधिक अपनाया गया है। वियोग शृंगार का वर्णन भी है, पर अपेक्षाकृत बहुत थोड़ा। इनकी कविता 'अष्टछाप' के कवियों की कविता से बहुत प्रभावित है। क्या वर्ण्य विषय, क्या रचना-शैली, क्या भाव-भावनाएँ, सभी पर 'अष्टछाप' के कवियों का प्रभाव पाया जाता है। अन्तर केवल इतना है कि 'अष्टछाप' के कवियों ने अधिकतर गेय पद लिखे हैं और इन्होंने कवित्त, सवैया, छप्पय, दोहा आदि अन्य छन्दों का भी प्रयोग किया है। अतः भाव की नवीनता इनकी कविता में कम दृष्टिगत होती है। परंतु इस अभाव की पूर्ति इन्होंने एक दूसरे प्रकार से कर दी है। प्राचीन भावों को इन्होंने ऐसी मधुर और लचीली चित्रात्मकता से अभिव्यक्त किया है कि उनमें एक नूतन उज्ज्वलता और स्फूर्ति आ गई है।

---

१३४. मुंशी देवीप्रसाद; राजरसनामृत, पृ० ६०।

नागरीदास को सबसे अधिक सफलता मिली है अपनी प्रेम-विषयक कविताओं के लिखने में। इनमें इनका प्रेमी हृदय बोलता-सा प्रतीत होता है। इसी विशेषता को देखकर किसी कवि ने कहा है—

नागरि गौरव इश्क मधि, राग बहादुर राज।
ब्रजनिधि गौरव अर्थ विच, रस गौरव रसराज॥[१३५]

(१०) रसिकबिहारी—इनका असली नाम बणीठणी था। बणीठणी का अर्थ है, वस्त्राभूषणों से सजी हुई। यह किशनगढ़ के महाराज सावंतसिंह उपनाम नागरीदास की उपपत्नी थीं और उन्हींकी भाँति भगवान् श्रीकृष्ण की अनन्य भक्त थीं। कविता में यह अपना नाम 'रसिकबिहारी' लिखा करती थीं। सं० १८२१ में जिस समय नागरीदास का वृन्दावन में स्वर्गवास हुआ यह उनके पास विद्यमान थीं। इनकी मृत्यु नागरीदास की मृत्यु के एक वर्ष उपरान्त सं० १८२२ में अषाढ़ सुदि १५ को हुई थी।[१३६] वृन्दावन में नागरीदास की छतरी के पास इनकी भी एक छतरी बनी हुई है, जिस पर यह लेख खुदा हुआ है—

"श्रीबिहारिन बिहारि जो, ललितादिक हरिदास।
नगहर रसिकनि की कृपा, दियो वृन्दावन बास॥
श्रीरसिकदास गुरु की कृपा, लहना भर सत्संग।
विष्णुहि वृन्दावन मिल्यौ, भक्त बिहार अनंग॥
रसिकबिहारी सामरो, ब्रजनागर सुर काज।
इन पद-पंकज मधुकरी, · · · · विष्णु समाज॥"

रसिकबिहारी ने ग्रंथ कोई नहीं लिखा। केवल फुटकर पद लिखे हैं, जिनकी संख्या सौ के लगभग है। इनकी भाषा ब्रजभाषा है, जिसमें कहीं-कहीं राजस्थानी का भी रंग पाया जाता है। इनकी कविता कोमल और माधुर्य रस से परिपूर्ण है।

---

१३५. भावार्थ—नागरीदास प्रेम में पूरे हैं। उनके भाई बहादुरसिंह और पिता राजसिंह रागों में निपुण हैं। ब्रजनिधि (जयपुर के महाराजा प्रतापसिंह) कविता का अर्थ करने में और रसराज (जोधपुर के महाराजा मानसिंह) रसों में अच्छे हैं।

१३६. श्रीराधाकृष्णदास; श्रीनागरीदास का जीवनचरित्र, पृ० २ (परिशिष्ट)।

(५१) हित वृन्दावनदास—ये पुष्कर क्षेत्र के रहनेवाले गौड़ ब्राह्मण थे और सं० १७६५ में पैदा हुए थे।[137] श्री राधावल्लभीय गोस्वामी हितरूपजी इनके गुरु थे। इनके माता-पिता आदि के संबंध में कुछ ज्ञात नहीं है। नागरीदास के भाई बहादुरसिंह इन्हें बहुत मानते थे। इसलिये ये प्रायः किशनगढ़ ही में रहा करते थे। पर बाद में जब राजघराने में राज्य संबंधी झगड़े उठ खड़े हुए तब ये किशनगढ़ छोड़कर वहाँ से वृन्दावन चले गये और अन्त समय तक वहीं रहे। सं० १८४४ तक की इनकी रची कविताएँ मिलती हैं, पर इसके बाद की नहीं मिलतीं। इससे अनुमान होता है कि उक्त संवत् के आसपास किसी समय इन्होंने शरीर छोड़ा होगा।

वृन्दावनदास भगवान् श्रीकृष्ण के अनन्य उपासक थे। इन्होंने कृष्णलीला विषयक छोटे-बड़े कई ग्रंथ बनाए, जिनके नाम ये हैं—

(१) कृष्णगिरिपूजन वेलि, (२) श्रीहितरूपचरित वेलि, (३) भक्ति प्रार्थनावली, (४) चौबीस लीला, (५) हिंडोरा, (६) श्रीब्रजप्रेमानन्द सागर, (७) कृष्ण-गिरिपूजनमंगल, (८) हरिनाम महिमावली, (९) हित हरिवंशचन्द्र जू की सहस्र नामावली, (१०) भावविलास टीका, (११) राधा सुधानिधि, (१२) सेवक बानी, (१३) रसिक यशवर्णन, (१४) युगलप्रीति पचीसी, (१५) आनंदवर्धन वेलि, (१६) नवम समय प्रबंध शृंखला, (१७) कृष्ण सुमिरन पचीसी, (१८) कृष्ण-विवाह-उत्कंठा, (१९) रास-उत्साह वर्द्धन, (२०) इष्टभजन पचीसी, (२१) जगनिर्वेद पचीसी, (२२) पद, (२३) प्रार्थना पचीसी, (२४) राधा जन्म-उत्सव वेलि, (२५) वृषभानु जस पचीसी, (२६) राधा बालविनोद, (२७) लाड़लीजी की जन्म बधाई, (२८) हितकल्पतरु, (२९) भक्त सुजस वेलि, (३०) करुणा वेलि, (३१) भँवर गीत, (३२) लीला (इसमें छोटे-छोटे ४१ ग्रंथ हैं), (३३) हरिकला वेलि, (३४) लाड़सागर, (३५) सेवकजी की विरुदावली, (३६) छद्म षोडशी, (३७) रसिक अनन्य, (३८) ख्यालविनोद, (३९) ब्रजविनोद, (४०) वेलि, (४१) हितरूप चरितावली, (४२) सेवकजी की परिचर्यावली।

इनके सिवा इन्होंने अष्टयाम, समयप्रबंध, अष्टक, वेलि, पचीसी आदि भी कई लिखे हैं।

---

१३७. पं० रामचंद्र शुक्ल; हिंदी-साहित्य का इतिहास, पृ० ३०९।

इन्होंने श्रीकृष्ण के भोजन, शयन, रास आदि का बड़ा विशद वर्णन किया है। सब से बड़ी विशेषता जो इनकी रचना में हमें दीख पड़ती है वह इनकी शुद्ध, सरल और व्यवस्थित ब्रजभाषा है। इनकी पदावली में कांति, माधुर्य्य और कोमलता है। पद-विन्यास भी बहुत ललित है। भावुक कवि के आराध्य देव के प्रति उठनेवाली भाव-तरंगों का हृदयग्राही दृश्य इनकी कविता में हमें देखने को मिलता है।

(५२) हरिचरणदास—ये सरयूपारीण ब्राह्मण थे। इनका जन्म सं० १७६६ में हुआ था। इनके पिता का नाम रामधन और पितामह का वासुदेव था। बिहार प्रान्त का चैनपुर गाँव इनकी जन्मभूमि थी, जहाँ से आकर ये मारवाड़ (किशनगढ़) में बस गये थे—

नवा पार सुभ देस में, राजत बटया ग्राम।
श्रीविश्वंभर वंस मैं, वासुदेव तप धाम॥

ता को सुत श्रीरामधन, कियौ चैनपुर वास।
परगन्ना गोवा तहाँ, चारि वर्न सहुलास॥

सालग्रामी सुरसरित, मिली गंग सों धार।
अंतराल मै देस तहँ, हैं सारनि सरकार॥

तनैं रामधन सूर को, हरि कवि किय मरु वास।
कविवल्लभ ग्रंथहि रच्यौ, कविता दीप प्रकास॥

—कविवल्लभ[१३८]

ये किशनगढ़ के महाराजा सावंतसिंह उपनाम नागरीदास के आश्रित थे और कुछ समय तक किशनगढ़ के महाराजा बहादुरसिंह के दरबार में भी रहे थे। काशी नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित 'हस्तलिखित हिंदी पुस्तकों का संक्षिप्त विवरण' में इनका सं० १८३४ तक विद्यमान होना लिखा है।[१३९] परन्तु ये और भी पीछे तक जीवित थे, जैसा कि इनके 'कविवल्लभ' ग्रंथ से सूचित होता है, जो सं० १८३९में रचा गया था—

संवत नंद[९] हुतासन[३] दिग्गज[८] इंदुहु[१] सौं गनना जु दिखाई।
दूसरो जेठ लसी दसमी तिथ प्रात ही साँवरो पच्छ निकाई॥

---

१३८. सरस्वती भंडार उदयपुर की हस्तलिखित प्रति, पत्र १०७।
१३९. पृ० १९३।

तीर तड़ाग के औ बुधवार विकर्म्मेनि की गति लाय लगाई।
श्री तुलसी उपकंठ तहाँ रचना यह पूरी भई सुखदाई ।।[140]

हरिचरणदास कवि और टीकाकार दोनों थे। इनके बनाये ग्रन्थों के नाम ये हैं —

(1) केशव-कृत रसिकप्रिया की टीका, (2) केशव-कृत कविप्रिया की टीका, (3) बिहारी-सतसई की टीका, (4) जसवंतसिंह-कृत भाषाभूषण की टीका, (5) सभाप्रकाश और (6) कविवल्लभ।

हरिचरणदास की भाषा शुद्ध ब्रजभाषा है। उसमें मीलित वर्ण बहुत कम आने पाये हैं। इनकी कविता साहित्यिक दृष्टि से निर्दोष एवं कोमल है और उसमें कला एवं भाव दोनों का सुन्दर संयोग हुआ है। इनका एक छंद यहाँ दिया जाता है—

आनंद कौ कंद वृषभानुजा कौ मुख-चंद
लीला ही तें मोहन के मानस कौं चोरे हैं।
दूजो तैसो रचिबे कौ चाहत बिरंचि नित
ससि कौ बनावे अजौं मन कौ न भोरे हैं ।।
फेरत है सान आसमान पें चढ़ाय फेरि
पानिप चढायबें कौं बारिधि में बोरे हैं।
राधिका के आनन कौ जोट न बिलोकें बिधि
टूक टूक तोरे पुनि टूक टूक जोरें है ।।[141]

(53) सुंदरकुँवरि—ये किशनगढ़ के महाराजा राजसिंह की पुत्री थीं। इनका जन्म सं० 1791 में हुआ था।[142] सुप्रसिद्ध भक्त कवि नागरीदास इनके भाई थे। जब बाईजी चौदह वर्ष की थीं तब इनके पिता की मृत्यु हो गई और तदनंतर इनके भाइयों में किशनगढ़ के राजसिंहासन के लिए झगड़े होने शुरू हो गये थे, इसलिए इनका विवाह न हो सका और 31 वर्ष की उम्र तक ये कुँवारी रहीं। बाद में जब इनके भतीजे सरदारसिंह गद्दी पर बैठे तब उन्होंने इनका विवाह राघौगढ़ के राजा बलभद्रसिंह के कुँवर बलवन्तसिंह के साथ किया। बाईजी का देहान्त सं० 1853 के लगभग हुआ था।[143]

140. स० भं० उदयपुर की हस्तलिखित प्रति, पत्र 107–8।

141. वही; पत्र 1।

142. मुंशी देवीप्रसाद; महिलामृदुवाणी, पृ० 104।

143. वही; पृ० 107।

सुन्दरकुँवरि बाई साहित्यिक वायु-मण्डल में पली थीं और कविता इनकी पैतृक सम्पत्ति थी। इनके पिता राजसिंह, माता ब्रजदासी, भ्राता नागरीदास और भतीजी छत्रकुँवरि बाई सभी साहित्य-रुचि-सम्पन्न एवं प्रकृष्ट कवि थे। इस वातावरण से इन्हें सत्काव्य-रचना में बड़ी सहायता मिली। पन्द्रह वर्ष की आयु में बाई जी बहुत अच्छी कविता करने लग गई थीं और बाद में तो काव्य-रचना का इन्हें ऐसा व्यसन पड़ गया था कि जिस दिन थोड़ा-बहुत भी लिख नहीं लेतीं, इन्हें कल नहीं पड़ती थी। इन्होंने ग्यारह ग्रन्थों की रचना की, जिनके नाम ये हैं—

(१) नेहनिधि, (२) वृन्दावन-गोपी-माहात्म्य, (३) संकेत-युगल, (४) रंग-झर, (५) गोपी-माहात्म्य, (६) रस-पुंज, (७) प्रेम-संपुट, (८) सार-संग्रह, (९) भावनाप्रकाश, (१०) राम-रहस्य, (११) पद तथा स्फुट कवित्त।[१४४]

सुन्दरकुँवरि बाई की कविता में भक्ति और प्रेम का प्राधान्य है। इनकी रचना से स्पष्ट विदित होता है कि रस, छंद, अलंकार आदि का इन्हें प्रौढ़ ज्ञान था और भाषा तथा भाव के सामंजस्य को ये अच्छी तरह से समझती थीं। इनकी भाषा बड़ी शिष्ट, स्वच्छ एवं सुव्यवस्थित है। इन्होंने काव्य के कला-पक्ष तथा भाव-पक्ष, दोनों ही का बड़ी सुन्दरता से निर्वाह किया है।

(५४) देवकर्ण—ये जाति के पंचोली थे। इन्होंने अपने 'वाराणसी-विलास' में कुछ आत्म-विवरण दिया है, जिससे मालूम होता है कि ये मेवाड़ के महाराणा जगतसिंह (द्वितीय) के दीवान थे। इनके पिता का नाम हरनाथ और पितामह का महीदास था।[१४५]

इनका उक्त एक ही ग्रन्थ 'वाराणसी-विलास' मिलता है। इसमें 'काशी-खण्ड' का सरल ब्रजभाषा में उल्था किया गया है, जो ४०५२ छन्दों में समाप्त हुआ है। यह सं० १८०३ में बना था—

---

१४४. वही; पृ० ११०। हस्तलिखित हिन्दी पुस्तकों का संक्षिप्त विवरण, पृ० १८२।

१४५. महीदास के सुत भये, भंडारी हरनाथ।
देवकर्ण तिन सुत कियो, सदा सु उत्तम साथ॥
—वाराणसी-विलास, पद्य २२४

आश्विन कृष्णा अनंग तिथि, अठारह सै तीन।
उदियापुर शुभ नगर में, उपज्यौ ग्रन्थ नवीन॥

ग्रंथ तीस विलासों में विभक्त है और इसमें दोहा, सोरठा, छप्पय, त्रोटक, तोमर आदि अनेक छन्दों का प्रयोग हुआ है। वैसे कहने को यह एक अनुवादित ग्रन्थ है, पर कवि ने इसमें अपनी काव्य-प्रतिभा का रंग भी यत्र-तत्र भरा है, जिससे इसमें बहुत कुछ नवीनता आ गई है। यह अत्यंत प्रौढ़, प्रशंसनीय एवं हिन्दी का गौरव बढ़ानेवाली रचना है। विशेषकर इसकी सरस और प्रवाहयुक्त भाषा देखने योग्य है। उदाहरण लीजिये—

भोगि सुभोग अखंड बहुरि सिवलोकहि पावहि।
सिव वा सिवगन होत फेरि मृतलोक न आवहि॥
कुंभ-योनि तप भौन महा कहियौ मति भारी।
अब तुव मन में कहा सुनन इच्छा सुखकारी॥
कहि देवकरन कासी कथा सुनत कहत पातक दहत।
मुनि बिना संक बूझ्यौ सु तुम मोहि महा आनँद लहत॥[१४६]

(५५) शिवसहायदास—इनका प्रामाणिक इतिवृत्त नहीं मिलता। 'मिश्रबन्धु-विनोद' के अनुसार ये महाशय जयपुर के भट्ट कवि थे। इनके बनाये हुए शिव-चौपाई और लोकोक्ति-रसकौमुदी नामक दो ग्रन्थों का पता है। ये दोनों सं० १८०९ में लिखे गये थे।[१४७] इनमें लोकोक्ति-रसकौमुदी साहित्यिक रचना है। इसमें पखाने (उपाख्यान) हैं और उन्हीं को मिलाकर कवि ने नायिका-भेद वर्णन किया है।

(५६) सूदन—ये जाति के माथुर ब्राह्मण एवं मथुरा के निवासी थे और इनके पिता का नाम बसंत था—

मथुरा पुर सुभ धाम, माथुर कुल उतपत्ति वर।
पिता बसंत सु नाम, सूदन जानहु सकल कवि॥[१४८]

१४६. स० मं० उदयपुर की हस्तलिखित प्रति, पत्र १५२।
१४७. मिश्रबन्धु; मिश्रबंधु-विनोद, भाग दूसरा, पृ० ६८४।
१४८. सुजानचरित्र, प्रथम अंग, पद्य १०।

ये भरतपुर के जाट राजा सूरजमल उपनाम सुजानसिंह के आश्रित थे। इनका रचना-काल सं० १८२५ के लगभग है। इन्होंने 'सुजानचरित्र' नामक एक बड़ा ग्रन्थ बनाया, जो प्रकाशित हो चुका है। इसमें सूरजमल के सं १८०२ से सं० १८१० तक के युद्धों का वर्णन है। ग्रंथ सात जंगों में विभक्त है। प्रत्येक जंग में कई अंक हैं। यह एक ऐतिहासिक काव्य है और इसमें सूदन ने अपने समय की वास्तविक घटनाओं का वर्णन किया है। फिर भी इसमें कुछ ऐसी घटनाएँ आ गई हैं, जो इतिहास-सिद्ध नहीं हैं; जैसे, इसमें एक स्थान पर सूरजमल द्वारा मालवा की राजधानी माँडू को जीतने की बात कही गई है—

पुनि माँडौगढ़ मालुवे जीत्यौ सिंह सुजान।
कूरम की रच्छा करी निज कर गहि किरिवान ॥[१४९]

परन्तु इतिहास-ग्रन्थों में इस घटना का कहीं उल्लेख नहीं मिलता।

इसकी भाषा प्रधानतया ब्रजभाषा है। परन्तु पंजाबी, पूरबी, राजस्थानी, खड़ी बोली, उर्दू आदि के भी कुछ अंश इसमें पाये जाते हैं। जहाँ जिस प्रांत अथवा जातिविशेष के मनुष्यों के विषय में सूदन को कुछ कहना होता तो वहाँ उसी प्रांत या जाति की भाषा का प्रयोग करने की उनकी आदत थी। अतएव कुछ स्थानों पर यह ग्रन्थ बहुत बेढंगा हो गया है और संकलन-सा प्रतीत होता है।

महाकवि केशवदास की भाँति सूदन ने भी छन्द बहुत जल्दी-जल्दी बदले हैं और जिस स्थान पर जिस छंद का प्रयोग किया गया है वहाँ छंदशास्त्र के नियमों का पूर्णतः पालन हुआ है। फलस्वरूप एक तो छंदोभंग इनकी कविता में बहुत न्यून है और दूसरे, उनकी गति भी अच्छी है। इनकी वर्णन-शैली सशक्त और कविता ओजस्विनी है; विशेषकर सेना का, युद्ध की तैयारी का, रणांगण की भगदड़ का, वर्णन इन्होंने बहुत अच्छा किया है। इनके ये वर्णन पृथ्वीराज रासौ की टक्कर के हैं। परन्तु कहीं-कहीं इतने लम्बे हो गये हैं कि पढ़ते-पढ़ते मन ऊब जाता है।

(५७) भोलानाथ—ये जयपुर के रहनेवाले कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम नन्दराम था। इनके पौत्र चैनराम ने अपने 'रससमुद्र' में इनका थोड़ा-सा वृत्तान्त दिया है, जिससे मालूम होता है कि जयपुर के महाराजा सवाई माधौसिंह प्रथम के समय (सं० १८०७-२४) में ये जयपुर में आये थे

१४९. वही; पद्य ३२।

और इससे पूर्व ये भरतपुर के जाट राजा सूरजमल के पास रहते थे। चैनराम ने यह भी लिखा है कि भोलानाथ मुगल सम्राट् शाहजहाँ के बड़े प्रीति-पात्र थे और उन्हीं से माँगकर सूरजमल इनको भरतपुर लाये थे।[१५०] परन्तु चैनराम का यह कथन इतिहास से मेल नहीं खाता, क्योंकि शाहजहाँ और सूरजमल समकालजीवी नहीं थे।

भोलानाथ संस्कृत और ब्रजभाषा दोनों में रचना करते थे। इनके रचे ब्रजभाषा के ग्रंथों के नाम ये हैं—

(१) लीला-प्रकाश, (२) सुखनिवास, (३) नवलानुराग, (४) इस्ककला, (५) जुगल-विलास, (६) भीष्म-पर्व भाषा, (७) भागवत दशमस्कंध भाषा, (८) विप्रलब्धा वर्णन, (९) सुमनप्रकाश, (१०) नखशिख, प्रेमपच्चीसी और (११) नैषध (प्रथम सर्गका अनुवाद)।

(५८) प्रतापसिंह—ये जयपुर के महाराजा माधौसिंह के पुत्र और महाराजा जयसिंह (द्वितीय) के पौत्र थे। इनका जन्म सं० १८२१ में हुआ था। महाराजा माधौसिंह की मृत्यु के पश्चात् उनके ज्येष्ठ पुत्र पृथ्वीसिंह राज्यसिंहासन पर आरूढ़ हुए। परन्तु उनकी अकाल मृत्यु हो गयी, जिससे उनके छोटे भाई इन प्रतापसिंह को राज्याधिकार प्राप्त हुआ। उस समय इनकी आयु १५ वर्ष की थी।

महाराजा प्रतापसिंह के समय में मरहठों का जयपुर में बड़ा आतंक और प्रभाव था। इसलिये उनका दमन करने के लिये महाराजा को उनसे कई युद्ध करमें पड़े और दो-एक बार इन्होंने उनको परास्त भी किया। परन्तु राजपूतों

---

१५०. नंदराम तिनकै तनय, कवि पंडित परवीन।
तार्क भोलानाथ जिहि, कीन्हे ग्रंथ नवीन॥
छहों शास्त्र अध्येन सौं, गयै दिल्लीपति पास।
शाहजहाँ पतिसाह कै, भयौ मिलत हुलास॥
पाँच सदी मनसब दियौ, राखै कर अति प्रीत।
तब तिनकी रुचि जानि जिन, भाषा किय इह रीत॥
सूरजमल्ल ब्रजेस सौं, गयौ दिलीपति धाम।
ले आयौ भुवनाथ कौ, दिय बंछित धन धाम॥
माधवेस अंबापतिहिं, मिले तहाँ ते आय।
तिनहूँ भोलानाथ कौ, राखै बहु चित लाय॥

—रससमुद्र

की अनेकता तथा अंतःकलह के कारण जयपुर राज्य का राजनैतिक वातावरण उस समय कुछ ऐसा बिगड़ा हुआ था कि इन्हें अपने प्रयत्नों में स्थायी सफलता न मिल सकी। निरंतर युद्ध में संलग्न रहने के कारण इनकी धन-जनसे ही हानि नहीं हुई, किन्तु इनके स्वास्थ्य को भी भारी धक्का पहुँचा और अन्त में सं० १८६० में ३९ वर्ष की अल्पायु में इनका प्राणांत हो गया।

महाराजा प्रतापसिंह का शरीर बहुत सुडौल और सुन्दर था। ये बड़े हँसमुख, मिलनसार और गुणग्राही थे। परन्तु इनमें दो-एक दुर्गुण भी थे, जिसके कारण इनके सभी गुणों पर पानी फिर गया था। ये बहुत विलासी और अपव्ययी थे। इनका अधिकांश समय भोगविलास में व्यतीत होता था। ये स्त्रियों की पोशाक पहनते और पाँवों में घुँघरू बाँधकर रनवास में नाचा करते थे।[१५१] मदिरा भी ये बहुत पीते थे। इन कुटेवों के कारण इनके हितैषी बहुत से सरदार-उमराव मारे लज्जा के जयपुर छोड़कर चले गये थे।

ये ज्ञान-विज्ञान के बड़े प्रेमी और ललित कलाओं के पृष्ठपोषक थे। कवियों, विद्वानों और संगीतज्ञों का इनके राजदरबार में बड़ा सम्मान होता था। इन्होंने आईने-अकबरी, दीवाने हाफिज आदि फारसी ग्रंथों का हिंदी में अनुवाद करवाया और ज्योतिष, धर्मशास्त्र, वैद्यक, संगीत इत्यादि विषयों पर भी बहुत से ग्रंथ लिखवाये,[१५२] जिनका विद्वत्संसार में बड़ा मान है।

महाराज स्वयं ब्रजभाषा के उत्तम कवि थे। प्रतिदिन पाँच छंद बनाने का इनका नियम था, जिनको ये अपने इष्टदेव श्री गोविंदजी महाराज को अर्पण किया करते थे। कविता में ये अपना नाम 'ब्रजनिधि' लिखते थे। इनके बनाये ग्रन्थों के नाम ये हैं।

(१) प्रेम-प्रकास, (२) फाग-रंग, (३) प्रीति-लता, (४) मुरली-विहार, (५) सुहाग-रैनि, (६) विरह-सलिता, (७) रेखता-संग्रह, (८) स्नेह-बिहार, (९) रमक-जमक-बत्तीसी, (१०) प्रीति-पचीसी, (११) ब्रज-शृंगार, (१२) स्नेह-संग्राम, (१३) नीति-मंजरी, (१४) शृंगार-मंजरी, (१५) वैराग्य-मंजरी, (१६) रंग-चौपड़, (१७) प्रेम-पंथ, (१८) दुखहरनवेलि, (१९) सोरठ ख्याल, (२०) रास का रेखता, (२१) श्रीब्रजनिधि-मुक्तावली, (२२) ब्रजनिधि पद-संग्रह और (२३) हरिपद-संग्रह।

---

१५१. जदुनाथ सरकार; फॉल आव दि मुगल एम्पायर, भाग ३, पृ० ३३७।

१५२. पुरोहित हरिनारायण; ब्रजनिधि-ग्रंथावली, पृ० ४७ (भूमिका)।

ब्रजनिधि कृष्णोपासक कवि थे। इनकी कविता में ब्रजभाषा का प्रायः वही माधुर्य है जो सूर, बिहारी, नागरीदास आदि कवियों की कविता में दृष्टिगोचर होता है। विशेषकर नागरीदास की कविता से इनकी कविता का बहुत सादृश्य है। इनकी कविता बहुत सरस, परिमार्जित एवं उल्लासपूर्ण है। वर्णन-शैली सहज और चित्रोपम है। भगवान् श्रीकृष्ण की मधुर लीलाओं के विविध दृश्य जो इन्होंने अंकित किये हैं वे बहुत सुन्दर तथा लोक-रंजककारी हैं और उनसे इनकी अखण्ड कृष्णभक्ति ही व्यंजित होती है। परन्तु राधा का जो चित्र इन्होंने खींचा है उसमें भक्ति-भाव की अपेक्षा वासना का रंग अधिक है। एक भक्त कवि का अपने आराध्य के प्रति जो पवित्र भाव होना चाहिये वह उसमें नहीं है। राधा का वर्णन पढ़ते समय पाठक को ऐसा प्रतीत होता है मानो वह किसी साधारण सांसारिक नायिका का वर्णन पढ़ रहा है। जैसे—

राधे बैठी अटरियाँ, झाँकनि खोलि किंवार।
मनौ मदन-गढ़ तैं चली, है गोली इक मार॥

राधे घूँघट ओट सौं, चितई नैक निहारि।
मनौं मदन-कर तैं चली, गुप्ती की तरवारि॥

नेजा से नैनान सौं, कियौ राधिका वार।
अक-बक ह्वै जकि-थकि रहे, ब्रजनिधि नंदकुमार॥

बाँकी भौंह-गिलोल सौं, छुटे गिलोला नैन।
ब्रजनिधि मद गजराज के, छूटि गये सब फैन॥[१५३]

महाराजा प्रतापसिंह को पद्यानुवाद का अच्छा अभ्यास था। इनके नीति-मंजरी, शृंगार-मंजरी और वैराग्य-मंजरी ग्रन्थों में, जो क्रमशः भर्तृहरि के नीति-शतक, शृंगार-शतक और वैराग्य-शतक के अनुवाद हैं, मूल कवि के भावों की अच्छी रक्षा हुई है और उनका वास्तविक सौंदर्य प्रायः नष्ट नहीं होने पाया है। अतः इन ग्रन्थों के पढ़ने में मूल ग्रन्थों के पढ़ने का सा आनन्द आता है। उदाहरण—

१५३. पुरोहित हरिनारायण; ब्रजनिधि-ग्रन्थावली, पृ० १३-१५।

मूल

कांतेत्युत्पललोचनेति विपुलश्रेणीभरेत्युत्सुकः ।
पीनोत्तुंगपयोधरेति सुमुखाम्भोजेति सुभ्रूरिति ॥
दृष्ट्वा माद्यति मोदते भिरमते प्रस्तौति विद्वानपि ।
प्रत्यक्षाशुचिपुत्रिकां स्त्रियं मग मोहस्य दुश्चेष्टितम् ॥

अनुवाद

खीन लंक कुच पीन नैंन पंकज से राजत ।
भौंहैं काम-कमान चंदसौ मुख छबि छाजत ॥
मद-गयंद सी चाल ललत चितवत चित चोरत ।
ऐसी नारि निहारि हाथ पंडित जन जोरत ॥
अति ही मलीन मल ठौर वह चितगति भरि अनेक छल ।
ताकौं सु प्रान प्यारी कहत अहो मोह-महिमा प्रबल ॥[१५४]

और भी—

मूल

कृशः काणः खंजः श्रवणरहितः पुच्छविकलो ।
व्रणी पूयक्लिन्नः कृमिकुलशतैरावृततनुः ॥
क्षुधाक्षामो जीर्णः पिठरककपालार्पितगलः ।
शुनीमन्वेति श्वा हतमपि च हन्त्येव मदनः ॥

अनुवाद

दुबरौ कानौ कुस श्रवण बिनु पूँछ नवायें ।
बूढ़ो बिकल सरीर बार बिनु छार लगायें ॥
झरत सीस तैं राधि रुधिर कृमि डारत डोलत ।
छुधा-छीन अति दीन गरगना कंठ कलोलत ॥
यह दसा स्वान पाई तऊ कुतिया सौं उरझत गिरत ।
देखौ अनीत या मदन की मृतिकन कौं मारत फिरत ॥

१५४. स० भं० उ० की हस्तलिखित प्रति, पत्र ६२ ।
१५५. वही; पत्र २१३ ।

(५९) द्वारकानाथ भट्ट—ये श्रीकृष्ण भट्ट के पुत्र थे[156] और अपने पिता के समान ही संस्कृत एवं भाषा के उद्भट विद्वान् और प्रतिभावान कवि थे। इनका जन्म सं० १७५० में हुआ था। ये जयपुर के महाराजा सवाई माधौसिंह (सं० १८०७–२४) के बड़े कृपापात्र थे, जिन्होंने इनको 'सुरसती' की पदवी प्रदान की थी। महाराजा माधौसिंह के पश्चात् क्रमशः महाराजा पृथ्वीसिंह और महाराजा प्रतापसिंह जयपुर के राजसिंहासन पर आसीन हुए थे। उनके राजत्व-काल में भी द्वारकानाथ का मान-सम्मान पूर्ववत् बना रहा और उन्होंने इनको 'बानी,' 'भारती' इत्यादि की उपाधियाँ देकर गौरवान्वित किया। इनके पौत्र कवि मण्डन ने अपने 'रावलचरित्र' ग्रन्थ में इन बातों का विवरण दिया है—

पृथ्वीसिंह परताप कों, किय गुन सों भरपूर।
'बानी' 'भारती' नाम लिय, जग में रह्यो जहूर॥
कवि कुल और कवीन्द्र नित, नृप मुख बोलैं बैन।
पृथ्वीसिंह परताप सों, पाये निसि दिन चैन॥

द्वारकानाथ के बनाये सात ग्रन्थ मिलते हैं। इनमें छः ग्रन्थ ब्रजभाषा के और एक संस्कृत का है। उनके नाम ये हैं—

(१) मधुकर-कलानिधि, (२) वाणी-वैराग्य, (३) रागचंद्रिका, (४) शब्द-चंद्रिका, (५) पृथ्वीसिंह महाराज का ब्यावला, (६) प्रतापसिंह के सभासदों का वर्णन, (७) अलंकार ग्रंन्थ, (८) गालवगीत (संस्कृत)।[157]

इन ग्रंथों के अतिरिक्त इनके फुटकर छन्द भी बहुत मिलते हैं। एक कवित्त यहाँ दिया जाता है।

उमड़ि अथाह अम्बु धारें धुरवान ये तो
झंझा को झकोर झुकें झरना झरतु है।
'सुरसती' कहै चपलान की चमाचमीन
चमकति कह्यो दिव्य औषधि हिरतु है॥
टूटि टूटि परैं नव बधूटी ब्योम मण्डल तें
भिरि भिरि मानिक के सिखर खिरतु है।
झाँखवारे सक्र सों पयोनिधि की काँखवारे
खाँखवारे पब्बै मेह मिस लै फिरतु है॥

१५६. राजस्थान के हिन्दी साहित्यकार, पृ० १८६।
१५७. वही; पृ० १८८।

(६०) जगदीश—ये लक्ष्मण भट्ट के पौत्र और श्रीकृष्ण भट्ट (कविकला-निधि) के द्वितीय पुत्र थे। इनका जन्म सं० १७८० में हुआ था। ये जयपुर के महाराजा प्रतापसिंह के दरबारी कवि थे। इनके बनाये कई ग्रन्थ कहे जाते हैं जिनमें से नीचे लिखे पन्द्रह ग्रंथों का पता है—

(१) काव्यविनोद, (२) किशोरसुखसागर, (३) जगतरसरंजन, (४) जगत-भक्तिविलास, (५) भक्ति-अरगजा, (६) पदमकरंद, (७) पदपंकज, (८) ब्रह्म-वैवर्त पद्यानुवाद, (९) भागवत दशम स्कन्ध पद्यानुवाद, (१०) षोडश ग्रंथ अनुवाद, (११) वन-पर्व पद्यानुवाद, (१२) शान्ति-पर्व पद्यानुवाद, (१३) शिशु-पाल वध पद्यानुवाद, (१४) शतक त्रय पद्यानुवाद और (१५) आर्याशतक पद्यानुवाद।

जगदीशजी के काव्य में उच्च कोटि के साहित्यिक गुण पाये जाते हैं। इनकी भाषा बहुत सीधी-सादी और व्यवस्थित है। वर्णन-शैली चित्रोपम और साकार है। जयपुर के 'बादल महल' पर लिखा इनका एक कवित्त देखिये—

उतै भूरि बादर हैं बादर महल इतै
चंचल उतै को इतै कंचनियाँ लाखी है।
जुगनूँ जमात उतै दीपन की पाँत इतै
गरज उतै को इतै नोबतियाँ आखी है॥
उतै साँझ फूली इतै रंग-रली समा सोभ
कवि जगदीश भल भारती यो भाखी है।
उतै इन्द्र इतै महेन्द्र श्री प्रताप भूप
अद्भुत तीज की जलूस रचि राखी है॥

(६१) गणपति भारती—ये माथुर चतुर्वेदी ब्राह्मण मथुरामल के पुत्र और जयपुर के महाराजा सवाई प्रतापसिंह के दरबारी कवि थे। इनका रचनाकाल सं० १८३५-६० है। ये महाराजा प्रतापसिंह के काव्य-गुरु भी थे[१५८] और उन्होंने इनको एक गाँव, पालकी, पदवी इत्यादि देकर सम्मानित किया था, जिसका उल्लेख इन्होंने अपने इस छन्द में किया है—

१५८. हितैषी, दिसम्बर-जनवरी, सन १९४१-४२ में प्रकाशित स्वर्गीय पुरोहित हरिनारायणजी का 'जयपुर के कवि-कोविद' शीर्षक लेख, पृ० १४७।

कीन्ही है दीठि श्रीप्रताप भूप जैपुर पति
ता दिन तें गनपति अंग पर आव भो।
खाइबे को गाम जमा रहिबे कों घर नीके
रतननि के भूषण सों भर भर छाव भो॥
'भारती' भनत हमें पालकी चँवर दिये
जरी सिरपाव चाव सहित सिताब भो।
सारती सकल सुख गुरुवर उचारती
जारती अरिन छाती 'भारती' खिताब भो॥[१५९]

गणपति के बनाये कई ग्रन्थ मिलते हैं, जिनमें कुछ मौलिक, कुछ संस्कृत ग्रन्थों के अनुवाद और कुछ संकलन हैं। उनके नाम ये हैं—

(१) भीष्म-पर्व भाषा, (२) योगवाशिष्ठसार भाषा, (३) नय-पचीसी, (४) विरह पचीसी, (५) प्रीति-मंजरी, (६) अन्योक्ति-काव्य, (७) शृङ्गार हजारा, (८) वीरहजारा, (९) नवरस और (१०) अलंकार-सुधानिधि।

(६२) पद्माकर—ये तैलंग ब्राह्मण थे। इनका जन्म सं० १८१० में बाँदा में हुआ था। कोई-कोई इनका जन्मस्थान सागर बतलाते हैं। इनके पिता का नाम मोहनलाल और पितामह का जनार्दन था। ये कई स्थानों पर रहे। सुगरा के अर्जुनसिंह ने इन्हें अपना गुरु बनाया था। सं० १८४९ में ये महाराज गोसाँई अनूपगिरि उपनाम हिम्मत बहादुर के यहाँ थे। सं० १८५६ में ये सितारे के महाराज रघुनाथराव के यहाँ गये और वहाँ से जयपुर पहुँचे, जहाँ पर इन्होंने अपना प्रख्यात ग्रन्थ 'जगद्विनोद' बनाया। ये कुछ दिनों तक ग्वालियर, उदयपुर और बूँदी के राजदरबारों में भी रहे थे।

कहते हैं कि वृद्धावस्था में पद्माकर कानपुर चले गये थे। वहाँ सं० १८९० में गंगा-तट पर इनका गोलोकवास हुआ था। उस समय इनकी आयु ८० वर्ष की थी।

पद्माकर के दो पुत्र थे, मिहीलाल और अम्बाप्रसाद। दोनों पिता के समान ही कविता करते थे। मिहीलाल जयपुर में ही रहे। इनके वंशज अभीतक जयपुर में रहते हैं। अम्बाप्रसाद के वंशवाले दतिया आदि राज्यों में पाये जाते हैं।

१५९. राजस्थान के हिन्दी साहित्यकार, पृष्ठ १७६।

पद्माकर जन्मसिद्ध कवि और साहित्य-शास्त्र के अधिकारी विद्वान् थे। इनके बनाये निम्नलिखित नौ ग्रन्थों का पता है—

(१) हिम्मत बहादुर-विरुदावली, (२) जगद्विनोद, (३) पद्माभरण, (४) जयसिंह विरुदावली, (५) आलीजा-प्रकाश, (६) हितोपदेश भाषा, (७) रामरसायन, (८) प्रबोध-पचासा और (९) गङ्गा-लहरी।

इनके सिवा इनकी लिखी नौ पुस्तकें और बताई जाती हैं; कलियुग पचीसी, प्रतापसिंह-विरुदावली, यमुना-लहरी, ईश्वर पचीसी, रायसा भगवत्पंचाशिका, राजनीति, प्रतापसिंह सफरनामा और अश्वमेध।[१६०]

इनमें 'जगद्विनोद' पद्माकर का सर्वश्रेष्ठ ग्रंथ है। यह जयपुर के महाराजा सवाई जगतसिंह की आज्ञा से बनाया गया था। इसमें इनके निर्माण काल का निर्देश नहीं है। परन्तु अनुमान किया जाता है कि यह सं० १८६७ में लिखा गया था।[१६१] इनमें ६९२ छंद हैं, ४२० दोहे, १४२ कवित्त, १२७ सवैये और ३ छप्पय। ग्रंथ दो खण्डों में विभक्त है। प्रथम खण्ड में मंगलाचरण के अनन्तर महाराजा जगतसिंह की प्रशंसा की गई है और फिर नायिका-भेद लिखा गया है। दूसरे खण्ड में भाव, विभाव संचारी भाव और रसों का वर्णन है।

पद्माकर शृंगारी कवि थे। इनकी कवितामें शृंगार रस का प्राधान्य है। परन्तु इन्होंने वीर, शान्त आदि रसों पर भी यथेष्ट मात्रा में लिखा है और बहुत अच्छे ढंग से लिखा है। इनकी भाषा शुद्ध ब्रजभाषा है, जो बहुत कोमल एवं कर्णमधुर है। उसमें अनुप्रास की छटा खूब दिखाई देती है। इनकी कविता का प्रधान गुण है भाव की चित्रात्मकता। जिस भाव को उठाया उसका इन्होंने ऐसा मनोरम और वास्तविक चित्र अंकित किया है कि वह मूर्तिमान होकर हमारी आँखों के सामने झूलने लगता है और हमारे मन पर स्थायी प्रभाव छोड़ जाता है।

(६३) गौरीबाई—इनका जन्म सं० १८१५ में डूँगरपुर शहर में हुआ था। यह जाति की नागर ब्राह्मण थीं।[१६२] इनके माता-पिता का नाम

१६०. श्री असोरी गंगाप्रसादसिंह; पद्माकर की काव्य-साधना, पृ० ८ (भूमिका) श्रीवल्लभ-वंश-वृक्ष, पृ० १२।

१६१. मिश्रबंधु-विनोद, भाग दूसरा, पृ० ९०२।

१६२. राजस्थानी भाषा और साहित्य, पृ० २०३।

अविदित है। इनका विवाह पाँच-छह वर्ष की बहुत छोटी अवस्था में हो गया था। परन्तु विवाह के एक वर्ष बाद इनके पति का देहान्त हो गया। वैष्णव धर्म का पालन गौरीबाई से अच्छी तरह से हो सके इस उद्देश्य से इनके माता-पिता ने इन्हें पढ़ाना-लिखाना प्रारम्भ किया और कुछ ही समय में यह पढ़-लिखकर होशियार हो गई। कालान्तर में इन्होंने भागवत, गीता आदि, धार्मिक ग्रन्थों का अच्छा अध्ययन कर लिया और कविता भी करने लग गई। अपना अधिकांश समय यह पूजा-पाठ और भजन-कीर्तन में व्यतीत करती थी। धीरे-धीरे इनकी ज्ञान-गरिमा और भगवद्भक्ति की महिमा चारों ओर फैल गई और हजारों की संख्या में लोग इनके दर्शन करने तथा भजन सुनने के लिये इनके पास आने लगे। उस समय डूँगरपुर पर महारावल शिवसिंह (सं० १७८६-१८४२) राज्य करते थे[१६३], जो बड़े धर्मिष्ठ और प्रभु-भक्त राजा थे। उनके कानों में भी गौरीबाई की कीर्ति-कथा पहुँची। उन्होंने इनके लिए एक मन्दिर बनवा दिया, जो अभी तक डूँगरपुर में मौजूद है।

कहते हैं कि अन्त समय में गौरीबाई काशी चली गई थीं और वहीं सं० १८६५ के लगभग पचास वर्ष की अवस्था में इनका देहावसान हुआ था।

गौरीबाई मीराँ का अवतार मानी गई हैं। उनकी तरह इन्होंने भी केवल फुटकर पद लिखे हैं, जिनकी संख्या ६१० है। इन पदों में इन्होंने ज्ञान, भक्ति तथा वैराग्य की महिमा बतलाई है। इनकी भाषा राजस्थानी तथा ब्रजभाषा का मिश्रण है। इनके पदों पर कबीर, सूर आदि प्राचीन भक्त कवियों का प्रभाव स्पष्ट है। सरलता और तन्मयता भी उनमें यथेष्ट पाई जाती है। पद गाने के लिए बहुत उपयुक्त हैं। उदाहरण—

प्रभु मोकूँ एक बेर दरसन दइयै ॥
तुम कारन मैं भई रे दिवानी, उपहास जगत को सहियै।
हाथ लकुटिया काँधे कमलिया, मुख पर मुरली बजैयै ॥
हीरा मानिक गरथ भंडारा, माल मुलक नहीं चहियै।
गवरी के ठाकर सुख के सागर, मेरे उर अन्तर रहियै ॥[१६४]

१६३. ओझा; डूँगरपुर राज्य का इतिहास, पृ० २२१।
१६४. राजस्थानी भाषा और साहित्य; पृ० २०३।

(६४) अलिरसिक गोविन्द—ये जयपुर-निवासी बालकृष्ण के पुत्र थे। इनका रचना-काल सं० १८३० के लगभग है। ये हरिव्यास के शिष्य थे। वृद्धावस्था में ये वृन्दावन चले गये थे, जहाँ सं० १८६० में गोलोकवासी हुए थे।

ये अपने समय के अच्छे कवि और प्रतिष्ठित भक्त थे। इनके निम्नलिखित सात ग्रन्थों का पता है, जो ब्रजभाषा में हैं—

(१) गोविन्दानन्दघन, (२) अष्टदेश भाषा, (३) युगलरसमाधुरी, (४) कलियुग रासौ, (५) पिंगल ग्रन्थ, (६) समयप्रबन्ध और (७) श्रीरामायण सूचनिका।[१६५]

(६५) छत्रकुँवरि—इनका बनाया हुआ 'प्रेमविनोद' नामक एक ग्रन्थ मिलता है। इसमें इन्होंने तनिक आत्म-परिचय दिया है, जिससे मालूम होता है कि यह रूपनगर (किशनगढ़) के महाराजा सरदारसिंह की पुत्री और महाराजा सावन्तसिंह उपनाम नागरीदास की पोती थीं—

रूपनगर नृप राजसी, जिन सुत नागरिदास।
तिनके सुत सरदारसी, हौं तनया मैं तास॥

रूपनगर के इतिहास मे इनको महाराजा सरदारसिंह की उप-पत्नी की बेटी लिखा है और यह भी लिखा है कि इनका विवाह कोटड़े अर्थात् राघौगढ़ के खीची गोपालसिंह के साथ हुआ था। यह लेख ठीक है और इसकी पुष्टि भाट-बड़वों की बहियों से भी होती है।

छत्रकुँवरि बाई का लिखा हुआ पूर्वोक्त एक ही ग्रन्थ 'प्रेमविनोद' मिला है, जो ब्रजभाषा में है। यह सं० १८४५ में लिखा गया था।[१६६] इसमें शृंगार रस की प्रधानता है। रचना सरस और मनोहारिणी है।

(६६) भैरूँ कवि—जयपुर राज्य के अधीन शेखावाटी प्रान्त में खेतड़ी नाम का एक प्रसिद्ध ठिकाना है। यह जयपुर से उत्तर की ओर ४५ मील की दूरी पर बसा हुआ है और जयपुर राज्य का सब से बड़ा करद संस्थान है। भैरूँ कवि यहीं के निवासी थे। ये खेतड़ी के राजा बाघसिंह के समकालीन थे। बाघसिंह ने सं० १८२८ से सं० १८५७ तक राज्य किया था।[१६७] अतएव

१६५. हस्तलिखित हिन्दी पुस्तकों का संक्षिप्त विवरण, पृ० १०।
१६६. मुंशी देवीप्रसाद; महिलामृदुवाणी, पृ० २०।
१६७. पं० झाबरमल्ल शर्मा; आदर्श नरेश, पृ० १४।

लगभग यही समय भैरूँ कवि का भी ठहरता है। ये जाति के लोहार थे। इनके वंशज अभी तक खेतड़ी में विद्यमान हैं।

कहा जाता है कि भैरूँ कवि ने कई ग्रंथ लिखे थे, पर उन सब का पता नहीं लगता। केवल एक ग्रन्थ हस्तगत हुआ है—छहरितुविलास। इसके अलावा इनके कुछ फुटकर छंद भी मिले हैं।

'छहरितुविलास' साहित्य की एक उत्तम कृति है। इसकी भाषा ब्रजभाषा है। इसे कवि ने अपने आश्रयदाता खेतड़ी के राजा बाघसिंह को समर्पित किया है। इसकी कविता ललित एवं चित्रोपम है। ऋतुराज बसंत का शब्द-चित्र देखिये—

तरु नव पल्लव प्रगटि, निपट कोमल छवि छाइव।
ठौर ठौर बढ़ि डार, तरल सुकुमार सुहाइव॥
अंब मौर महकंत, कहुँक कोकिल सुक-सारिय।
कल कपोत धुनि भमर, फब्रित टेसू वन बारिय॥
फूलि झूलि झूमति भई, भू परि लता अमाप तें।
मूरतिवंत बसंत तहँ, विचरत बाघ प्रताप तें॥

(६७) उत्तमचंद भंडारी—ये जोधपुर-निवासी ओसवाल महाजन थे। इनका रचनाकाल सं० १८३७–६४ है। 'मिश्रबंधु-विनोद' में लिखा है कि ये जोधपुर के महाराजा भीमसिंह के मंत्री थे और कुछ दिन महाराजा मानसिंह के भी मंत्री रहे थे।[१६८] परन्तु जोधपुर के इतिहास एवं जोधपुर की ख्यातों आदि से इस कथन की पुष्टि नहीं होती। इतिहास-ग्रंथों से केवल इतना ही विदित होता है कि ये जोधपुर के महाराजा मानसिंह के आश्रित थे।[१६९]

उत्तमचंद के बनाये छह ग्रन्थों का पता है। उनके नाम ये हैं—

(१) नाथचंद्रिका, (२) अलंकार-आशय, (३) तारकतत्त्व, (४) नीति की बात, (५) रतना हमीर की बात और (६) नाथ-पंथियों की महिमा।

इनमें 'अलंकार-आशय' इनकी सर्वश्रेष्ठ रचना है। इसमें अलंकार विषय का विवेचन ही शास्त्रीय ढंग पर हुआ है और उदाहरण में जो कविताएँ रखी गई हैं वे भी बहुत उत्तम कोटि की हैं। नमूना देखिये—

---

१६८. पृ० ८६१।
१६९. ओझा; जोधपुर राज्य का इतिहास, पृ० ८७४।

दुर्लभ या नर देह अमोलक पाइ अजान अकारथ खोवै।
सो मति हीन विवेक विना नर साध मतंगहि इंधन ढोवै॥
कंचन भाजन धूरि भरै सठ मूढ़ सुधारस सौं पग धोवै।
बोहित काग उड़ावन कारन डारि महामणि मूरख खोवै॥

(६८) विष्णुसिंह—इनका जन्म सं० १८३० में हुआ था।[१७०] ये बूँदी-नरेश महाराव राजा उमेदसिंह के पौत्र और अजीतसिंह के पुत्र थे। जब ये साढ़े चार माह के थे तब इनके पिता का देहान्त हो गया, जिससे इनके दादा उमेदसिंह ने बूँदी का शासन सूत्र अपने हाथ में लिया और जब तक विष्णुसिंह नाबालिग रहे तब तक उन्होंने उसे सुचारु ढंग से सँभाला।[१७१] बड़े होने पर इन्होंने राज्य-कार्य करना प्रारंभ किया और जहाँ तक बन सका अपनी तरफ से राज्य को उन्नत करने में कोई कसर न रखी। महाराव राजा को मृगया का बड़ा शौक था और अपने हाथों से सहस्रों सिंहों का शिकार किया था। मृगया में इनका एक पाँव भी टूट गया था, जिससे ये चिरकाल तक लँगड़े रहे और बहुत छोटे दीख पड़ते थे। इनके समय में बूँदी राज्य और अंग्रेजी सरकार के बीच में संधि हुई थी। इन्होंने सात वर्ष तक राज्य किया और अपने पीछे दो पुत्रों को छोड़कर ४५ वर्ष की आयु में स्वर्गवासी हुए।

विष्णुसिंह बड़े वीर, विचारशील, उदार एवं समयोचित कार्य करनेवाले व्यक्ति थे और विद्वानों तथा कवियों का बड़ा सम्मान करते थे। इसके सिवा ये स्वयं भी उच्च कोटि के कवि थे। इनके बनाये हुए दस हजार के लगभग कवित्त, सवैया इत्यादि मौजूद हैं, जिनसे इनके अद्भुत काव्य-कौशल और अगाध भगवद्भक्ति का परिचय मिलता है। इनकी भाषा और भाव दोनों जैसे सरल हैं वैसे ही व्यंजना भी चुभती हुई, आकर्षक है। उदाहरण—

होरी में गोरी किसोरी सबै मिलि दौरी सुपौरी पै कान्ह पयैरी।
हो हो कै हाक करी हँसिकै बसिकै रसिकै चसिकै सचयैरी॥
चंदन चोवन चर्चित है चित यौं पिय की करि कै रिझयैरी।
मार मची अति ही सुकुमार सुलाल गुलाल तें लाल भयैरी॥

---

१७०. मुंशी देवीप्रसाद; राजरसनामृत, पृ० ७१।
१७१. वही।

(६९) उमेदराम—ये पाल्हावत शाखा के चारण जयपुर राज्य के हणूँतिया नामक गाँव में सं० १८०० में पैदा हुए थे ।[१७२] इनके पिता का नाम सामंतजी और दादा का घासीराम था । उमेदराम के जन्म लेनेके कुछ दिन बाद ही इनके पिता सामन्तजी का देहान्त हो गया और इनके पितामह घासी-राम ने इनको पाल-पोषकर बड़ा किया । उन दिनों मरहठों की सेना ने राजस्थान में लूट-मार मचा रखी थी । इसलिए सब लोग जहाँ-तहाँ भागते और छिपते फिरा करते थे । अतः अपने दादा घासीराम के साथ उमेदराम भी इधर-उधर भटकते रहते थे । परन्तु कुछ काल बाद घासीराम की मृत्यु हो गई और घर-गृहस्थी का सारा भार इनपर आ पड़ा । इससे दुःखी होकर ये घर से निकल गये और अपने जन्म-स्थान हणूँतिया से कोई दस कोस की दूरी पर सामपुर नामक गाँव में एक ब्राह्मण के पास रहने लगे । उमेदराम यद्यपि विपत्ति के समुद्र में डूबे हुए थे, पर उद्योगी थे । इसलिए पण्डितजी की सेवा कर उनके स्नेह-भाजन बन गये और विद्याध्ययन करने लगे । वहाँ इन्होंने सारस्वतचन्द्रिका, अमरकोष, रघुवंश इत्यादि संस्कृत ग्रंथों तथा भाषा-कविता का अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लिया और फिर अपने घर लौट आये । परन्तु माता की दरिद्रावस्था देखकर इनका दिल पसीज गया और दूसरे दिन जयपुर चले गये ।

इस समय जयपुर में महाराजा माधोसिंह का राज्य था । उन्होंने इनका बड़ा सत्कार किया और एक सिरोपाव तथा पचास रुपैया देकर इनकी प्रतिष्ठा बढ़ाई । इसके अनन्तर ये राजस्थान के अन्य कई रजवाड़ों में गये जहाँ इनका बड़ा मान-सम्मान हुआ । अन्त में ये राजगढ़ (अलवर) के रावराजा बख्तावर-सिंह के पास गये जिन्होंने इनको अपने पास रख लिया । बख्तावरसिंह की कृपा से इनका खूब भाग्योदय हुआ । यहाँ तक कि अलवर राज्य का शासन-प्रबन्ध भी इन्हीं के हाथ से होता था । इनको दस हजार की जागीर, हाथी, घोड़े, शिविकादि राज्य-चिह्न मिले और इस प्रकार इनका घर बन गया ।

रावराजा बख्तावरसिंह के बाद विनयसिंह उनके उत्तराधिकारी हुए । इनके समय में भी उमेदराम का सम्मान पूर्ववत् बना रहा । इनका देहान्त सं० १८७८ में हुआ ।[१७३]

---

१७२. पुरोहित हरिनारायण, स्व० बारहठ बालाबख्श, पृ० १० ।
१७३. वही ।

उमेदराम के दो पुत्र थे, चामुंडदान और रूपजी। ये भी बहुत विख्यात थे। रूपजी बड़े दातार थे। उनके विषय में यह कविता प्रसिद्ध है—

रूपा बारठ खूब था, बासी अलवर का।
दी सतरैसे असरफी, इक टप्पा भर का॥

परन्तु रूपजी दुराचारी और शराबी थे। इन्होंने अपने पिता की संचित की हुई धन-सम्पत्ति को उड़ा दिया। इनके दुराचरण के कारण इनके दो गाँव भी जब्त कर लिये गये जो, बहुत उद्योग करने पर भी इनको वापस न मिले।

राजस्थान के चारण कवियों में उमेदराम का एक विशिष्ट स्थान है। ये डिंगल और पिंगल दोनों में रचना करते थे। विशेषकर शोक-काव्य लिखने में ये बड़े निपुण थे। इनके लिखे ग्रंथों के नाम ये हैं—

(१) वाणीभूषण, (२) राजनीति चाणक्य, (३) रामचन्द्रजी की राजनीति, (४) अवध पच्चीसी, (५) मिथिला पच्चीसी, (६) जमक-शतक, (७) बिहारी-सतसई की टीका, (८) कविप्रिया की टीका, (९) मरसिया बख्तावरसिंहजी, (१०) गीत झमाल, (११) सत्योपदेश, (१२) ब्रह्मकवच और (१३) रामाश्वमेध।[१७४]

उमेदराम संस्कृत, डिंगल, पिंगल आदि कई भाषाओं के पण्डित थे। काव्य-शास्त्र का इनको पूर्ण ज्ञान था। इनमें यथेष्ट कवित्व-शक्ति भी थी। इनकी भाषा खूब मजी हुई ब्रजभाषा है और वह विषय-वस्तु का एकान्त अनुसरण करती है। कविता अलंकारमयी और चित्र-बहुल है।

(७०) मंडन भट्ट—ये जयपुर के महाराजा जयसिंह (तृतीय) के आश्रित कवि, जाति के तैलंग ब्राह्मण थे। इनका जन्म सं० १८३० में हुआ था।[१७५] इनके पिता का नाम ब्रजलाल था, जो ब्रजभाषा के अच्छे कवि थे। मंडनजी अपने समय के बहुत प्रसिद्ध कवि थे और जयपुर के अतिरिक्त बूँदी आदि अन्य राज्यों में भी इनकी बड़ी प्रतिष्ठा थी। इन्होंने कुल मिलाकर ११ ग्रन्थ बनाये, जिनके नाम ये हैं—

(१) श्रीकृष्ण ब्रजबिहार, (२) नवरसरत्नाकर, (३) रससमुद्र, (४) राम जस चन्द्रिका, (५) कृष्ण-सुजस-प्रकास, (६) सुलोचना-चरित्र, (७) राठौड़

---

१७४. वही।

१७५. श्रीवल्लभ-वंश-वृक्ष, पृ० १२।

चरित्र, (८) भारतचरित्र, (९) रावकचरित्र, (१०) जयसाह-सुजस-प्रकाश और (११) बापूचरित्र।[१७६]

(७१) बुधजन—ये जयपुर-निवासी जैन कवि थे। इनका वास्तविक नाम वृद्धिचंद था। ये दीवान अमरचंद के मुख्य अमीन थे।[१७७] इनका रचना-काल सं० १८७०-९२ है। इनकी अब तक निम्नलिखित चार पद्य-रचनाएँ मिली हैं—

(१) तत्त्वार्थ बोध, (२) बुधजन-सतसई, (३) पंचास्तिकाय और (४) बुधजन-विलास।

बुधजन हिन्दी के उन इने-गिने जैन कवियों में से हैं, जिनकी रचना में थोड़ी-सी साहित्यिकता पाई जाती है। भाव की मौलिकता इनमें विशेष दिखाई नहीं देती, पर भाषा इनकी काफी सरस और विषयानुकूल है। उदाहरण—

मेरे अवगुन जिन गिनौ, मैं अवगुन को धाम।
पतित उधारक आप हो, करौ पतित को काम॥
पर उपदेस करन निपुन, ते तो लखे अनेक।
करै समिक बोलै समिक, जे हजार में एक॥
दुष्ट मिलत ही साधुजन, नहीं दुष्ट ह्वै जाय।
चन्दन तरु को सर्प लगि, विष नहीं देत बनाय॥
दुर्जन सज्जन होत नहिं, राखो तीरथ बास।
मेलो क्यों न कपूर में, हींग न होय सुबास॥

(७२) कृष्णलाल—ये बूँदी के प्रसिद्ध गोस्वामी गदाधरलाल के वंश में महंत श्री मोहनलाल के पुत्र थे। इन्होंने सं० १८७२ में नायिका-भेद का एक ग्रंथ 'कृष्ण-विनोद' और सं० १८७४ ई० में दूसरा ग्रंथ अलंकारों का 'रस-भूषण' नामका बनाया।[१७८] महाराव राजा विष्णुसिंहजी की राणी राठौड़जी की आज्ञा से भक्तमाल की टीका भी इन्होंने लिखी थी। इनकी भाषा सानुप्रास और कविता मधुर है। एक उदाहरण देखिये—

१७६. राजस्थान के हिन्दी साहित्यकार, पृ० १९०; श्रीवल्लभ वंश-वृक्ष, पृ० १२।

१७७. कामताप्रसाद जैन; हिन्दी जैन साहित्यका का संक्षिप्त इतिहास, पृ० १९७।

१७८. मुंशी देवीप्रसाद; कविरत्नमाला, पृ० ६२।

सूखि सफेद भई बिरहै जरि, सोई गंगे गति ऊरध दैनी।
अंग मलीन अंगार के धूमसी, सो जमुना जग जाहर रैनी॥
ताहि समै भयो प्यारे को आवन, सो अनुराग गिरा गति लैनी।
कृष्ण कहै तब ही वर बाल कै, आय कढ़ी ततकाल त्रिवैनी॥

(७३) चंडीदान—ये बूँदी राज्य के आश्रित कवि मिश्रण शाखा के चारण थे। इनका जन्म सं० १८४८ में हुआ था। इनके पिता का नाम बदनजी था, जो अपने समय में राजस्थान के बहुसम्मानित कवि थे। डिंगल भाषा के प्रख्यात कवि सूरजमल इनके पुत्र थे। चंडीदान बूँदी के रावराजा विष्णुसिंह के बड़े कृपापात्र थे, जिन्होंने इनकी फुटकर कविता और 'बिरुद-प्रकाश' नामक ग्रंथ पर रीझकर इनको रोसूँदा नामक एक गाँव, लाखपसाव, लक्ष्मणगज हाथी, मकान आदि पुरस्कार में दिये थे।[१७९]

चंडीदान बड़े मद्यपी थे। परन्तु अन्त समय में सब व्यसन छोड़कर काशी चले गये थे, जहाँ सं० १८९२ में इनकी मृत्यु हुई थी।

ये संस्कृत, ब्रजभाषा तथा डिंगल के मर्मज्ञ विद्वान् और आशुकवि थे। इनके बनाये ग्रंथों के नाम ये हैं—

(१) सारसागर, (२) बलविग्रह, (३) वंशाभरण, (४) तीजतरंग और (५) बिरुदप्रकाश।

चंडीदान की कविता सानुप्रास और सरस है। उसमें इन्होंने भाव की अपेक्षा उक्ति-चमत्कार लाने की चेष्टा विशेष की है। उदाहरण—

सुखद सताब डग डारत डगर बीच
तरल ततायी तुरतायी आवजाव मैं।
राग कीर पेट तें उमंग अंग अंजन मैं
नाचत निकाई तान चाल चितचाव मैं॥
रामसिंह नृप के तुरंग चतुरंग मोर
ठौर ठौर ठायै कवि कीरति कहाव मैं।
ऐसी गति नाच मैं न चपला चलाव मैं न
भामिनी के भाव मैं न पातुरी के पाँव मैं॥

---

१७९. मुंशी देवीप्रसाद; कविरत्नमाला, पृ० १०८।

(७४) जवानसिंह—ये मेवाड़ के महाराणा भीमसिंह के पुत्र और महाराणा हम्मीरसिंह (द्वितीय) के पौत्र थे। इनका जन्म सं० १८५७ में और देहान्त सं० १८९५ में हुआ था।[१८०] इतिहास-प्रसिद्ध रूपवती कृष्ण कुमारी इनकी बहिन थी। ये कविता में अपना नाम 'ब्रजराज' लिखा करते थे। इन्होंने ब्रजभाषा में अनेक कवित्त, सवैया, पद आदि बनाए, जिनका संग्रह 'ब्रजराज-पद्यावली' के नाम से प्रसिद्ध है। इनकी भाषा परिमार्जित, कल्पनाएँ सुघड़ और रचना-पद्धति सरस है। इनके काव्य में शृंगार-भक्ति का अच्छा स्फुरण हुआ है। उदाहरण—

उद्धव आय गये ब्रज में सुनि गोपिन के तन में सुख छायौ।
आनँद सौं उमगी सगरी चलि प्रेमभरी दधि आन बँधायो॥
पूछति है मनमोहन की सुधि बोलत ही दृगनीर चलायौ।
देखि सनेह सखा हरि कै घनस्याम वियोग कछू ना सुनायौ॥[१८१]

(७५) चैनराम—ये कान्यकुब्ज ब्राह्मण कविवर भोलानाथ के पौत्र और शिवदास के पुत्र थे। इनका रचना-काल सं० १८९० है। ये शाहपुरा (जयपुर) के अधीश हनुमन्तसिंह के आश्रित थे।[१८२] इनका बनाया 'रससमुद्र' ग्रन्थ प्रसिद्ध है। यह एक संग्रह-ग्रंथ है, पर है बहुत उपयोगी। इसके सिवा इनके बनाये ग्रन्थों के नाम ये हैं—

(१) अद्‌भुत रामायण, (२) भाषा भारतसार, (३) भारतसार-चन्द्रिका और (४) जानकी सहस्रनाम।

(७६) मानसिंह—ये जोधपुर के महाराजा विजयसिंह के पौत्र और गुमानसिंह के पुत्र थे। इनका जन्म सं० १८३९ में हुआ था।[१८३] इक्कीस वर्ष

---

१८०. ओझा; उदयपुर राज्य का इतिहास, पृ० ७२२ और ७३२।

१८१. ब्रजराज-पद्यावली की हस्तलिखित प्रति, पत्र १०।

१८२. चैनराम तिन तनय, ग्रन्थ भाषा कुछ पढ़्ढिय।
महाराव हनुमन्त मिलत किय कृपा सु गढ्ढिय॥
साहिपुरा सुखधाम तहाँ बुलवाय सु लिक्खिय।
हित करि तहाँ बसाय सबै मन बाँछित दिक्खिय॥
जिहिं द्वार भीर जाचक अमित आवत पावत रैन दिन।
हय गय अनन्त भूषण धरनि बिन दिय रहत न एक छिन॥

—रससमुद्र

१८३. विश्वेश्वर नाथ रेउ; मारवाड़ का इतिहास, पृ० ४०१।

की अवस्था में ये जोधपुर की गद्दी पर बैठे। कुछ सरदारों के षड्यन्त्रों, नाथों तथा मरहठों के कारण इनके राज्य में बड़ी अव्यवस्था रही और इन्हें बड़े कष्ट झेलने पड़े। मरहठों आदि से तो इन्होंने खूब लोहा लिया और बड़ी चतुराई से उनका दमन किया, पर नाथ-सम्प्रदाय के प्रति अत्यधिक भक्ति होने से नाथों का दमन ये न कर सके। यही नहीं, तत्कालीन पोलिटिकल एजेण्ट लडलो ने जब दो-एक उपद्रवी नाथों को पकड़कर अजमेर भेज दिया तब इन्हें भारी दुःख हुआ और उनको छुड़वाने की चेष्टा करने लगे।[१८४] अन्त में अपने इस प्रयत्न में जब इन्हें सफलता न मिली तब इन्होंने अन्न खाना छोड़ दिया और संन्यास लेकर इधर-उधर भटकने लगे।[१८५] इनका देहान्त सं० १९०० की भादों सुदी ११ को जोधपुर में हुआ।

महाराजा मानसिंह बड़े कविता-प्रेमी, गुणाढ्य और सरस्वती-सेवक थे।[१८६] इन्होंने काव्य-कला को बहुत प्रोत्साहन दिया। ये कवि-कोविदों का इतना आदर करते थे कि वे पालकियों में बैठे फिरते थे। इनके आश्रित कुछ बहुत प्रसिद्ध भाषा-कवियों के नाम ये हैं—

नाम	ग्रन्थ
चैनाजी चारण	जलन्धरस्तुति
शिवनाथ	जलन्धरजसवर्णन
मूलचन्द यति	मानसागरीमहिमा
मनोहरदास	जस-आभूषणचन्द्रिका
	फूलचरित्र
दौलतराम सेवग	जलन्धरगुणरूपक
मीर हैदरअली	जलन्धर-स्तुति
सुकालनाथ	नाथ-आरती
पन्नाजी सेवग	नाथ-उत्सवमाला

१८४. वही; पृ० ४३८।

१८५. वही; पृ० ४३८।

१८६. इनकी गुणग्राहिता सम्बन्धी यह दोहा राजस्थान मे बहुत प्रसिद्ध है:—

जोध बसाई जोधपुर, ब्रज कीनी ब्रजपाल।
लखनेऊ कासी दिली, मान करी नयपाल॥

नाम	ग्रंथ
सेणीदान और पीरचंद	नाथस्तुति
गुमानजी	दसमस्कंध भाषा
ताराचंद	नाथानंद-प्रकाशिका
गाडूराम और वागीराम	जलंधरजसभूषण
	मानसिंहजसरूपक
बाँकीदास[१८७]	नाथस्तुति

महाराजा मानसिंह स्वयं अच्छे कवि थे। ये संस्कृत, पिंगल और मारवाड़ी तीनों में रचना करते थे। इनके बनाये पिंगल भाषा के ग्रंथों के नाम ये हैं—

(१) कृष्णविलास, (२) चौरासी पदार्थ नामावली, (३) नाथचरित्र, (४) जलंधर-चरित्र, (५) जलंधरचंद्रोदय, (६) नाथपुराण, (७) नाथस्तोत्र, (८) सिद्धगंगादि, (९) प्रश्नोत्तर, (१०) पद-संग्रह, (११) श्रृंगार रस की कविता, (१२) परमार्थ विषय की कविता, (१३) नाथाष्टक, (१४) जलंधर ज्ञानसागर, (१५) तेजमंजरी, (१६) पंचावली, (१७) स्वरूपों के कवित्त, (१८) स्वरूपों के दोहे, (१९) सेवासार, (२०) मानविचार, (२१) आराम रोशनी, (२२) उद्यान-वर्णन।

महाराजा की कविता का राजस्थान में बहुत प्रचार है। इनकी कविता भावपूर्ण और हृदयस्पर्शी है। शब्द-चयन की सुघड़ता द्वारा गंभीर से गंभीर दार्शनिक भावों को सरलतापूर्वक चित्रित करने में ये खूब सफल हुए हैं। इन्होंने गेय पद भी प्रचुर परिमाण में लिखे हैं, जिनमें कुशल कवि की भाव-प्रवणता एक गतिवान प्रवाह की भाँति पाठक को अपने साथ बहा ले जाती है।

---

१८७. ये मुख्यतः डिंगल भाषा में कविता करते थे। इनके ग्रंथों का संग्रह 'बाँकीदास-ग्रंथावली' के नाम से ना० प्र० सभा काशी द्वारा तीन भागों में प्रकाशित किया गया है।

तृतीय अध्याय का परिशिष्ट

(७७) जेठमल, नागौर। नि० का० सं० १७००; ग्रं० (१) नारद चरित्र (२) नरसी महता की हुंडी; वि० ये कायस्थ थे।

(७८) रूपसिंह, किसनगढ़। नि० का० सं० १७००; र० फुटकर पद; वि० ये किशनगढ़ के महाराजा हरिसिंह के पुत्र थे।

(७९) हरिदास, जोधपुर। नि० का० सं० १७०१; ग्रं० अमरबत्तीसी; वि० ये जाति के भाट थे।

(८०) दलपति मिश्र। नि० का० सं० १७०५ (?); ग्रं० जसवंत-उद्योत वि० जोधपुर के महाराजा जसवंतसिंह (प्रथम) के आश्रित।

(८१) कमंच। नि० का० सं० १७०८ के लगभग; र० स्फुट; विशेष वृत्त ज्ञात नहीं।

(८२) राम कवि, जयपुर। नि० का० सं० १७१० के लगभग। ग्रं० जयसिंह चरित्र; वि० ये मिर्जा राजा जयसिंह के आश्रित थे।

(८३) श्रीधर। नि० का० सं० १७१०; ग्रं० भवानीछंद; वि० इनका यह ग्रन्थ राजस्थानी मिश्रित ब्रजभाषा में है।

(८४) प्रतापसहाय। नि० का० सं० १७१०; र० स्फुट। वि० ये राव जाति के कवि मेवाड़ के महाराणा राजसिंह (प्रथम) के आश्रित थे। बाद में बूँदी चले गये थे।

(८५) जेठमल, जयपुर। नि० का० सं० १७१० के आसपास; ग्रं० शालिहोत्र भाषा और फुटकर कवित्त; वि० ये कविता में अपना नाम 'मल' लिखते थे।

(८६) सूरदत्त। नि० का० सं० १७१२; ग्रं० रसिकहुलास; वि० शेखावाटी-अमरसर के कछवाहा शेखावत कृष्णचंद्र के आश्रित।

(८७) जगन्नाथ, जैसलमेर। नि० का० सं० १७१४; ग्रं० रतिभूषण। वि० यह ग्रंथ रावल सबलसिंह के पुत्र अमरसिंह के लिए लिखा गया था।

(८८) मानसिंह, किशनगढ़। नि० का० सं० १७१९; र० फुटकर पद; वि० ये किशनगढ़ के राजा थे।

(८९) कृष्णलाल, जयपुर (?); नि० का० सं० १७१९; ग्रं० बिहारी-सतसई की टीका।

(९०) नवीन, जोधपुर। नि० का० सं० १७२०; ग्रं० नेहनिधान; वि० महाराजा जसवंतसिंह (प्रथम) के आश्रित।

(९१) धर्मवर्द्धन। नि० का० सं० १७१९-७३; र० फुटकर; वि० ये जैन कवि मुख्यतः राजस्थानी भाषा में कविता करते थे।

(९२) लक्ष्मीधर, जयपुर। नि० का० सं० १७२७; ग्रं० भारतसार; वि० जयपुर के महाराजा रामसिंह (प्रथम) के आश्रित; वि० इनका उपनाम 'लाल' था।

(९३) नंदन कवि, जयपुर। नि० का सं० १७३२; ग्रं० व्यवहारसार। वि० कहा जाता है कि ये जयपुर के दरबारी कवि थे।

(९४) सतीदास व्यास, बीकानेर। नि० का० सं० १७३३; ग्रं० रसिक-आराम; वि० देवीदास व्यास के पुत्र और बीकानेर के महाराजा अनूपसिंह के आश्रित।

(९५) प्रतापसिंह, प्रतापगढ़। नि० का० सं० १७३०-६४; र० स्फुट; वि० ये देवलिया प्रतापगढ़ के राजा थे।

(९६) मान, बीकानेर। ग्रं० संयोगद्वात्रिंशिका (सं० १७३१) कवि-विनोद (सं० १७४५) और कवि-प्रमोद[१८८] (सं० १७४६) वि० ये खरतर गच्छीय जैन कवि थे।

(९७) कुम्भकर्ण, जोधपुर। नि० का० सं० १७३२; ग्रं० रतनरासौ; वि० ये साँदू शाखा के चारण थे।

(९८) कमनेह। नि० का० सं० १७३५; र० स्फुट; वि० अलवर अथवा करौली की तरफ के रहने वाले थे।

(९९) रूपजी, जोधपुर। नि० का० सं० १७३९; ग्रन्थ० रसरूप; वि० ये मेड़ता ग्राम-निवासी पुष्करणा ब्राह्मण रामदास के पुत्र थे।

(१००) देवीदास, करौली। नि० का० सं० १७४२; ग्रन्थ० (१) प्रेम-रत्नाकर, (२) दामोदर-लीला और (३) राम-नीति; वि० करौली के राजकवि थे।

(१०१) वल्लभ, किशनगढ़। नि० का० सं० १७५०; ग्रं० वल्लभ मुक्तावली और वल्लभ-विलास; वि० ये वृंद कवि के पुत्र थे।

(१०२) शिवराम, नागौर। नि० का० सं० १७५४। ग्रं० दसकुमार-प्रबंध; वि० बीकानेर के महाराजा अनूपसिंह के आश्रित।

---

१८८. कवि-विनोद और कवि-प्रमोद नाम कुछ भ्रामक हैं। ये कविता के ग्रंथ नहीं हैं, जैसा कि इनके नामों से भास होता है। ये वैद्यक के ग्रन्थ हैं।

(१०३) लोकनाथ चौबे, बूँदी। नि० का० सं० १७६०; ग्रं० रसतरंग; वि० ये बूँदी के महाराव राजा बुधसिंह के आश्रित थे।

(१०४) तिलोकराम, जोधपुर। नि० का० सं० १७६७; ग्रं० रस-प्रकास।

(१०५) गडु। नि० का० सं० १७७०; र० स्फुट; वि० कूटकाव्य लिखते थे।

(१०६) भोजमिश्र, बूँदी। नि० का० सं० १७७५; ग्रं० मिश्र-शृंगार; वि० महाराव राजा बुधसिंह के आश्रित।

(१०७) मूकजी। नि० का० सं० १७७५; ग्रं० खीची जाति की वंशावली; वि० इनके कुछ फुटकर छंद भी मिलते हैं।

(१०८) नैनसुख, करौली। नि० का० सं० १७८० के लगभग; ग्रं० माणिकपाल बारखड़ी; वि० करौली-नरेश माणिकपाल के आश्रित।

(१०९) बैनीराम, जयपुर। नि० का० सं० १७८०; र० स्फुट।

(११०) रायकवि, किशनगढ़। नि० का० सं० १७८०; र० स्फुट; ये नागरीदास के समकालीन थे।

(१११) भीमचंद, जोधपुर। नि० का० सं० १७८१; र० फुटकर; वि० ये जैन थे।

(११२) प्रेमचंद, जोधपुर। नि० का० सं० १७८१; र० फुटकर; वि० ये जाति के सेवक थे।

(११३) प्रयाग, जोधपुर। नि० का० सं० १७८१; र० फुटकर; वि० ये जाति के सेवक थे।

(११४) अनंतराम, जोधपुर। नि० का० सं० १७८१; र० फुटकर; वि० महाराजा अभयसिंह के आश्रित।

(११५) विजयराम, किशनगढ़। नि० का० सं० १७८१; र० स्फुट; वि० नागरीदास के आश्रित।

(११६) हीरालाल, मनाढ्य; किशनगढ़। नि० का० सं० १७८१; ग्र० सरदार-सुयश; वि० नागरीदास के आश्रित।

(११७) देवीचंद, जोधपुर। नि० का० सं० १७८१; र० फुटकर; वि० महाराजा अभयसिंह के आश्रित।

(११८) माईदास, जोधपुर। नि० का० सं० १७८१; र० फुटकर; वि० महाराजा अभयसिंह के आश्रित।

(११९) गुलालचंद, जोधपुर। नि० का० सं० १७८१; र० फुटकर; वि० ये जाति के सेवक थे।

(१२०) रतनचंद, जोधपुर। नि० का० सं० १७८१; र० फुटकर; वि० महाराजा अभयसिंह के आश्रित।

(१२१) कनीराम मुंशी, किशनगढ़। नि० का० सं० १७८१; र० स्फुट। वि० नागरीदास के आश्रित।

(१२२) पन्नालाल, किशनगढ़। नि० का० सं० १७८१; र० स्फुट; वि० नागरीदास के समकालीन।

(१२३) शिवचंद, जोधपुर। नि० का० सं० १७८१; र० फुटकर, वि० ये जाति के सेवक थे।

(१२४) सावन्तसिंह, जोधपुर। नि० का० सं० १७८१; र० फुटकर; वि० महाराजा अभयसिंह के आश्रित।

(१२५) आलम, जोधपुर। नि० का० सं० १७८२; ग्रं० हरिरस; विशेष वृत्त ज्ञात नहीं।

(१२६) कृष्ण कवि, जयपुर। नि० का० सं० १७८२; ग्रं० बिहारी-सतसई की टीका; वि० ये ककोर-वंशी माथुर ब्राह्मण थे।

(१२७) मैनसिंह, बीकानेर। नि० का० सं० १७८६; ग्रं० भर्तृहरिशतक का गद्य-पद्यात्मक अनुवाद। वि० ये जैन यति थे।

(१२८) रसपुंज, जोधपुर। नि० का० सं० १७९०; ग्रं० कवित्त श्री मालाजी रा; वि० महाराजा अभयसिंह के आश्रित।

(१२९) सुजानसिंह, करौली। नि० का० सं० १७५०; ग्रं० सुजान-विलास; वि० ये करौली के राजघराने से सम्बन्धित थे।

(१३०) कुँवर कुशल, जोधपुर। नि० का० सं० १७९६; ग्रं० लखपत-यश-सिंधु; वि० ये जैन थे।

(१३१) सरदारसिंह, बनेड़ा। नि० का० सं० १८००; ग्रं० सुरतरस; ये बनेड़ा के राजा सुलतानसिंह के पुत्र थे।

(१३२) जदुनाथ भाट, करौली। नि० का० सं० १८००; ग्रं० वृत्त-विलास; वि० करौली-नरेश गोपालसिंह के आश्रित।

(१३३) जयकृष्ण, जोधपुर। नि० का स० १८००; ग्रं० (१) कवित्त (२) शिवमाहात्म्य और (३) शिव गीता। वि० ये पुष्करणा ब्राह्मण थे।

(१३४) अनुरागीदास, किसनगढ़। नि० का० स १८०० के लगभग; ग्रं० (१) हगाहुडी (२) दीनविरुदावली (३) जुगल-विरुदावली (४) भक्त विरुदावली और (५) गुरुविरुदावली।

(१३५) पीथल। नि० का० सं० १८०० (?) ग्रं० जुगल-विलास; वि० मानसिंह के पुत्र।

(१३६) बीराँ, जोधपुर। नि० का० स० १८०० से कुछ पहले; र० फुटकर पद; वि० यह स्त्री म० अभय-सिंह की समकालीन थी।

(१३७) वीरन कवि, जोधपुर। नि० का सं० १८०१ के लगभग; र० स्फुट; वि० महाराजा अभयसिंह के समकालीन।

(१३८) गजसिंह, बीकानेर। नि० का० स० १८०३; र० स्फुट पद; वि० ये बीकानेर के महाराजा जोरावरसिंह के पुत्र थे।

(१३९) बहादुरसिंह, किशनगढ़। नि० का० सं० १८०४; र० स्फुट; वि० ये राठौड़ राजपूत किशनगढ़ के राजा थे।

(१४०) घासीराम, भरतपुर। नि० का० स० १८१०; ग्रं० (१) काव्यप्रकाशकी टीका (२) रसगंगाधर की टीका और (३) भाषा गीतगोविंद।

(१४१) अरिसिंह, मेवाड़। नि० का० सं० १८१७–२१; ग्रं० रसिक-चमन; वि० ये मेवाड़ के महाराणा राजसिंह (द्वितीय) के पुत्र थे।

(१४२) मूलराज, जैसलमेर। नि० का स० १८१९–७६; र० स्फुट; वि० ये जैसलमेर के राजा संस्कृत में भी रचना करते थे।

(१४३) मुरलीधर भट्ट, अलवर। ज० सं० १८२०; ग्रं० (१) शृंगार-तरंगिणी और (२) प्रेम-तरंगिणी; वि० ये तैलंग ब्राह्मण कविता में अपना नाम 'प्रेम' रखते थे।

(१४४) रामलाल, जयपुर। नि० का० सं० १८२०; ग्रं० रामभक्ति-सुधा-निधान; वि० ये फुटकर कविता भी लिखते थे।

(१४५) मथुरामल, जयपुर। नि० का० स० १८२०। ग्र० समर-भास्कर; वि० ये माथुर चतुर्वेदी थे।

(१४६) हरिराय, नाथद्वारा। नि० का० स० १८२० के लगभग; ग्र० नित्यलीला; वि० ये चिम्मनजी के बेटे थे।[१८९]

(१४७) दौलतराय, किशनगढ़। नि० का० स० १८२० के लगभग; ग्र० रसप्रबोध; वि० ये वृंद कवि के वंशज थे।

(१४८) गणेशदास, मेवाड़। नि० का० स० १८२०; ग्र० सुदामा-चरित्र; वि० ये मेवाड़ राज्य के बागोर ठिकाने के एक मंदिर में पुजारी थे।

(१४९) शिवप्रसाद, बीकानेर। नि० का० स० १८२०; ग्र० अद्भुत रामायण; वि० ये ब्राह्मण कवि राजा राम के पुत्र थे।

(१५०) शिवराम, जयपुर। नि० का० स० १८२०; र० स्फुट; वि० महाराजा माधोसिंह (प्रथम) के आश्रित।

---

१८९. हरिराय नाम के एक और कवि नाथद्वारा में हुए हैं। उनका जन्म सं० १६४७ है।

(१५१) सागरजी, जयपुर। नि० का० सं० १८२१; र० स्फुट; वि० ये कविया शाखा के चारण थे।

(१५२) ब्रजपाल, जयपुर। नि० का० सं० १८२२ के लगभग; ग्रं० (१) महाभारत का पद्यानुवाद और (२) नीति-संग्रह; वि० ये तैलंग भट्ट द्वारकानाथ के पुत्र थे।

(१५३) कवीन्द्र कवि, जयपुर। नि० का० सं० १८२४; र० स्फुट; वि० जैसलमेर के रावल मूलराज के आश्रित।

(१५४) कल्याण (सिंह) जैसलमेर। नि० का० सं० १८२५; र० स्फुट; वि० जैसलमेर के रावल मूलराज के आश्रित।

(१५५) श्रीनाथ शर्मा, जैसलमेर। नि० का० सं० १८२६; ग्रं० (१) मूलराज-विलास (२) अन्योक्ति मंजूषा और (३) लोलिंबराज भाषा; वि० रावल मूलराज के आश्रित थे और संस्कृत-हिन्दी दोनों में रचना करते थे।

(१५६) हरलाल, जयपुर। नि० का० सं० १८३०; र० स्फुट; वि०। महाराजा पृथ्वीसिंह के आश्रित।

(१५७) भीमसिंह, मेवाड़। नि० का० सं० १८३४-३५; र० स्फुट; वि० ये मेवाड़ के महाराणा थे।

(१५८) रसरासि, जयपुर। नि० का० सं० १८३७; ग्रं० कवित्तरत्न मालिका; वि० ये म० प्रतापसिंह के आश्रित थे; फुटकर कविता भी करते थे।

(१५९) श्रीकृष्ण भट्ट, अलवर। ज० सं० १८४०; ग्रं० आलीजा-प्रकाश, वि० ये तैलंग ब्राह्मण मुरलीधर भट्ट के पुत्र थे और जन्मान्ध थे।

(१६०) दयालाल, किशनगढ़। नि० का० सं० १८४० के लगभग; ग्रं० (१) भक्तिचन्द्रिका और (२) कीर्तिप्रकास; वि० ये गौड़ ब्राह्मण थे।

(१६१) दामोदरजी, किशनगढ़। नि० का० सं० १८४०; र० स्फुट; वि० वृन्द कवि के वंशज थे।

(१६२) अदारंग, जयपुर। नि० का० सं० १८४०; र० फुटकर पद; वि० महाराजा प्रतापसिंह के आश्रित।

(१६३) मनभावनजी, जयपुर। नि० का० सं० १८४०; र० फुटकर पद; वि० ये टूटू गाँव के रहनेवाले पारीक ब्राह्मण थे।

(१६४) सेरसिंह, जोधपुर। नि० का० सं १८४६; ग्रं० रामकृष्णजस; वि० महाराजा विजयसिंह के पुत्र थे।

(१६५) पूर्णमल, अलवर। ज० का० सं० १८४७; र० स्फुट; वि० ये जाति के राव थे।

(१६६) पंगु कवि, करौली। नि० का० स० १८४६; ग्रं० घूस-बत्तीसी; वि० ये जाति के चारण थे।

(१६७) अलीभगवान, जयपुर। नि० का० स० १८५०; र० फुटकर पद, वि० ये म० प्रतापसिंह के संगीताध्यापक थे।

(१६८) तुलसी। नि० का० स० १८५० के लगभग; ग्रं० (१) नयना-भक्ति (२) अष्टांगयोग (३) वेदान्त ग्रन्थ (४) चौअक्षरी ग्रन्थ (५) करनी सार-जोगग्रन्थ (६) साधु-लक्षण और (७) तत्त्व-गुन-भेद; वि० ये कोई साधु थे।

(१६९) फतहराम चौबे, बूँदी। नि० का० स० १८५०; र० स्फुट; वि० ये लोकनाथ चौबे की वंश-परंपरा में स्वरूपचंद के बेटे थे।

(१७०) बख्तेश, जयपुर। नि० का० सं० १८५०; र० फुटकर पद; वि० ये कछवाहा राजपूत कविता में अपना नाम 'बख्तावर' भी लिखते थे।

(१७१) शिवदास, जयपुर। नि० का० स० १८५०; ग्रं० (१) भाषा भारत और (२) अश्वमेध; वि० ये कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे।

(१७२) अमृतराम, जयपुर। नि० का० स० १८५०; र० फुटकर पद; वि० ये पालीवाल ब्राह्मण सारंगधर के पुत्र थे।

(१७३) बंसीअली, जयपुर। नि० का स० १८५०; र० फुटकर पद।

(१७४) मनीराम, जयपुर। नि० का० सं० १८५०; ग्रं० बिहारी-सतसई की प्रतापचन्द्रिका टीका। वि० महाराजा प्रतापसिंह के आश्रित।

(१७५) खुँमाणसिंह, करौली। नि० का० सं० १८५० के लगभग; र० फुटकर; वि० ये राव जाति के कवि करौली-नरेश मदनपाल के आश्रित थे।

(१७६) गुमानीराम, जयपुर। नि० का० स० १८५०; ग्रं० दीवाने हाफिज़ का छंदोऽनुवाद; वि० ये म० प्रतापसिंह के मीरमुंशी थे।

(१७७) मुरलीधर, जयपुर। नि० का० सं० १८५०; र० स्फुट; वि० ये गौड़ ब्राह्मण थे।

(१७८) राधाकृष्ण, जयपुर। नि० का० सं० १८५३; ग्रं० रागरत्नाकर; वि० ये गौड़ ब्राह्मण थे।

(१७९) नाथूराम, जयपुर। नि० का० सं० १८५४; र० स्फुट; वि० ये राव जाति के कवि रामजीदास के पुत्र थे।

(१८०) कल्याणसिंह, किशनगढ़। नि० का० सं० १८५४-९५; र० फुटकर पद; वि० ये राठौर राजपूत किशनगढ़ के राजा थे।

(१८१) रामकर्ण, जोधपुर। नि० का० सं० १८५५; ग्रं० अलंकार-समुच्चय, वि० महाराजा भीमसिंह के आश्रित।

(१८२) अनन्तराम, जयपुर। नि० का० सं० १८५५; ग्रं० वैद्यक ग्रंथ भाषा; वि० महाराजा प्रतापसिंह के आश्रित।

(१८३) दीनदयाल, जयपुर। नि० का० सं० १८६०; ग्रं० बुधजन-सतसैया।

(१८४) शंभुराम, जयपुर। नि० का० सं० १८६० के लगभग; र० स्फुट; ये जाति के राव थे।

(१८५) राधावल्लभ, किशनगढ़। नि० का० सं० १८६० के लगभग; ग्रं० (१) भीष्म-पर्व, (२) गीता भाषा और (३) शालिहोत्र; वि० ये जाति के चारण थे।

(१८६) गंगादीन, किशनगढ़। नि० का० सं० १८६०; र० स्फुट; वि० ये जाति के चारण थे।

(१८७) हरिजी राणी (चाव-डीजी), नि० का० सं० १८६०; र० स्फुट; वि० जोधपुर के म० मानसिंह की राणी थीं।

(१८८) आयस देवनाथ, जोधपुर। नि० का० सं० १८६०; र० फुटकर दोहा; वि० ये म० मानसिंह के सम-कालीन थे।

(१८९) मनोहरदास, साँगानेर। नि० का० स० १८६९; धर्म-परीक्षा; वि० ये जाति के सोनी थे।

(१९०) सुन्दरसिंह, भरतपुर। नि० का० स० १८६९; ग्रं० (१) पंचाध्यायी (२) गोरीबाई की महिमा (३) दुख-चमन (४) सुन्दर-सत-श्रृंगार। वि० ये भरतपुर के राज-घराने के थे।

(१९१) लक्ष्मणदास, जयपुर। नि० का० सं० १८७०; र० स्फुट; वि० महाराजा जगतसिंह के समका-लीन थे।

(१९२) गणेश, करौली। नि० का० सं० १८७५; ग्रं० (१) रसचंद्रो-दय (२) कृष्ण-भक्ति-चन्द्रिका नाटक (३) सभा-सूर्य (४) फागुन-माहात्म्य और (५) नख-शतक; वि० ये जाति के चौबे थे।

(१९३) अनंदराम, जयपुर। नि० का० सं० १८७६; ग्रं० रामसागर।

(१९४) किशनजी, मेवाड़। नि० का० सं० १८८०; र० फुटकर; वि० ये राजस्थान के प्रसिद्ध चारण कवि दुरसाजी की वंश-परम्परा में दूलहाजी के बेटे थे।[१९०]

(१९५) श्यामराम, जयपुर। नि० का० सं० १८८०; ग्र० दुर्गा-विनोद; वि० ये जाति के कायस्थ थे।

(१९६) अमरसिंह, उदयपुर। नि० का० सं० १८८०; र० स्फुट; वि० ये मेवाड़ के महाराणा भीमसिंह के ज्येष्ठ पुत्र थे।

(१९७) गोपालजी, जयपुर। नि० का० स० १८८०; र० स्फुट; वि० ये रामलाल के पुत्र थे।

(१९८) हरलाल, बूँदी। नि० का० स० १८८०; र० स्फुट; वि० ये राव जाति के कवि बूँदी दरबार के पोलपात थे।

(१९९) जसराम, जोधपुर। नि० का० सं० १८८०; ग्रं० राजनीति; वि० ये जाति के चारण थे।

(२००) सुखलाल, जयपुर। नि० का० स० १८८०; र० स्फुट; वि० ये राव शम्भुराम के पुत्र थे।

(२०१) चन्द्रसखी, जयपुर (?)। नि० का० सं० १८८०; फुटकर पद।

(२०२) बदनजी, बूँदी। नि० का० सं० १८८२; ग्रं० होलकर-पचीसी और रसगुलजार; वि० ये मिश्रण शाखा के चारण थे।

(२०३) लक्ष्मीनाथ, जोधपुर (?) नि० का० सं० १८८३; ग्रं० भजन-विलास; वि० महाराजा मानसिंह के आश्रित पुष्करणा ब्राह्मण।

(२०४) हरि, कोटा राज्य। नि० का सं० १८८३; ग्रं० रसमंजरी।

(२०५) लाडूनाथ, जोधपुर। नि० का० सं० १८८४; ग्रं० सिद्धान्त सार की टीका; वि० ये म० मानसिंह के समकालीन नाथसंप्रदाय के जोगी थे।

(२०६) चैनराम, जयपुर। नि० का० सं० १८८५; ग्रं० भारतसार भाषा।

---

१९०. इनके 'भीमविलास' और 'रघुवरजसप्रकास' नामक डिंगल भाषा के दो ग्रंथ बहुत प्रसिद्ध हैं।

(२०७) रसनिधि, जयपुर । नि० का० स० १८८५; ग्रं० जयसाह विवाह उत्सव ।

(२०८) उदयचंद, जोधपुर । नि० का स० १८९०; ग्र० (१) रसनिवास (२) रसश्रृङ्गार (३) दूषण-दर्पण (४) ब्रह्मप्रबोध (५) ब्रह्मविलास और (६) ब्रह्मविहडन; वि० जातिके ओसवाल महाजन ।

(२०९) मिहीलाल जयपुर । नि० का० स० १८९०; र० स्फुट; वि० ये तैलग भट्ट पद्माकर के ज्येष्ठ पुत्र थे ।

(२१०) अम्बाधर, जयपुर । नि० का० स० १८९०; स्फुट; वि० पद्माकर के द्वितीय पुत्र ।

(२११) तुलछराय, जोधपुर । नि० का० स० १८९०; र० फुटकर पद; वि० महाराजा मानसिंह की उपपत्नी ।

(२१२) चतुरदान, जोधपुर । नि० का० स० १८९० के लगभग; ग्रं० चतुर-रसाल; वि० ये जाति के चारण थे ।

(२१३) निश्चलदास, बूँदी । नि० का० स० १८९०; ग्रं० (१) विचार-सागर और (२) वृत्त-प्रभाकर; वि० बूँदी के महाराज रामसिंह के आश्रित ।

(२१४) कान्हडदास । नि० का० सं० १८९०; र० फुटकर पद; वि० ये जयपुर राज्यान्तर्गत जसरापुर के रहने-वाले थे ।

(२१५) भगतीराम, किशनगढ़ । नि० का० सं० १८९० के लगभग; र० स्फुट, वि० वृन्द कवि के वंशज थे । इनका उपनाम खुशराम था ।

(२१६) ब्रजेन्द्र, भरतपुर । नि० का० स० १८९१; ग्रं० रसानंद ।

(२१७) भारतदान, जोधपुर । नि० का० स० १८९८; र० स्फुट; वि० ये आशिया शाखा के चारण थे ।

(२१८) दुलीचन्द, जयपुर । नि० का० १८९८; ग्र० महाभारत भाषा ।

(२१९) रसानद, भरतपुर । नि० का० सं० १८९९; ग्रं० संग्राम-रत्नाकर; वि० भरतपुर-नरेश बलवंतसिंह के आश्रित ।

(२२०) चतुर्भुज मिश्र, भरतपुर । नि० का० स० १८९९; ग्रथ अलंकार-आभा; वि० भरतपुर के महाराजा बलवंतसिंह के आश्रित ।

चतुर्थ अध्याय

संत-साहित्य

राजस्थान के पिंगल साहित्य का एक बहुत बड़ा अंश निर्गुणोपासक संत कवियों का रचा हुआ है और 'संत-साहित्य' कहलाता है। यह साहित्य अधिकतर शान्त रस में लिखा गया है और इसका मुख्य स्वर है, विश्वकल्याण। इसी को इन सन्तों ने अपनी वाणियों में प्रकारान्तर से दोहराया है। वैसे यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो इन मध्ययुगीन संतों का यह विश्वकल्याण का संदेश कोई नितान्त नया संदेश नहीं है। इसकी अभिव्यक्ति हमारे प्राचीन संस्कृत-साहित्य में किसी-न-किसी रूप में हो चुकी है। इन सन्तों ने केवल यही किया है कि उसे लोकभाषा में और लोकोपयोगी ढंग से व्यक्त किया है और यह इनकी भारतीय वाङ्मय को अपनी एक नवीन देन है।

सन्त-साहित्य में जितने भी सन्त हुए हैं वे पहले भक्त, फिर उपदेशक और फिर कवि थे और जहाँ तक बन सकता था अपने विचारों को सरल से रूप में जनसाधारण के समक्ष रखने की चेष्टा करते थे। काव्य-कला सम्बन्धी नियमों के निर्वाह तथा भाषा की प्रांजलता आदि की अपेक्षा इनका ध्यान लोक-कल्याण की ओर विशेष रहता था। अतएव उनकी रचनाओं में भाव-पक्ष का प्राधान्य है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इन सन्तों में कुछ ऐसे भी हुए हैं, जिन्होंने भाव-प्रदर्शन के साथ-साथ काव्य-चमत्कार का भी ध्यान रखा है। परन्तु ऐसे सन्तों की संख्या बहुत अधिक नहीं है।

राजस्थान में सन्त-साहित्य का निर्माण दादू पंथ, चरणदासी पंथ, रामसनेही पंथ, निरंजनी पंथ और लालदासी पंथके अनुयायी सन्त-महात्माओं ने विशेष किया है। कुछ ऐसे सन्त भी यहाँ हुए हैं, जो किसी सम्प्रदाय अथवा पंथ विशेष से सम्बन्धित न थे। इन सबका संक्षिप्त विवरण नीचे प्रस्तुत किया जाता है।

दादूपंथ

दादूपंथ के जन्मदाता संत दादूजी थे। इस पंथ के अनुयायी जयपुर राज्य में अधिक पाये जाते हैं। इस पंथ का कबीर पंथ से बहुत साम्य है। कबीर की भाँति दादू ने भी 'मैं' और 'तू' के भेदभाव को छोड़कर सब को समान

दृष्टि के देखने तथा निर्गुण-उपासना पर ओर दिया है।[1] लेकिन कबीर पंथ की अपेक्षा हिंदू धर्म के सिद्धान्तो का प्रभाव इस पर कुछ विशेष दिखाई देता है। इस दृष्टि से कबीर पंथ की अपेक्षा दादूपंथ हिंदू धर्म के अधिक निकट है।

दादूपंथी समाज इस समय मुख्यतः चार भागों मे विभाजित है—खालसा, विरक्त, उतराधा और नागा।

(१) खालसा—दादूजी की मृत्यु के पश्चात् उनके ज्येष्ठ पुत्र गरीबदास उनकी गद्दी के उत्तराधिकारी हुए थे। गरीबदास के बाद उनके छोटे भाई मसकीनदास आचार्य गद्दी पर बैठे। इस प्रकार यह आचार्य-परपरा चलती रही और अभी तक जारी है। इस आचार्य-परंपरा के शिष्य-प्रशिष्य 'खालसा' कहलाते हैं। इनका मुख्य स्थान नरेना है। आचार्य गद्दी के थांभे के होने से अन्य थांभेवाले इनको कुछ विशेष आदर की दृष्टि से देखते हैं। इनका भेष पहले कपाली टोपी, चोला और कटि-वस्त्र था। किंतु अब उसमें थोड़ा-सा परिवर्तन हो गया है। टोपी की जगह बहुत से साफा बाँधने लगे हैं। कटि-वस्त्र का स्थान धोती ने और चोले का कोट अथवा कमीज ने ले लिया है।

(२) विरक्त—ये रमते-फिरते साधु दादूपंथी गृहस्थों को दादूजी की 'वाणी' का उपदेश देते हैं और भिक्षान्न पर अपना जीवन-निर्वाह करते हैं। ये किसी थांभे अथवा स्थान का आश्रय नहीं लेते। केवल शरीर-रक्षा के लिये कषाय वस्त्र तथा जल का पात्र, और दो-चार पुस्तकें अपने पास रखते हैं। इनमें कुछ अकेले और कुछ मंडलियाँ बाँधकर घूमते हैं। ये चातुर्मास में भ्रमण नहीं करते। पर जिस स्थान पर ठहरते हैं वहाँ नित्य नियम से दिन मे एक बार दादूजी की 'वाणी' का पाठ अवश्य करते हैं।

---

१. भाई रे ऐसा पथ हमारा।
द्वै पख रहित पथ गह पूरा अबरन एक अधारा।
बाद बिबाद काहु सौं नाही मैं हूँ जग थे न्यारा॥
समदृष्टि सूँ भाई सहज मे आपहि आप बिचारा।
मैं, तैं, मेरी यह मति नाही निरवैरी निरबिकारा॥
काम कल्पना कदे न कीजै पूरन ब्रह्म पियारा।
एहि पथ पहुँचि पार गहि दादू सो तत सहज हमारा॥

(३) उतराधा—दादूजी के शिष्यों में से जो राजस्थान को छोड़कर उत्तर की तरफ पंजाब में चले गये और वहाँ उनके उपदेशों का प्रचार करने लगे वे उतराधा कहलाये। इस समय इस वर्ग के लोग हरियाना, हिसार, रोहतक, दिल्ली, भटिंडा, नाभा, पटियाला आदि स्थानों में विशेष पाये जाते हैं। इनका मुख्य केन्द्र हिसार जिले का रतिया गाँव है।

(४) नागा—दादूपंथियों का यह वर्ग इतिहास में बहुत प्रसिद्ध है। इनकी सात जमातें हैं। इस वर्ग के साधु अस्त्र-शस्त्र-सचालन, युद्ध-कौशल और मल्ल-विद्या में बहुत निपुण पाये गये हैं और इन्होंने समय-समय पर तलवार बजाकर जयपुर राज्य की बड़ी सेवाएँ की हैं। भारतीय स्वतन्त्रता के पूर्व जयपुर के सैन्य-विभाग में इनकी भी एक टुकड़ी थी, जो अब तोड़ दी गई है। परन्तु राजाश्रय न होने पर भी यह वर्ग पूर्ववत् संगठित रूप में विद्यमान है। इस वर्ग के कुछ लोग खेती और वाणिज्य व्यवसाय भी करते हैं।

दादूपंथी महात्माओं की राजस्थान में बड़ी प्रतिष्ठा है। ये प्रायः बड़े विद्याव्यसनी, चरित्रवान और सयमी होते है। ये विवाह नहीं करते। दादूद्वारों में रहते हैं और गृहस्थों के लड़कों को चेले बनाकर अपना पथ चलाते हैं। ये न तिलक लगाते हैं, न चोटी रखते हैं और न गले मे कठी पहनते हैं। ये प्रायः हाथ में सुमिरनी रखते हैं और जब मिलते हैं तब 'सत्यराम' कहकर एक-दूसरे का अभिवादन करते हैं।

जयपुर से ४१ मील पश्चिम में नरेना नाम का एक छोटा-सा नगर है। इसी के पास भैराणे की पहाड़ी है, जिसकी खोल (गर्त) में दादूजी के शव को रखा गया था। दादूपंथी लोग इस स्थान को बहुत पवित्र मानते हैं और यही इनका मुख्य तीर्थ है।[२] नरेना में दादूजी के वस्त्र, उनकी पोथियाँ आदि सुरक्षित हैं, जिनकी पूजा होती है। प्रतिवर्ष फाल्गुन शुक्ला

२. हमारे तीरथ रूप नरानो।
दादू दास बसै तिहिं ठाहर बैकुंठ तें अधिकानो॥
सीतल छाया निकट सरोवर बिच मे चौक रमानो॥
हरि जन हस रहे तिहिं ठाहर सुख-सागर मनमानो॥
भैराणो है मणिकार्णिका व्है कासी प्रस्थानो॥
गरीबदास तहाँ आप बिराजै अनभ अंग गनानो॥

चतुर्थी से द्वादशी तक यहाँ एक भारी मेला लगता है और एक बहुत बड़ी संख्या में दादूपंथी लोग एकत्र होते हैं।

(२२१) दादू दयाल—दादू-पंथ के प्रवर्त्तक संत दादूजी का जन्म स० १६०१ में हुआ था। इस बात का उल्लेख दादूपंथी साहित्य में अनेक स्थानों पर मिलता है[३] और इसे आधुनिक विद्वानों ने भी स्वीकार कर लिया है। परन्तु इनकी जन्मभूमि व जाति के सम्बन्ध में गहरा मतभेद है। दादूपंथी विद्वानों का कहना है कि ये अहमदाबाद में पैदा हुए थे। वे यह भी बतलाते हैं कि दादू जी साबरमती नदी में बहते हुए एक छोटे से बालक के रूप में लोदीराम नामक एक नागर ब्राह्मण को मिले थे। इन विद्वानों का आधार जनगोपाल-कृत श्रीदादूजन्मलीलापरची, राघवदास-कृत भक्तमाल आदि ग्रंथ मालूम पड़ते हैं, जिनमें ऐसा ही लिखा मिलता है। परन्तु इन बातों पर विश्वास लाना कठिन है। ऐसी बातें अंधविश्वासी भावुक भक्त लोगों के काम की हो सकती हैं, इतिहास-खोजियों के उपयोग की नहीं हैं। और फिर इनको स्वीकार कर लेने पर भी दादूजी की वास्तविक जाति पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता। केवल लोदीराम की जाति का पता लगता है, जिसके द्वारा इनका पुत्रवत् पालन-पोषण होना बताया जाता है।

इस विषय पर दादू-पंथियों के अतिरिक्त देश-विदेश के कुछ अन्य मतावलम्बी विद्वानों ने भी प्रकाश डालने की चेष्टा की है, जिनमें विश्वभारती के आचार्य क्षितिमोहन सेन का नाम उल्लेख योग्य है। इन्होंने दादूजी को जाति का मुसलमान बताया है और लिखा है कि इनका पूर्व नाम दाऊद था। अपने इस कथन की पुष्टि इन्होंने बंगाली बाउलों की वंदना सम्बन्धी इस वाक्य से की है—

"श्रीयुक्त दाऊद वन्दि दादूयॉर नाम"[४]

परन्तु सेन महोदय के इस मत पर दादूपंथियों की सहमति नहीं है। वे इसे उनकी एक सर्वथा भ्रान्त धारणा समझते हैं और अपने पक्ष के समर्थन में

---

३. संवत सौला सै ईकोतर, सत एक उपज्यौ पुहुमी पर।
पच्छिम दिसा अहमदाबादू, ती ठाँ साध परगटे दादू॥
—श्रीदादूजन्मलीलापरची

चंद रितु सुन और मयंकहि ऐमदबाद मे उतरै आई।
देवन पुष्प करी बरसा नभ चैत सुदी बसु मंगल गाई॥
—संतगुणसागर

४. दादू; पृ० १७।

दो बातें कहते हैं। एक तो यह कि सेन महोदय ने बाउलों की जिस वंदना से उक्त वाक्य लिया है वह वंदना मौखिक परम्परा से प्राप्त हुई है और इसलिए संदेहास्पद है। दूसरे इस बन्दना में दाऊद नामक जिन व्यक्ति का उल्लेख किया गया है वे संत दादू दयाल से भिन्न कोई दूसरे व्यक्ति हो सकते हैं। ये दोनों तर्क संगत हैं। लेकिन दादूपंथी साहित्य में ही एक ऐसा प्रमाण मौजूद है, जिससे सेन महोदय के मत का पूरा-पूरा समर्थन होता है। दादूपंथ में बालकराम नाम के एक संत हुए हैं, जो छोटे सुन्दरदास के शिष्य थे।[५] इन का रचना-काल सं० १७१० के आसपास है। इन्होंने अपनी रचना में एक स्थान पर दादूजी का 'असुर कुल' में आविर्भूत होना लिखा है—

भक्ति विषै नहिं भेद, वेद यूँ बोले बानी।
अंत्यज ब्राह्मण आदि, जाति जगदीस न मानी॥
कलि कबीर कुल असुर, असुर कुल प्रगटे दादू।
भगत विभीषण भये, असुर कुल बलि प्रहलादू॥
पुनि गणिका कुब्जा भीलनी, गोपी द्रिढ गोविंद गहै।
कहै बालकराम हरि भजन बिनु, अभिमानी न्यारे रहै॥[६]

यह 'असुर' शब्द मुसलमान जाति का स्पष्ट द्योतक है और इस अर्थ में इस शब्द का प्रयोग राजस्थानी-साहित्य में अनेक स्थानों पर हुआ है और राजस्थानी-कोष में भी मिलता है। नीचे हम मुरारिदान-कृत डिंगल-कोष से वह अंश उद्धृत करते हैं, जिसमें 'मुसलमान' शब्द के २२ पर्यायवाची शब्द बताये गये हैं—

रोद रवद खदड़ो तुरक, मीर मेछ कलमाण।
मुगल असुर बीबा मियाँ, रोजायत खुरमाण॥
कलम जवन तणमीट कह, खुरासाण अर खान।
चगथा आसुर फेर चष, मानहु मूसलमान॥[७]

इस प्रसंग में एक खास बात याद रखने की यह है कि ये बालकराम

५. स्वामी मंगलदास; पंचामृत, पृ० ए (भूमिका)।
६. वही; पृ० ३५।
७. पृ० १०९।

दादूजी के नाती थे⁸ और इसलिये उनकी लिखी हुई बात अन्यथा नहीं हो सकती। वास्तव में दादूजी मुसलमान ही थे। दादूपंथी विद्वानों को यह सत्य स्वीकार करना चाहिए।

दादूजी की जन्मभूमि के विषय में निश्चित रूप से कुछ ज्ञात नहीं हो पाया है। इनके अहमदाबाद में उत्पन्न होने की जो कथा दादूपंथियों में प्रचलित है वह निस्सार है और दादूजी की जाति को छिपाने, उनको दिव्य पुरुष सिद्ध करने आदि उद्देश्यों से प्रेरित होकर गढ़ी गई जान पड़ती है। परन्तु जनगोपाल-कृत 'श्रीदादूजन्मलीलापरची', माधवदास-कृत 'संतगुणसागर', राघवदास-कृत 'भक्तमाल' इत्यादि ग्रंथों में दादूजी का जो इतिवृत्त दिया हुआ है उसके अध्ययन से ऐसा अनुमान होता है कि वे साँभर अथवा साँभर के निकटवर्ती किसी छोटे-मोटे गाँव के रहनेवाले थे। इस अनुमान का आधार यह है कि उक्त ग्रंथों में दादूजी के अहमदाबाद में जन्म लेने की कथा, जो कपोल-कल्पित है, समाप्त करते ही कथा-सूत्र को मिलाने के लिये उनको साँभर में ला बिठाया है और इस बीच का इतिहास प्रायः गायब है। सं० १६२५ में अर्थात् २४ वर्ष की अवस्था में दादूजी साँभर में थे ऐसा उल्लेख मिलता है।⁹ इससे पहले वे पाठाभ्यास आदि कार्यों में व्यस्त रहे होंगे और एक संत के रूप में प्रसिद्धि प्राप्त नहीं कर पाये होंगे। अतः साँभर, जिसे दादूपंथी विद्वान् दादूजी की प्रथम यात्रा का स्थान बता रहे हैं, वास्तव में दादूजी के जीवन-प्रवेश का स्थान है। और वहीं अथवा उसी के आसपास का कोई गाँव उनकी जन्मभूमि होनी चाहिए।

---

८. करै हस ज्युं अंस, सार असार नियारं।
आन देव को त्याग, एक परब्रह्म सँभारं॥
किये कवित्त षट तुकी, बहुरि मनहर अरु इदव।
कुंडलिया पुनि साखि, भक्ति विमुखन को निदव॥
राघौ गुरु पन्थ में निपुन, सत गुरु सुन्दर नाम।
दादू दीन दयाल के, नाती बालकराम॥

—राघवीय भक्तमाल

९. बारह बरस बालपन गयऊ। गुरु भेटत तब सनमुख भयऊ॥
साँभर आये समै पचीसा। गरीबदास जनमै बत्तीसा॥

—श्रीदादूजन्मलीलापरची

कहा जाता है कि दादूजी जब ग्यारह वर्ष के थे तब भगवान ने वृद्धानंद नामक एक साधु के रूप में प्रगट होकर उनको गुरुमंत्र दिया था और वही उनके गुरु थे।[१०]

दादूजी ने विवाह भी किया था। इनके दो पुत्र और दो पुत्रियाँ थीं। पुत्रों के नाम गरीबदास और मिसकीनदास थे। पुत्रियों के नाम रामकुँवरि और शोभाकुँवरि बताये जाते हैं।[११]

इनके योग-चमत्कार और मुगल सम्राट् अकबर से भेंट करने आदि की कथाएँ दादूपंथी विद्वानों के ग्रंथों में मिलती है, पर उनका ऐतिहासिक महत्व विशेष नहीं है।

अपने जीवन के अन्तिम दिनों में दादूजी नरेना मे निवास करते थे, जहाँ सं० १६६० में इनका स्वर्गवास हुआ था।[१२]

दादूजी बड़े क्षमाशील एवं व्यक्तित्व-सम्पन्न पुरुष थे और स्वभाव के बड़े कोमल थे। इन गुणों के कारण ये बहुत लोकप्रिय हो गये थे और जहाँ जाते वहाँ छोटे बड़े अमीर-गरीब सभी द्वारा समान रूप से आदृत होते थे। ये अपने पीछे हजारों शिष्य-प्रशिष्य छोड़कर मरे, जिनमें ५२ मुख्य थे। इन ५२ मुख्य शिष्यों में से कुछ की गद्दियाँ अभी तक चल रही हैं।

हिंदी के संत-साहित्य में दादूजी की 'वाणी' का एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसके छः संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं और सातवाँ प्रेस में है। यह दो भागों में विभक्त है—अंग-भाग और राग भाग। अंग-भाग ३७ उपांगों में बँटा हुआ है, जिनमें कुल मिलाकर २६५२ साखियाँ हैं। राग भाग में २७ राग-रागिनियों में बँधे हुए ४४५ पद हैं। वाणी का यह क्रम दादूजी के शिष्य रज्जबजी आदि द्वारा पीछे से किया गया है। पहले यह एक संग्रह मात्र था।

---

१०. जनगोपाल; श्रीदादूजन्मलीलापरची, प्रथम विश्राम, पद्य ४१।

११. स्वामी मंगलदास; गरीबदास की वाणी, पृ० ठ (भूमिका)।

१२. समै गुनसठे नगर नरानैं, साठे स्वामी राम समानैं।

—श्रीदादूजन्मलीलापरची

गुनसठ वर्ष दिपै गुन पक्षहि, जेठ वदी बसुहि सनि जाने।
दादु दयाल मिलै भगवंतहि माधवदास कथा गुन गाने॥

—संतगुणसागर

दादूजी बहुत पढ़े-लिखे न थे, पर बहुश्रुत थे और कवि तो माँ के पेट से पैदा हुए थे। इनकी कविता बहुत सरस, भावपूर्ण और कोमल है; वर्णन-शैली स्पष्ट और स्वाभाविक है। इनकी तुलना प्रायः कबीर से की जाती है, इसलिए कि इन दोनों में भाव-साम्य अधिक है। यही ठीक है। परन्तु दोनों की भाव-व्यंजना में अंतर है। कबीर के शब्दों में उग्रता विशेष है। वे तीखे तीरों की तरह लगकर घाव करते हैं, तड़फाते हैं। परंतु दादू के शब्दों में तीखापन उतना नहीं है। इनके शब्द-बाण घाव नहीं करते; केवल छू देते हैं, जिससे पाठक सावधान हो जाय।

(२८२) गरीबदास—ये दादूजी के ज्येष्ठ पुत्र थे और उनकी मृत्यु के पश्चात् उनके उत्तराधिकारी हुए थे। इनका जन्म सं० १६३२ में और देहान्त सं० १६९३ के आसपास हुआ था।[१३] इनके विषय में थोड़ा-सा मतभेद है। स्वर्गीय पुरोहित हरिनारायण आदि विद्वानों का कथन है कि ये दादूजी के औरस पुत्र थे। अपने कथन का आधार इन्होंने नहीं बताया, पर वह आधार जनगोपाल-कृत 'श्रीदादूजन्मलीलापरची' ग्रंथ मालूम पड़ता है, जिसमें ऐसा ही लिखा मिलता है—

नट की बाजी कऊ न जानै, करता की गति कौन बखानैं।
ज्यौं कबीर के भये कमाला, त्यौं स्वामी के उपजै बाला॥
साँभर गाँव ऽरु समौ बतीसा, सावन जन्म दियौ जगदीसा।
दादू पिता प्रगट है जाकै, गरीबदास सुत उपज्यौ ताकै॥[१४]

ऐसा ही लेख जैमलजी चैनजी, राघवदास इत्यादि दादूपंथ के कुछ अन्य संतों का भी है—

मेर के न मेर होइ सेस के न सेस होइ
चंद के न चंद सूर सूर दीप देखिये।
बाप की भगति गति ज्ञान तें गरीबदास
जैमल सुजस जस मो मन उमेखिये॥
—जैमलजी

१३. स्वामी मंगलदास; गरीबदासजी की वाणी, पृ० ६ (भूमिका)।
१४. नवम विश्राम, पद्य १ और ४।

औत दयाल वर दियौ दत्त कृपा करि
सनमुख भये हरिराम की निवाज है।
—चैनजी

दादूजी सुवन सूरवीर धीर सा पुरुष
गरीबनिवाज यों गरीबदास गाइये।
—राघवदास

परंतु दादूपंथी कुछ आधुनिक विद्वानों का मत इसके विरुद्ध है। उनका कहना है कि उपर्युक्त पद्यों में जो 'सुत', 'सुवन' इत्यादि शब्द आये हैं, उनसे अभिप्राय वरद अथवा पोष्य पुत्र से है, न कि औरस पुत्र से।[१५] अपने इस कथन की पुष्टि में ये माधौदास-कृत 'संतगुणसागर' को आगे करते हैं, जिसमें गरीबदास का साँभर के दामोदरजी नामक एक व्यक्ति के घर में जन्म लेना बताया गया है। दामोदरजी के कोई संतान नहीं थी। उनके मन में परम लालसा थी कि यदि किसी प्रकार दादूजी महाराज उन पर कृपा कर दें तो उनके भी संतति हो जाय। दादूजी को उनकी लालसा का पता लग गया। उन्होंने दो लौंग और दो इलायची दामोदरजी को दिये। इससे उनके दो पुत्र और दो कन्याएँ हुईं। पुत्रों के नाम गरीबदास और मसकीनदास थे। इन चारों संतानों को दामोदरजी ने दादूजी को भेंट कर दिया।[१६]

उनका दूसरा तर्क यह है कि दादूजी के समकालीन और उनके बाद के कई दादूपंथी ग्रंथकारों ने गरीबदास को दादूजीका शिष्य लिखा है और दादूजी के नाम के आगे 'गुरु' शब्द का प्रयोग किया है। यदि गरीबदास दादूजी के औरस पुत्र होते तो ये ग्रंथकर्त्ता उनके लिये 'शिष्य' शब्द का प्रयोग कदापि न करते, पुत्र ही लिखते।[१७]

ये दोनों युक्तियाँ मान्य नहीं हैं। कारण, माधौदास-कृत 'संतगुणसागर' में वर्णित दामोदरजी संबंधी लौंग-इलायची वाली उपरोक्त कहानी केवल मनगढ़ंत है। ऐसी बातों को इतिहास में स्थान नहीं मिल सकता। दूसरी दलील भी उतनी ही निरर्थक है। दादूजी एक संत थे और गरीबदास एकशिष्य की हैसियत से उनकी गद्दी पर बैठे थे।

१५. स्वामी मंगलदास; गरीबदासजी की वाणी, पृ० ६ (भूमिका)।
१६. वही; पृ० ठ (भूमिका)।
१७. वही; पृ० ट (भूमिका)।

अतएव दादूपंथी कुछ संतों ने दादू-गरीबदास के गुरु-शिष्य के संबंध पर जो जोर दिया है वह उचित है।

ऐसा प्रतीत होता है कि दादूजी को एक अलौकिक योगसिद्ध ब्रह्मचारी प्रमाणित करने की धुन में आधुनिक दादूपंथी विद्वान् गरीबदास को दादूजी का औरस पुत्र नहीं स्वीकार कर रहे हैं। यह उनकी इच्छा है। लेकिन ऐतिहासिक सामग्री, जनश्रुति और तर्क इन तीनों का बल उनके पीछे नहीं है।

गरीबदास की 'वाणी' प्रकाशित हो चुकी है। इसके चार अंग हैं—अनभैप्रबोध, साखी, चौबोला और पद। इसकी छंद-संख्या २६९ है। इसके पढ़ने से विदित होता है कि गरीबदास दर्शनशास्त्र के विचक्षण ज्ञाता और प्रतिभावान् कवि थे। इनकी 'वाणी' में ओज और सचाई है। पदों में स्वर-संगति और माधुर्य है।

(२२३) **बखनाजी**—बखनाजी नरेना के निवासी व दादूजी के शिष्य थे। कहा जाता है कि ये जाति के मुसलमान थे।[१८] इनका रचना-काल सं० १६४०-७० है।[१९] ये कवि होने के साथ-साथ संगीतज्ञ भी थे। इनकी सुरीली और कोमल आवाज लोगों को मंत्र-मुग्ध सा बना देती थी। स्वयं दादूजी इनके स्वर-माधुर्य पर लट्टू थे। एक दिन की बात है कि ये अपनी मित्र-मंडली में बैठे होरी गा रहे थे। मार्ग में जाते हुए दादूजी के कानों में इनके गाने की मधुर ध्वनि पहुँची। वे चलते-चलते रुक गये और मन में सोचने लगे कि ऐसा व्यक्ति यदि परमात्मा का गुण-गान करे तो कल्याण हो जाय। उन्होंने इनको अपने पास बुलाया और भगवद्भजन का उपदेश दिया। बखनाजी मान गये और उसी दिन इन्होंने उनका शिष्यत्व स्वीकार कर लिया।[२०]

---

१८. स्वामी मंगलदास; बखनाजी की वाणी, पृ० ३ (भूमिका)।

१९. वही; पृ० ५।

२०. बीते जब ही बत्सर दोई। ढूँढाहर कैं बिनती जोई॥
स्वामी गये सबन सुख पायें। रमते नगर नरानैं आये॥ २४॥
बखनो होरी गावत देख्यौ। गुरु दादू अपनौं कर लेख्यौ॥
कृपा करी तब अन्तरयामी। बचन उचारे ऐसे स्वामी॥ २५॥
ऐसी देह रची रे भाई। राम-निरंजन गावो आई॥
ऐसा वचन सुना है जब ही। बखने दीक्षा लीनी तब ही॥ २६॥
—श्रीदादूजन्मलीलापरची, बारहवाँ प्रकाश

बखनाजी की 'वाणी' का दादूपंथियों के अतिरिक्त अन्य लोगों में भी अच्छा आदर है। इन्होंने गेय पद अधिक लिखे हैं, जिनमें बड़ी स्वाभाविकता और तल्लीनता पाई जाती है। भाषा इनकी ढूँढाड़ी से बहुत प्रभावित है।

(२२४) जगजीवन—ये दादूजी के शिष्य किसी ब्राह्मण कुल में पैदा हुए थे।[२१] इनका रचना-काल सं० १६४० के आसपास है। ये दौसा के निवासी थे। कहा जाता है कि इन्होंने काशी में विद्याभ्यास किया था और दादूजी की महिमा सुनकर उनसे शास्त्रार्थ करने के लिए ये आमेर में गये थे। कई दिनों तक शास्त्रार्थ होता रहा। अंत में ये हार गये। इन्होंने अपनी सब पुस्तकें तालाब में फेंक दीं और दादूजी का शिष्यत्व स्वीकार कर लिया।[२२]

ये बड़े पंडित और ज्ञानी साधु थे और हरिभजन में अपना समय व्यतीत करते थे। इनको काव्य-रचना का अच्छा अभ्यास था और इन्होंने सुन्दरदास आदि अपने कई गुरु भाइयों को कविता करना सिखाया था। इनके दो ग्रंथ मिलते हैं—(१) वाणी और (२) दृष्टान्त-साखी-संग्रह। ये दोनों सुघड़ रचनाएँ हैं और अप्रकाशित हैं। इनकी हस्तलिखित प्रतियाँ जयपुर के पुरोहित हरिनारायणजी के संग्रह में हैं।

(२२५) जनगोपाल—ये वैश्य जाति के संत राहोरी (जयपुर) के अधिवासी थे। इनका रचना-काल सं० १६५० है। ये दादूजी के ५२ प्रधान शिष्यों में से थे। दादूजी का शिष्यत्व स्वीकार करने के पूर्व ये सीकर में सन्यासी के रूप में घूमते फिरते थे और वहीं उनके चेले हुए थे।[२३] इसके बाद ये दादूजी के पास रहने लगे और आमेर, सांभर, नरेना, दौसा, भैराणा आदि स्थानों में जहाँ कहीं दादूजी पधारते, उनके साथ जाते थे। ये उच्च कोटि के पंडित एवं पहुँचे हुए महात्मा थे। स्वामी राघवदास ने इनके व्यक्तित्व की बड़ी सराहना की है—

दादूजी के पंथ में चतुर बुद्धि बातन को,
जानिये गोपालजन सबै ही को भाव तौ।

२१. पुरोहित हरिनारायण; सुन्दर-ग्रंथावली, पृ० ८१ (जीवनचरित्र)।
२२. वही; पृ० ८१।
२३. सुखदयाल दादू; श्रीदादूजन्मलीलापरची, पृ० ग (भूमिका)।

नीकी बानी निरमल मीठो तुक-तानन में,
कानन में होत सुख अर्थ को सुनावतो ॥
मन बच कर्म हरि हारिल की लाकरी ज्यौं,
कहन सहित करुना-निधान गावतौ।
राघौ मन राम नाम आदि ओंकार कर,
सीस जगदीसजी को बारंबार नावतौ ॥

जनगोपाल-रचित तेरह ग्रंथों का पता है, जिनके नाम ये हैं—

(१) श्रीदादूजन्मलीलापरची, (२) ध्रुव-चरित्र, (३) प्रह्लाद-चरित्र, (४) जड़भरत-चरित्र, (५) मोह-विवेक-संवाद, (६) शुक-संवाद, (७) काया-प्राण-संवाद, (८) अनन्तलीला, (९) चौबीस गुरुओं की लीला, (१०) बारह-मासिया, (११) भेंट के सवैये, (१२) पद और (१३) साखी।[२४]

(२२६) रज्जबजी—ये सांगानेर के एक प्रतिष्ठित पठान-वंश में सं० १६२४ के लगभग पैदा हुए थे।[२५] इनका जन्म-नाम रज्जबअलीखाँ था। बीस वर्ष की आयु में जब ये अपना विवाह करने के लिये दुलहा बनकर सांगानेर से आमेर गये हुए थे तब वहाँ इनका दादूजी से साक्षात्कार हुआ और विवाह करने का विचार छोड़ उनके शिष्य बन गये। तभी से ये दादूजी के साथ रहने तथा कथा-कीर्तन, सत्संग आदि में अपना समय व्यतीत करने लगे। ये दादूजी के परम भक्त एवं विश्वास-भाजन थे और उनकी वाणी को वेदवाक्य समझते थे। कहते हैं कि दादूजी की मृत्यु से संसार इनको सूना-सा प्रतीत होता था और जिस दिन उन्होंने अपना शरीर छोड़ा उसी दिन से इन्होंने भी अपनी आँखें बंद कर लीं और आजन्म न खोलीं। इनका देहान्त सं० १७४६ में हुआ था।[२६]

इनके कई शिष्य थे, जिनमें गोविन्ददास, खेमदास इत्यादि दस शिष्य मुख्य थे।[२७] इनकी शिष्य-परम्परा के साधु रजबावत अथवा रजबपंथी कहलाते हैं और काफी बड़ी संख्या में पाये जाते हैं। इनका मुख्य स्थान सांगानेर है।

---

२४. वही; पृ० च।

२५. 'राजस्थान', सं० १९९२, अंक १, में प्रकाशित स्वर्गीय पुरोहित हरि-नारायण का 'महात्मा रज्जबजी शीर्षक लेख', पृ० ६९।

२६. वही; पृ० ७९।

२७. वही; पृ० ८०।

रज्जबजी के 'वाणी' और 'सर्वंगी' नामक दो ग्रंथ मिलते हैं, जो राजस्थानी मिश्रित ब्रज भाषा में हैं। इनको दृष्टान्त बहुत प्रिय थे, जिनके द्वारा इन्होंने प्रेम-भक्ति का मार्मिक विश्लेषण किया है। इनकी उक्तियाँ कहीं-कहीं सूफियों के ढंग की हैं, पर वे दादूजी के मत का समर्थन करती हैं।

(२२७) जगन्नाथदास—ये जाति के कायस्थ थे और अजमेर में दादूजी के शिष्य हुए थे।[२८] इनका निर्माण-काल सं० १६५० के लगभग है। ये दादूजी के बड़े कृपापात्र थे। यहाँ तक कि उन्होंने इनको अपनी छड़ी, गुदड़ी आदि चिह्न प्रदान किये थे। ये अच्छे कवि थे। इनके 'वाणी' और 'गुणगजनामा' ग्रंथ प्रसिद्ध हैं। इनके अतिरिक्त इनके 'गीतासार और 'योगवासिष्ठसार' नामक दो ग्रंथ और बताये जाते हैं।[२९]

(२२८) भीखजन—ये फतहपुर-निवासी जाति के महाब्राह्मण अथवा आचार्य थे। इनके पिता का नाम देवीसहाय था।[३०] दादूजी के शिष्य संतदास इनके गुरु थे। ये बड़े भजनानंदी और गुणवान साधु थे। इनके बनाये दो ग्रंथ मिले हैं, सर्वांगबावनी और भारती-नाममाला। 'सर्वांगबावनी' में ५४ कवित्त (छप्पय) हैं। यह सं० १६८३ में लिखी गई थी।[३१] इसमें नीति और लोक-व्यवहार की बातों का वर्णन है। 'भारती-नाममाला' में ५२५ पद्य हैं, ५१७ दोहे और ८ कवित्त। इसका निर्माण सं० १६८५ में फतहपुर में हुआ था।[३२] यह 'अमरकोष' का पद्यानुवाद है।

ये दोनों साहित्यिक रचनाएँ हैं और अच्छे ढंग से लिखी गई हैं। इनकी भाषा भी बहुत मँजी हुई और ललित है।

(२२९) माधौदास—ये दादूजी के ५२ प्रधान शिष्यों में से थे और मारवाड़ राज्य के गूलर नामक गाँव में रहते थे।[३३] इनका लिखा हुआ 'संत

---

२८. पुरोहित हरिनारायण; सुन्दर-ग्रंथावली, पृ० ९२ (जीवनचरित्र)।

२९. वही. पृ० ९३।

३०. राजस्थान में हिंदी के हस्तलिखित ग्रंथों की खोज, द्वितीय भाग, पृ० १५३।

३१. सवत सोल्ह सै जु बरस, जब हुतौ तियासी।
पोष मास पख सेत, हेत दिन पूरणमासी॥
—सर्वांगबावनी, पद्य ५३

३२. सोलहसै पच्चासिये, सवत हुहे विचार।
सेत पाखि राका तिथू, कवि दिन मास कुवार॥
—भारती-नाममाला, पद्य २०

३३. पु० हरिनारायण; सुन्दर-ग्रंथावली, पृ० ९३ (जीवन-चरित्र)।

गुणसागर' ग्रंथ दादूपंथी साहित्य की एक बहुत लोकप्रिय रचना है। यह अभी तक अप्रकाशित है। इसमें इसका रचनाकाल सं० १६६१ दिया हुआ है, पर कुछ अंश बाद में भी जोड़े गये प्रतीत होते हैं। इसमें २४ तरंगें हैं, जिनमें दादूजी के जीवनचरित्र पर विस्तारपूर्वक प्रकाश डाला गया है। जनगोपाल के 'श्रीदादूजन्मलीलापरची' की भाँति इसमें भी कुछ अलौकिक घटनाएँ और किंवदन्तियाँ प्रवेश कर गई हैं; इसलिये बहुत प्रामाणिक तो यह नहीं है फिर भी अपनी चित्ताकर्षक वर्णन-शैली के कारण पढ़ने योग्य अवश्य है।

(२३०) सन्तदास—ये दादूजी के शिष्य चमड़िया गोत्रीय अग्रवाल महाजन थे। जनश्रुति है कि इन्होंने जीवित समाधि ली थी। इनका समाधिस्थान अभी तक फतहपुर में विद्यमान है, जिस पर आठ खम्भों की एक छतरी बनी हुई है। उसमें एक शिलालेख भी लगा हुआ है, जिसमें इनका समाधि काल सं० १६९६ बताया गया है,[३४] और लिखा है कि यह समाधि इन्होंने फतहपुर के नवाब अलफखाँ के पुत्र दौलतखाँ के शासन-समय में ली थी।

संतदासजी की 'वाणी' बारह हजार छंदों की एक भारी रचना है। इसी लिये ये 'संतदास बारहहजारी' कहलाते हैं।

(२३१) वाजिन्दजी—दादूजी के अन्यतम शिष्यों में वाजिन्दजी का नाम बड़े आदर से लिया जाता है। ये जाति के मुसलमान थे।[३५] राघवदास ने अपने 'भक्तमाल' में लिखा है कि एक दिन इन्होंने शिकार करते समय एक गर्भिणी हरिणी पर तीर मारा। हरिणी तो मर गई पर उसके पेट में से एक जीवित बच्चा निकला। उसे देख कर इनके मन में दया आ गई और वैराग्य उत्पन्न हो गया। इन्होंने अपने तीर-कमान को फेंक दिया और ये दुनिया से नाता तोड़ दादूजी के शिष्य हो गये।[३६]

---

३४. वही; पृ० ८४।

३५. स्वामी मंगलदास; पञ्चामृत, पृ० अ: (भूमिका)।

३६. छाँड़ि कें पठान कुल राम नाम कीन्हों पाठ,
भजन प्रताप सूं वाजिन्द बाजी जीत्यौ है।
हिरनी हतत उत उर भयो भयकरि,
सीलभाव उपज्यों दुसील भाव बीत्यौ है॥
तोरे है कमान तीर चाणक दिया सरीर,
दादूजी दयाल गुरु अन्तर उदीत्यौ है।
राघौ रति रात दिन देह दिल मालिक सूं,
खालिक सूं खेल्यो जैसे खेल्न की रीत्यौ है॥

मिश्रबंधु-विनोद में वाजिन्दजी का जन्म-काल संवत १७०८ लिखा है[३७], जो अशुद्ध मालूम देता है। क्योंकि ये दादूजी के शिष्य थे, जैसा कि राघवदास-कृत भक्तमाला से स्पष्ट है। अतएव इनका जन्म-समय दादूजी की मृत्यु, अर्थात् सं० १६६० के पहले का होना चाहिये।

वाजिन्दजी के बनाये निम्नलिखित १६ ग्रन्थ मिलते हैं। कुछ लोगों का अनुमान है कि ये इनके स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं, बल्कि इनकी 'वाणी' के अवयव हैं। यह अनुमान ठीक जान पड़ता है। क्योंकि इन ग्रन्थों के नामों से कुछ ऐसा ही आभास होता है।

(१) अरिल्ल, (२) गुण कठियारानामा, (३) गुण उत्पत्तिनामा, (४) गुण श्रीमुखनामा, (५) गुण छरियानामा, (६) गुण हरिजननामा, (७) गुण नाम-माला, (८) गुण गंजनामा, (९) गुण निरमोहीनामा, (१०) गुण प्रेमकहानी, (११) गुण विरह-अंग, (१२) गुण नीसानी, (१३) गुण छंद, (१४) गुण हितोपदेश, (१५) पद और (१६) राजकीर्तन।

इनके अतिरिक्त इनकी फुटकर साखियाँ भी इधर-उधर संग्रह-ग्रंथों में बहुत देखने में आती हैं। कुछ का संकलन संत जगन्नाथके 'गुणगंजनामा' और रज्जबजी के 'सर्वंगी' ग्रन्थों में भी हुआ है।

(२३२) सुन्दरदास—ये दौसा के रहनेवाले खंडेलवाल महाजन थे। इनका जन्म सं० १६५३ में हुआ था।[३८] इनके पिता का नाम चोखा उपनाम परमानन्द और माता का सती था।[३९] कहा जाता है कि टहटड़ा गाँव की ओर से घूमते हुए एक दिन दादूजी जब दौसा में आये और इनके माता-पिता इनको साथ लेकर उनके दर्शन करने को उनके निवास-स्थान पर गये, तब होनहार समझकर उन्होंने इन्हें अपना शिष्य बना लिया। उस समय इनकी आयु छः वर्ष की थी। उसी दिन से इन्होंने अपना जन्म-स्थान तथा परिवार छोड़ दिया और दादूजी के साथ रहने लगे। दादूजी की मृत्यु तक ये उनके पास रहे। तदनन्तर काशी चले गये। वहाँ इन्होंने साहित्य, व्याकरण, दर्शन आदि विभिन्न विषयों का अध्ययन किया और कविता करना भी सीखा। फिर फतहपुर चले आये और अपने गुरु-भाई प्रयागदास के साथ रहने लगे।[४०]

३७. पृ० ५०६।

३८. पं० रामचन्द्र शुक्ल; हिन्दी-साहित्य का इतिहास, पृ० ७५।

३९. हरिनारायण; सुन्दर-ग्रन्थावली, पृ० १ (जीवन चरित्र)।

४०. वही, पृ० २६।

सुन्दरदास बड़े मधुरभाषी, स्वच्छस्वभाव और बालब्रह्मचारी थे। इनके स्वभाव में बालकों का-सा भोलापन था। इनको देशाटन का बड़ा शौक था और बिना विशेष कारण के किसी एक स्थान पर नहीं ठहरते थे। इन्होंने प्रायः समस्त उत्तरी भारत, गुजरात, मालवा आदि का कई बार पर्यटन किया था। इससे इनके ज्ञान-भंडार की अच्छी वृद्धि हुई और पंजाबी, गुजराती आदि कई भाषाओं का अच्छा अभ्यास हो गया। इनका नियम था कि जिस किसी स्थान पर जाते, वहाँ के साधु-महात्माओं और विद्वानों से अवश्य मिलते थे। उनके सत्संग से लाभ उठाते और अपने सदुपदेशों से उनको लाभान्वित करते थे। इन गुणों के कारण दादूपंथियों के अतिरिक्त इतर धर्मावलम्बी भी इन्हें पूज्य दृष्टि से देखते और इनकी साधुता, ज्ञान-गरिमा एवं काव्य-रचना-चातुरी की बड़ी सराहना करते थे।

स्वामीजी कभी फतहपुर में, कभी कुरसाने में और कभी आमेर में रहे। परन्तु अन्त समय में ये साँगानेर में थे, जहाँ सं० १७४६ में इनका वैकुण्ठवास हुआ। साँगानेर में जिस स्थान पर इनकी दाह-क्रिया हुई वहाँ इनके शिष्यों ने एक छोटा-सा चबूतरा बनाकर उस पर एक गुमटी खड़ी कर दी थी। यह गुमटी सं० १९६५ तक अच्छी दशा में रही, पर बाद में न मालूम किसी ने उसे तोड़-फोड़ डाला और स्वामीजी के चरण-चिह्नों को भी उखाड़कर फेंक दिया। उस छतरी में यह चौपाई खुदी हुई थी—

संवत सत्रासै छीयाला। कातिक सुदि अष्टमी उजाला॥
तीजै पहर भरसपतिवार। सुन्दर मिलिया सुन्दर सार॥"

सुन्दरदास के कई शिष्य थे, जिनमें दयालदास, श्यामदास, दामोदरदास, निर्मलदास और नारायणदास ये पाँच मुख्य थे। इन पाँचों के थाँभे बड़े थाँभे माने जाते हैं। इनमें भी फतहपुर का थाँभा प्रधान गिना जाता है। इसलिये ये 'सुन्दरदास फतहपुरिया' भी कहलाते हैं। इनके हाथ की लिखी हुई पुस्तकें, इनका पलंग, टोपा आदि फतहपुर में इनके थाँभाधारियों के पास सुरक्षित हैं।

सुन्दरदास सत्साहित्य के उद्भावक, पोषक और प्रचारक थे। इनके रचे ग्रंथों के नाम ये हैं—

४१. वही; पृ० ११९।

(१) ज्ञान-समुद्र, (२) सर्वाङ्गयोग प्रदीपिका, (३) पंचेन्द्रिय-चरित्र, (४) सुख-समाधि, (५) स्वप्न-प्रबोध, (६) वेद-विचार, (७) उक्त-अनूप, (८) अद्‌भुत-उपदेश, (९) पंचप्रभाव, (१०) गुरु-सम्प्रदाय, (११) गुन-उत्पत्ति-नीसानी, (१२) सद्‌गुरु-महिमा नीसानी, (१३) बावनी, (१४) गुरु-दया षट्‌पदी, (१५) भ्रम-विध्वंस-अष्टक, (१६) गुरु-कृपा-अष्टक, (१७) गुरु-उपदेश ज्ञानाष्टक, (१८) गुरुदेव-महिमा स्तोत्राष्टक, (१९) रामाष्टक, (२०) नामाष्टक, (२१) आत्मा-अचलाष्टक, (२२) पंजाबी भाषा अष्टक, (२३) ब्रह्म स्तोत्र अष्टक, (२४) पीरमुरीद अष्टक, (२५) अजब ख्याल अष्टक, (२६) ज्ञान झूलनाष्टक, (२७) सहजानंद, (२८) गृह-वैराग्य बोध, (२९) हरिबोल चितावनी, (३०) तर्क चितावनी, (३१) विवेक चितावनी, (३२) पवंगम छंद, (३३) अडिल्ला छंद, (३४) मडिल्ला छंद, (३५) बारहमासा, (३६) आयुर्बल भेद-आत्मा विचार, (३७) त्रिविध अंतःकरण भेद, (३८) पूरबी भाषा बरवै, (३९) सुन्दरविलास, (४०) साखी, (४१) पद और (४२) फुटकर काव्य।

हिन्दी के निर्गुणोपासक भक्त कवियों में सुन्दरदास का एक विशिष्ट स्थान है। शान्त रस और वेदान्त-विषयक कविता इनकी सर्वश्रेष्ठ मानी जाती है। ये साहित्य-शास्त्र के प्रौढ़ विद्वान थे और पद-साखियों के अतिरिक्त कवित्त-सवैया भी लिखते थे। अतः रीतिकालीन कवियों की अभिव्यंजना पद्धति पर लिखी हुई इनकी कविताओं का जितना बौद्धिक मूल्य है उतना ही साहित्यिक भी है। और यही कारण है कि उन्हें पढ़ कर ज्ञान-पिपासु भक्तजन ही परितृप्त नहीं होते, किन्तु काव्य-कौशल के प्रेमी पाठक भी आनंदित होते और झूमने लगते हैं।

(२३३) खेमदास—ये रज्जबजी के शिष्य थे[४२] और मरवाड़ में रहते थे। इनका रचना-काल सं० १७०० के आसपास है। अपने 'भक्तमाल' में राघवदास ने इनके विषय में एक कवित्त लिखा है, जिससे इनके स्वभाव और चरित्र पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। उस कवित्त को यहाँ उद्धृत किया जाता है—

महंत रज्जब के अज्जब शिष्य खेमदास,
जाके नेम नितप्रति ब्रत निराकार कौ।
पंथ में प्रसिद्ध अति देखिये दैदीप्यमान,
वाणी को विनाणी अति मांझिन में भार कौ॥

४२. स्वामी मंगलदास : पंचामृत, पृ० औ (भूमिका)।

रामत मेवाड़ में मेवा सी मुख सोहे बात,
बोलत खरो सुहात बेतवा विचार कौ।
राघौ सारो रहणी को कहणी सुकृति अति,
चेतन चतुरमति भेदी सुख भार कौ॥

खेमदास के रचे हुए सत्रह ग्रंथ उपलब्ध हैं। उनके नाम ये हैं—

(१) शुक-संवाद, (२) भयानक चितावणी, (३) गोपीचंद-वैराग्य-बोध, (४) धर्म-संवाद, (५) ज्ञान चितावणी, (६) राखिया विसरे का पद्धतिनामा, (७) नसीहतनामा, (८) ज्ञानजोग, (९) संदेहदवण, (१०) जुगतिजोग भेद, (११) सिधसंकेत आत्मासाधन, (१२) कसणी, (१३) विप्रबोध, (१४) गुण ज्ञान गंगा, (१५) जोग संग्राम, (१६) बिरदावली और (१७) बावनी।

इनकी रचना सद्भावोत्पादक और भाषा प्रौढ़ है, पर उसमें उर्दू-फारसी के शब्दों का प्रयोग आवश्यकता से अधिक हुआ है, जिससे कुछ अटपटापन आ गया है। उदाहरण—

हिन्दू अरु तुरक खुदाइ का जहान सब,
बेगाना न कोई भाई खेस करि जानियै।
दोइ फरजंद एक बाप करि जाने कोई,
दोनो का दरद दुई दिल में न आनियै॥
राखि इखलास सब सब्बे की सगाई साधि
मिहर मुहब्बत सों बंदगी बखानियै।
बेपीर बेराह बदनजर औ बदफैल,
खेमदास सोई जाति बेईमान रानियै॥[४३]

(२३४) राघवदास—ये पीपावंशी चाँगलगोत शाखा के क्षत्रिय थे।[४४] इनके गुरु का नाम प्रह्लाददास था। ये पहले वैष्णव मतानुयायी थे, फिर दादूपंथी हो गये थे। इन्होंने अपने गुरु की आज्ञा से 'भक्तमाल' नामक एक ग्रंथ सं० १७१७ में बनाया था—

संवत सत्रहसै सत्रहोतरा, सुकल पक्ष सनिवार।
तिथि त्रितिया आषाढ़ की, राघौ कियौ विचार॥

---

४३. वही: पृ० ६१।

४४. पु० हरिनारायण; सुन्दर-ग्रन्थावली, पृ० ८८।

यह ग्रन्थ नाभादास के 'भक्तमाल' की रचना-शैली पर लिखा गया है, पर उसकी अपेक्षा इसका दृष्टिकोण कुछ अधिक व्यापक और उदार है। नाभादास ने अपने 'भक्तमाल' में केवल वैष्णव भक्तों को स्थान दिया है। परंतु इन्होंने दादूपंथी संतों के अतिरिक्त रामानुज, विष्णुस्वामी, कबीर, नानक आदि अन्य मतावलंबियों का भी वर्णन किया है और यह इसकी एक प्रधान विशेषता है। बहुत प्रौढ़ और उपयोगी रचना है।

(२३५) रसपुंजदास—ये छोटे सुन्दरदास की शिष्य-परंपरा में थे। इनका असली नाम मोतीराम था। मिश्रबंधुओं ने इनका कविता-काल सं० १७८७ बताया है[45], जो अशुद्ध है। इनके बनाये चमत्कार-चन्द्रोदय, प्रस्तार प्रभाकर और वृत्तविनोद नामक तीन ग्रंथ मिलते हैं, जो क्रमशः १८६६,[46] सं० १८७१[47] और सं० १८७८[48] में रचे गये थे। मिश्रबंधु-विनोद में इनके एक और ग्रंथ का उल्लेख किया गया है, उसका नाम है, कवित्त श्रीमाताजी रा।[49] परन्तु यह इनकी रचना नहीं है। रसपुंज नाम के एक दूसरे कवि की कृति है, जो जोधपुर-निवासी थे, जाति के सेवक थे और जोधपुर के महाराजा अभयसिंह के आश्रित थे।[50]

(२३६) स्वरूपदास—ये चारण थे। इनके पिता का नाम मिश्रीदान था। इनका रचना-काल सं० १८८०-१९२० है। इनके पूर्वज उमरकोट के रहनेवाले थे, जहाँ से आकर इनके पिता अजमेर प्रान्त के बडली गाँव में बस गये थे। इनका बचपन का नाम शंकरदान था। इनको शिक्षा इनके चाचा परमानंद से मिली थी। परंतु शिक्षा प्राप्त करते ही इन्होंने दादूपंथ को स्वीकार कर लिया, इससे इनके चाचा को बड़ी निराशा हुई, क्योंकि अच्छा विद्वान् बनाकर वे इनके द्वारा कहीं से अच्छी जीविका प्राप्त करना चाहते थे। इस बात पर दुख प्रकट करते हुए उन्होंने इन्हें एक पत्र में लिखा—

---

४५. मिश्रबंधु-विनोद, भाग दूसरा, पृ० ५०६।

४६. राजस्थान में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रंथों की खोज, प्रथम भाग, पृ० ३०।

४७. संमत ससि मुनि वसु मही, चैत्र कृष्ण पछ सार।
पंचमी गुरु पूरण भयो, प्रभाकर सु प्रस्तार॥

४८. राजस्थान के हिंदी-साहित्यकार, पृ० २४९।

४९. पृ० ६२१।

५०. डा० श्यामसुंदरदास; हस्तलिखित हिंदी-पुस्तकों का संक्षिप्त विवरण, पृ० १३१।

कीधौ थो कुण कौल, कह पाछो का सूं कियो।
बेटा थारो बोल, सालै निसदिन संकरा[51]॥

ये संस्कृत, पिंगल, डिंगल आदि भाषाओं के अच्छे विद्वान् थे। रतलाम, सीतामऊ आदि रियासतों के राजदरबारों में इनका बड़ा मान था। सीतामऊ के तत्कालीन नरेश राजसिंह के पुत्र महाराजकुमार रत्नसिंह की तो इनके प्रति इतनी गहरी भक्ति थी कि उन्होंने अपने ग्रंथ 'नटनागर-विनोद' के प्रारंभ में ईश्वर की वंदना न कर पहले इन्हीं की वंदना की है।

कहा जाता है कि स्वरूपदास ने छः ग्रन्थ बनाये थे, परन्तु अभी तक इनके केवल तीन ग्रन्थ मिले हैं—पांडवयशेन्दुचंद्रिका, वृत्तिबोध[52] और हृदयनांजन। इनमें 'पांडवयशेंदुचंद्रिका' राजस्थान के साहित्य-समाज की बहुत लोकप्रिय रचना है। यह महाभारत की कथा का सारांश है और सोलह अध्यायों में विभक्त है। इसकी भाषा-शैली बहुत प्रौढ़ एवं परिमार्जित है और हृदयस्पर्शी भाव-सौष्ठव तथा विषयगत लालित्य का इसमें बहुत सुन्दर सम्मिलन हुआ है।

(२३७) मंगलदास—ये नागा जमात के मुखिया जाति के चारण थे और जयपुर राज्यान्तर्गत जाखल गाँव के पास ढाणी में रहते थे।[53] इनके रचना-काल का निश्चित पता नहीं है, परंतु इनके ग्रन्थों से ऐसा ज्ञात होता है कि ये सं० १९१० तक वर्तमान थे। इन्होंने गरु-पद्धति, तर्क-खंडन इत्यादि छोटे-मोटे कई ग्रन्थ बनाये, जिनमें 'सुंदरोदय' इनकी सर्वश्रेष्ठ रचना है।

चरणदासी-पंथ

यह पंथ मेवात-निवासी संत चरणदास से चला है। राजस्थान में इसके माननेवाले अधिकतर उत्तर-पूर्वी भाग में पाये जाते हैं। इस पंथ में निष्काम प्रेम तथा सदाचरण पर विशेष जोर दिया गया है और गुरु-भक्ति को मोक्ष-प्राप्ति का प्रमुख साधन माना गया है। संत चरणदास की श्रीमद्भागवत में बड़ी आस्था थी, जिसकी सच्ची भावना को इन्होंने अपनी कृतियों में का उतारा है। एक तरफ ये कबीर, दादू आदि निर्गुणी संतों के अनुवर्ती थे और दूसरी तरफ श्रीकृष्ण को समस्त कारणों का कारण मानते थे। अतएव इनके मत-सिद्धान्तों में निर्गुण भक्ति और सगुण भक्ति, दोनों के तत्वों का सम्मिलन हुआ है, यद्यपि झुकाव निर्गुण भक्ति की ओर कुछ अधिक है।

५१. राजस्थानी भाषा और साहित्य, पृ० २२४।
५२. राजस्थान में हिंदी के हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज, भाग दूसरा, पृ० १४।
५३. राजस्थान के हिंदी साहित्यकार, पृ० २४९।

चरणदासी पंथ में विरक्त और घरबारी, दोनों तरह के अनुयायी मिलते हैं। विरक्त पीले वस्त्र पहिनते हैं और ललाट पर गोपीचंदन का पतला तिलक लगाते हैं। ये सिर पर चार-पाँच हाथ लंबा पीले रंग का एक छोटा साफा बाँधते हैं, जिसके नीचे पीले रंग की एक नोकदार टोपी होती है।

(२३८) चरणदास—ये जाति के ढूसर बनिया थे। इनका जन्म मेवात प्रदेश के डेहरा नामक गाँव में सं० १७६० में हुआ था।[५४] यह गाँव वर्तमान अलवर से कोई आठ मील उत्तर में है। इनके पिता का नाम मुरलीधर और माता का कुंजो था। इनके गुरु का नाम शुकदेव था, जिन्होंने इनको शब्द-मार्ग का उपदेश दिया था[५५] और इनका रणजीत नाम बदलकर चरणदास रखा था। कहा जाता है कि जब ये सात वर्ष के थे, तब इनके पिता मुरलीधर अपना घर छोड़ जंगल में चले गये थे। इसलिये इनकी किशोरावस्था इनके नाना के घर दिल्ली में व्यतीत हुई थी।

लगभग तीस वर्ष की अवस्था में चरणदास ने अपने मत का प्रचार प्रारंभ किया था और थोड़े ही समय में उसे दूर-दूर तक फैला दिया था। इनके अनुयायियों में उस समय के अनेक धनी-मानी लोग थे, जिनमें एक नाम मुगल बादशाह मुहम्मदशाह का भी लिया जाता है।

इनका देहान्त सं० १८३८ के लगभग दिल्ली नगर में हुआ था।[५६] दिल्ली में इनके निधन-स्थान पर एक समाधि बनी हुई है। इनकी एक छतरी इनकी जन्मभूमि डेहरा में भी है। वहाँ प्रतिवर्ष वसंत पंचमी को एक मेला लगता है।

चरणदास की रचना के संबंध में हिंदी के विद्वानों में मतैक्य नहीं है। इनके ग्रंथों की संख्या कोई २१, कोई १५ और कोई १२ बतलाते हैं।[५७] स्वयं चरणदास ने इस विषय में स्पष्ट रूप से कुछ नहीं कहा है। उन्होंने केवल इतना ही लिखा है कि पहले पहल मैंने पाँच हजार बानियाँ लिखीं, जिनको गंगाजी में बहा दिया। तदंतर पाँच हजार और बनाईं। उनको हरि-नाम की अग्नि में जलाया। अंत में पाँच हजार फिर रचीं, जिनको संत-समुदाय के भेंट किया—

५४. डा० श्यामसुन्दरदास; हस्तलिखित हिंदी-पुस्तकों का संक्षिप्त विवरण, पृ० ४३।

५५. डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल; हिंदी काव्य मे निर्गुण संप्रदाय, पृ० ८६।

५६. वही; पृ० ८७।

५७. परशुराम चतुर्वेदी; उत्तरी भारत की संत-परंपरा, पृ० ६००।

संवत सत्रहसै इक्यासी। चैत सुदी तिथि पूरनबाँसी ॥
सुकल पक्ष दिन सोमहिवारा। रचूं ग्रन्थ यो कियो विचारा ॥
तब ही सूं अस्थापन धरिया। कछु वक वानी वा दिन करिया ॥
ऐस हि पाँच हजार वनाई। नांव गुरु के गंग बहाई ॥
फिर भई बानी पाँच हजारा। हरि के नांव अगन में जारा ॥
तीजै गुरु अग्या सूं कीन्ही। सो अपने संतण कौं दीन्हीं ॥[५८]

—भक्तिसागर

उदयपुर के सरस्वती भंडार में चरणदास के समस्त ग्रंथों का एक प्रामाणिक संग्रह सुरक्षित है, जिसका लेखन काल सं० १८७९ है।[५९] इसमें इनके ग्यारह ग्रन्थ संगृहीत हैं, जिनकी छंद-संख्या (अनुष्टुप श्लोक) पाँच हजार के लगभग है। इससे मालूम पड़ता है कि चरणदास ने यही ११ ग्रंथ लिखे थे और इनके अलावा जो भी ग्रंथ हिंदी-साहित्य में इनके नाम से चल रहे हैं वे वस्तुतः इन के नहीं हैं। इन ग्यारह ग्रन्थों का विवरण इस प्रकार है—

१ ब्रजचरित्र

पद्य संख्या	६५
विषय	श्रीकृष्ण व ब्रज का वर्णन

२ अमरलोक-अखंडधाम-वर्णन

पद्य संख्या	५३
विषय	स्वर्गलोक व प्रेम-वर्णन

३ धर्मजहाज

पद्य संख्या	१७७
विषय	कर्मवाद

४ ज्ञानस्वरोदय

पद्य संख्या	२२०
विषय	योग-क्रिया

५ अष्टांग जोग

पद्य संख्या	३३१
विषय	योगाभ्यास

५८. सरस्वती भंडार, उदयपुर, की हस्तलिखित प्रति, पत्र १२८।
५९. राजस्थान में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज, प्रथम भाग, पृ० ९४।

६ पंचोपनिषद्

पद्य संख्या	११६
विषय	उपनिषदों का अनुवाद

७ संदेहसागर

पद्य संख्या	२४
विषय	योगाभ्यास

८ भक्ति-पदारथ

पद्य संख्या	६०६
विषय	ईशभक्ति व ज्ञानोपदेश

९ मनविरक्त करन गुटकासार

पद्य संख्या	१०२
विषय	दत्तात्रेय-वैराग्य-वर्णन

१० ब्रह्मज्ञानसागर

पद्य संख्या	१९०
विषय	आध्यात्मिक ज्ञान

११ भक्तिसागर

पद्य संख्या	३६८
विषय	भक्ति, योग और ब्रह्मविद्या

अन्तिम ग्रंथ 'भक्तिसागर' तीन भागों में विभक्त है—शब्द, छप्पय और कवित्त। कुछ विद्वानों ने इनको पृथक् ग्रन्थ मान लिया है और इस कारण भी इनके ग्रंथों की संख्या बढ़ गई है। वास्तव में ये तीन पृथक् रचनाएँ नहीं हैं, एक ही रचना के तीन अंग हैं।

चरणदास का समस्त जीवन ईशभक्ति-साधना से परिपूर्ण था। इन्होंने अपनी रचना में भगवन्नाम-जप की बड़ी महिमा गायी है और यही उसका मुख्य स्वर है। इनकी कविता सादी, भाषा सरल और भाव सीधे हैं।

(२३९) दयाबाई—यह महात्मा चरणदास की शिष्या थीं और उन्हीं के गाँव डेहरा में उत्पन्न हुई थीं। इनके जन्म-काल का ठीक-ठीक पता नहीं है। परन्तु कुछ विद्वानों का अनुमान है कि यह सं० १७५० और सं० १७७५ के बीच में किसी समय पैदा हुई थीं।[६०] यह चरणदास की जाति की थीं और

६०. ज्योतिप्रसाद मिश्र; स्त्री-कवि-कौमुदी, पृ० ६० ।

उनके साथ दिल्ली में रहती थीं। इनका देहांत सं० १८३० के आसपास हुआ था।[६१]

दयाबाई के बनाये दो ग्रंथ मिलते हैं, दयाबोध और विनयमालिका। दयाबोध में उसका रचना-काल दिया हुआ है, जो सं० १८१८ है—

संवत ठारा सै समै, पुनि ठारा गये बीति।
चैत सुदी तिथि सातवीं, भयो ग्रन्थ सुभ रीति॥

दयाबाई की रचना में दैन्य और वैराग्य की प्रधानता है और उस पर इनके निर्मल चरित्र की छाप लगी हुई है।

(२४०) सहजोबाई—यह भी चरणदास की शिष्या और सजातीया थीं। इनका आविर्भाव-काल सं० १८०० है।[६२] इनके पिता का नाम हरिप्रसाद था, जो डेहरा के निवासी थे।[६३] यह बाल ब्रह्मचारिणी थीं और अपने गुरु की भाँति साधुवृत्ति से रहती थीं। इनकी कविताओं का एक संग्रह 'सहज-प्रकाश' बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग से प्रकाशित हुआ है। इसके अध्ययन से विदित होता है कि यह केवल भक्त ही न थीं, कवि भी थी। इनकी कविता अत्यन्त मधुर एवं उल्लासपूर्ण है और उसमें प्रेम का प्राधान्य है।

रामसनेही-पंथ

रामसनेही पंथ राजस्थान में बहुत प्रचलित है। इस पंथ के अनुयायी साधु-महात्मा और गृहस्थ यहाँ के सभी भागों में पाये जाते हैं। ये लोग श्री रामानुज स्वामी को अपना प्रथम आचार्य बतलाते हैं और रामानंद, अग्रदास इत्यादि उनके शिष्य-प्रशिष्यों से अपनी परंपरा मिलाते हैं।[६४] ये निर्गुण ब्रह्म को राम के नाम से मानते हैं और उसी की आराधना करते हैं। इस पंथ में ब्रह्मज्ञान को मानव-जीवन का चरम लक्ष्य माना गया है और उसकी प्राप्ति के लिये १५ नियम बताये गये हैं, जिनका पालन करना आवश्यक है। वे नियम ये हैं—

(१) निर्गुण निराकार एक रामजी का ही इष्ट रखना और उन्हीं निर्लेप निरंजन परमेश्वर की पराभक्ति से उपासना करना।

---

६१. शिवव्रतलाल; संतमाल, पृ० २११।

६२. डा० श्यामसुन्दरदास; हस्तलिखित हिंदी पुस्तकों का संक्षिप्त विवरण, पृ० १७८।

६३. मुन्शी देवीप्रसाद; महिलामृदुवाणी, पृ० १०१।

६४. श्रीरामचरणजी की अणभैवाणी, पृ० १ (भूमिका)।

(२) वेद, श्रुति, स्मृति, गुरुवाणी, शास्त्र, आर्षग्रंथ, पुराण, आप्तवाक्यों को मानना और सद्विद्या का प्रचार करना।

(३) पाठ-पूजन, संध्या-वंदनादि नित्य कर्मों का पालन करना और शरीर के समस्त सुखों को छोड़कर निरंतर राम-स्मरणपूर्वक योगाभ्यासी होना।

(४) सद्गुरु और संतों की आज्ञा मानना। उनको ईश्वर रूप जानना और सत्संग को परम लाभ समझना।

(५) अपने सब व्यवहारों को ईश्वराधीन जानना और हिंसा रहित सत्य धर्मयुक्त सात्विक उद्यमी होना।

(६) ईश्वर को अर्पण किया हुआ प्रसाद ग्रहण करना; अन्य देवताओं के प्रसाद को स्पर्श न करना और न अन्य देवताओं को देवत्व बुद्धिकर मानना।

(७) भोजनाच्छादन की चिन्ता न करना और न किसी से याचना करना। केवल सर्वशक्तिमान एक ईश्वर से ही आशा-विश्वास रखना।

(८) शील, संतोष, त्याग, वैराग्य, क्षमा, सरलता, धृति आदि धारण करना और सत्यभाषी होना।

(९) काम, क्रोध, लोभ, मोह, राग, द्वेष, अभिमान, ईर्ष्या, निंदा आदि का त्याग कर अन्तःकरण को शुद्ध रखना तथा संयम-नियम से रहना और स्त्री मात्र को माता-बहिन समझना।

(१०) जल छानकर पीना, रात्रि में भोजन न करना, जीव रक्षार्थ पाँव देखकर धरना और चातुर्मास में विहार न करना अर्थात् एक जगह रहना।

(११) दूसरों के सुख, दुख, हानि, लाभ को अपनी ही तरह समझना और सब की उन्नति में अपनी उन्नति मानना।

(१२) मानापमान रहित होकर तन, मन और वचन से परोपकार करना और संपूर्ण प्राणी मात्र को एक ही आत्मरूप से देखना।

(१३) मांस, मदिरा, भाँग, तम्बाकू, अफीम, जुवा आदि व्यसनों से बचना और व्यसनी लोगों की संगति न करना।

(१४) बाह्याडंबर में रत न होकर सात्विक रंग रंजित वस्त्र धारण करना और हर समय ईश्वर को याद करते रहना।

(१५) भ्रमात्मक भीरुता में न फँसकर सद्गुरु द्वारा प्राप्त वेदानुकूल सत्पथ का अनुसरण करना।

राजस्थान में रामसनेहियों की तीन शाखाएँ हैं, जिनके आचार्य शाहपुरा, खेड़ापा और रैण इन तीन केन्द्रों में अवस्थित हैं। इन तीनों शाखाओं के मूल सिद्धान्तों में विशेष अंतर नहीं है, पर इनके आचार्य भिन्न होने से इनके अनुयायी अपने को एक-दूसरे से भिन्न मानते हैं।

शाहपुरा की शाखा रामचरणजी से चली है। इसके अनुयायी साधु रामद्वारों में रहते हैं और भिक्षा माँग कर अपनी उदरपूर्ति करते हैं। ये कपड़े नहीं पहिनते, लँगोट बाँधे रहते हैं और ऊपर से कषाय चादर ओढ़ लेते हैं। पहले कोई-कोई साधु नंगे भी रहते थे, जो परमहंस कहलाते थे। ये प्रायः कमंडल, लँगोट, चादर, माला और पोथी के अतिरिक्त कोई दूसरी वस्तु अपने पास नहीं रखते और न किसी से रुपया-पैसा लेते हैं। ये विवाह नहीं करते। किसी उच्च वर्ण के लड़के को अपना चेला मूँड़ लेते हैं और जो चेला सबसे पहले मूँड़ा जाता है उसी का गुरु की गद्दी पर अधिकार होता है। बड़े चेले को छोटे चेले नमस्कार करते और गुरुवत् मानते हैं। ये साधु रामद्वारों में रहते हैं, जहाँ कथा बाँचते तथा भजन गाते हैं। ये शाहपुरा को अपना गुरुद्वारा समझते हैं, जहाँ प्रति वर्ष फाल्गुन सुदी १ से चैत्र वदि ६ तक मेला लगता है।

(२४१) रामचरण—ये रामसनेहियों की शाहपुरा शाखा के प्रवर्त्तक थे और जयपुर के सोड़ा नामक गाँव के रहनेवाले बीजावरगी महाजन थे। इनका जन्म सं० १७७६ में माघ शुक्ला चतुर्दशी शनिवार को हुआ था। इनके गुरु का नाम कृपाराम था, जिनसे इन्होंने सं० १८०८ में दीक्षा ग्रहण की थी।[६५] दीक्षा के पूर्व ये जयपुर दरबार की नौकरी में थे, जैसा कि इन्होंने अपने 'अमृत-उपदेश' ग्रंथ में प्रकट किया है—

जन्म वैश्य घर पाइयो, पुनि सेवत राजद्वार।
रामचरण जन ना मिलै, होता बहुत खवार ॥[६६]

सं० १८२६ में ये जयपुर से भीलवाड़ा (मेवाड़) पहुँचे और कुछ समय तक वहाँ रहकर फिर शाहपुरा गये। वहाँ के स्वामी रणसिंह ने इनका अच्छा स्वागत किया और इनकी गद्दी स्थापित करवाई।

६५. श्रीरामचरणजी की 'अणभैवाणी'; पृ० २ (भूमिका)।
६६. वही; पृ० ४५६।

इनका देहान्त सं० १८५५ में शाहपुरा में हुआ था।[६७] इनके २२५ शिष्य थे, जिनमें से रामजन इनकी गद्दी पर बैठे।

रामचरण की 'अणभैवाणी' एक भारी ग्रंथ है। यह प्रकाशित भी हो चुका है। इसमें इनके फुटकर पद, दोहा आदि के अतिरिक्त निम्नलिखित २१ रचनाएँ संगृहीत हैं—

(१) गुरुमहिमा, (२) नामप्रताप, (३) शब्दप्रकाश, (४) अणभै-विलास (५) सुखविलास, (६) अमृत-उपदेश, (७) जिज्ञास बोध, (८) विश्वासबोध (९) विश्रामबोध, (१०) समतानिवास, (११) रामरसायणबोध, (१२) चितावणी, (१३) मनखंडन, (१४) गुरु-शिष्य-गोष्ठी, (१५) ठिगपारख्या (१६) जिंदपारख्या, (१७) पंडित संवाद, (१८) लच्छ-अलच्छ जोग, (१९) बेजुक्ति तिरस्कार, (२०) कायरबोध और (२१) दृष्टान्तसागर।[६८]

रामचरण की कविता बहुत सरल और स्वाभाविक है। इनकी भाषा प्रवाहयुक्त तथा विषयानुकूल है और उस पर राजस्थानी की पूर्ण छाया है। छंदोभंग इनकी कविता में कुछ विशेष दृष्टिगोचर होता है। इसके सिवाय विषय-वस्तु की पुनरावृत्ति भी उसमें बहुत हुई है। लेकिन उसमें शक्ति और सचाई, दोनों विद्यमान हैं और उसके इन्हीं दो गुणों ने इनके पंथ को अभी तक जीवित रखा है।

(२४२) **रामजन**—ये रामचरण के पाटवी शिष्य थे और उनके बाद शाहपुरा की गद्दी के उत्तराधिकारी हुए थे। इनका रचना-काल सं० १८३९ है।[६९] इनके बनाये 'रामपद्धति' और 'दृष्टान्तसागर की टीका' ये दो ग्रंथ मिलते हैं। इन्होंने फुटकर वाणियाँ भी लिखी थीं, जिनकी संख्या १८००० बताई जाती है।

(२४३) **जगन्नाथ**—ये रामचरण के २२५ प्रधान शिष्यों में से थे। इनका 'ब्रह्म-समाधि-विलीनजोग' नाम का एक ग्रंथ मिलता है, जो सं० १८५५ में रचा गया था।[७०] इसमें रामचरणजी का जीवनचरित्र वर्णित है।

---

६७. वही; पृ० ३ (भूमिका)।

६८. वही; पृ० १०७१।

६९. वही; पृ० १०६७।

७०. अठारासै पचपन बरस, रवि चवदस वैसाख।
ग्रन्थ संपूरण जगन्नाथ, पुनि जानो सुदि पाख॥

—पद्य २७६

यह एक छोटी, पर उपयोगी रचना है। इसकी भाषा भी बहुत सरस और कोमल है।

खैड़ापा की शाखा हरिरामदास से निकली है। हरिरामदास का जन्म-स्थान सिंहथल (बीकानेर) था और इन्होंने सं० १८०० में बीकानेर राज्य के दुलचासर गाँव में जैमलदास नाम के एक रामानंदी वैष्णव साधु से दीक्षा ली थी।[७१] इनके एक शिष्य रामदास हुए, जिन्होंने खैड़ापे में अपनी गद्दी स्थापित की। अतएव खैड़ापे के रामसनेही रामदास को अपना आदि गुरु, हरिरामदास को अपना आदि प्रवर्तक और जैमलदास को अपना आदि आचार्य मानते हैं। इनके अनुयायियों की संख्या जोधपुर-बीकानेर में अधिक पाई जाती है। रामदास स्वयं गृहस्थ थे और अपने चेलों को भी उन्होंने गृहस्थ-धर्म के पालन का आदेश दिया था। अपने शिष्यों के लिए किसी प्रकार का स्वरूप व बाना भी उन्होंने नियत नहीं किया। पर बाद में इनके बेटे दयालदास और पोते पूरणदास ने रामसनेहियों के विरक्त, विदेही, परमहंस, घरबारी और प्रवृत्ति ये पाँच भेद कर दिये, जो आज तक चले आते हैं। शाहपुरा के रामसनेहियों की भाँति ये भी मूर्ति-पूजा नहीं करते। रामद्वारों मे अपने गुरु का चित्र अवश्य रखते हैं, पर यह प्रथा भी हरिरामदास से बहुत पीछे से चली है। खैड़ापे का गुरुद्वारा सिंहथल है। इन दोनों स्थानों पर होली के दूसरे दिन भारी मेला लगता है और साधु लोग भजन-कीर्तन तथा 'पंचवाणी'[७२] की कथा करते हैं।

(२४४) हरिरामदास—ये बीकानेर राज्यांतर्गत सिंहथल नामक ग्राम के एक ब्राह्मण-कुल में पैदा हुए थे। इनके पिता का नाम भाग्यचंद था।[७३] ये बड़े कुशाग्रबुद्धि तथा मेधावी थे और बहुत थोड़ी आयु में वेदान्त, ज्योतिष आदि में पारंगत हो गये थे। इन्होंने सं० १८०० में दुलचासर ग्राम में आकर जैमलदास से दीक्षा ग्रहण की थी।[७४] इनके योग-चमत्कार की कई कथाएँ प्रसिद्ध हैं। कहा जाता है कि इन्होंने स्वरूपसिंह नामक एक निर्धन व्यक्ति को धनवान बना दिया था। इनका स्वर्गवास सं० १८३५ में हुआ था।[७५] इनके सैकड़ों शिष्य-प्रशिष्य हुए, जिनमें बिहारीदास मुख्य थे; वही

७१. श्रीरामस्नेह-धर्मप्रकाश, पृ० ५ (परिचय)।

७२. कबीर, दादू, हरिदास, रामदास और दयालदास की वाणी 'पंचवाणी' कहलाती है।

७३. श्रीरामस्नेह-धर्मप्रकाश, पृ० ४ (परिचय)।

७४. वही; पृ० ३९१।

७५. वही; पृ० ८।

इनके बाद इनकी गद्दी के अधिकारी हुए। इन्होंने बहुत-सी फुटकर साखियाँ और पद बनाए तथा छोटे-छोटे ग्रंथ लिखे, जिनमे 'चौसाँणी' इनकी सबसे प्रौढ़ रचना है। इसमें हठयोग, समाधि, प्राणायाम आदि की प्रक्रियाओं का वर्णन है।

(२४५) रामदास—इनका जन्म सं० १७८३ में जोधपुर राज्य के बीकोकोर नामक ग्राम में हुआ था। ये जातिके मेघवाल थे। इनके पिता का नाम शार्दूलजी था।[७६] बाल्यावस्था में इन्होंने थोड़ा-सा विद्याभ्यास किया और बाद में विरक्त होकर ये किसी योग्य गुरु की खोज में इधर-उधर घूमने लगे। इन्होंने बारी-बारी से १२ गुरु किये, पर किसी से संतोष न हुआ। अन्त में एक दिन एक सद्गृहस्थ के मुँह से हरिरामदास की 'वाणी' सुनकर ये बहुत प्रभावित हुए और सिंहथल (बीकानेर) में जाकर उनसे भेंट की। सुयोग्य पात्र समझकर उक्त स्वामीजी ने इन्हें राम-मंत्र का प्रभाव तथा रामसनेही पंथ के नियम बतलाये। इस पर सं० १८०९ में इन्होंने रामसनेही पंथ को अंगीकार कर लिया और हरिरामदास के पास रहकर राम-नाम का जप करने लगे।[७७] सं० १८२१ तक ये सिंहथल में रहे, पर बाद में जोधपुर की ओर चले गये और वहाँ खेड़ापे में अपनी गद्दी स्थापित की।[७८] वहाँ इनके सैकड़ों शिष्य हुए, जिन्होंने आगे चलकर रामसनेही पंथ के प्रचारार्थ बहुत काम किया। इनका गोलोकवास सं० १८५५ में ७२ वर्ष की आयु में खेड़ापे में हुआ।[७९]

रामदासजी ने गुरु-महिमा, भक्तमाल, चेतावनी, अमफारगती आदि ग्रंथ तथा अंगबद्ध अनुभव-वाणी की रचना की, जिसके दास, उदास, छांभकी और और सुदृढ़ ये चार भेद हैं।

(२४६) दयालदास—ये रामदास के पुत्र थे और उनके बाद खेड़ापे की गद्दी के अधिकारी हुए थे। इनका जन्म सं० १८१६ में और स्वर्गारोहण संवत् १८८५ में हुआ था।[८०] ये बड़े अनुभवी और सच्चरित्र महात्मा थे। इनके शिष्य पूरणदास ने अपनी बनाई हुई 'जन्मलीला' में

७६. वही; पृ० १०।
७७. वही; पृ० ११।
७८. वही; पृ० १४।
७९. वही; पृ० ३९१।
८०. श्रीरामस्नेह-धर्मप्रकाश; पृ० ३९१।

इनकी बहुत प्रशंसा की है। कविता भी ये अच्छी करते थे। इनका बनाया हुआ 'करुणसागर' ग्रंथ बहुत प्रसिद्ध है। इनके कुछ फुटकर पद भी मिले हैं।

रैण के रामसनेही दरियावजी को अपना आदि गुरु मानते हैं। इनका गुरुद्वारा रैण है, जहाँ दरियावजी का एक चित्र रखा हुआ है। वर्ष में एक भारी मेला यहाँ भी लगता है और इनके अनुयायी एक बहुत बड़ी संख्या में एकत्र होते हैं।

(२४७) दरियावजी—ये जोधपुर राज्य के जैतारण नगर के निवासी थे और सं० १७३३ में पैदा हुये थे।[८१] कुछ लोगों ने इन्हें जाति का मुसलमान मान रखा है,[८२] जो निराधार है, क्योंकि न तो दरियावजी ने कहीं अपने ग्रंथों में इस बात का उल्लेख किया है और न इनके समकालीन शिष्यों में से किसी ने इनका मुसलमान-कुलोत्पन्न होना लिखा है। दरियावजी के अनुयायियों में से आज भी कोई यह नहीं कहता कि ये मुसलमान थे। अपने आचार्य की जाति का ठीक-ठीक पता बतलाने में दरियाव-पंथी असमर्थ हैं, पर वे मुसलमान नहीं थे, यह कहने में सभी का मत एक है। हमारे खयाल से दरियावजी को मुसलमान लिखने की भूल सबसे पहले जोधपुर राज्य की सन् १८९१ ई० की सेन्सस रिपोर्ट तैयार करनेवालों ने की[८३] और उसी को सच मानकर लोगों ने इन्हें मुसलमान लिखना शुरू कर दिया है।

दरियावजी की वाणी में स्पष्ट ही इनके माता-पिता के नामों का उल्लेख है[८४], जो हिंदू शैली के हैं, जिससे इस संबंध में संदेह करने का स्थान ही नहीं रह जाता। इनका जन्म-नाम दरियावजी था, पर साधु होने के बाद से लोग इन्हें दरियासाजी कहने लग गए, जिसका आजकल दरिया साहब हो गया है। दरियावजी के गुरु का नाम पेमदास था[८५] जिनसे इन्होंने

८१. श्रीरामस्नेह-धर्मप्रकाश, पृ० ३९१।

८२. परशुराम चतुर्वेदी; उत्तरी भारत की संत-परंपरा, पृ० ५७८।

८३. पृ० २८९।

८४. पिता मानजी जान गीगाँ महतारी ॥
त्रिविध मेटण ताप आप लियो अवतारी ॥
—दरियावजी की वाणी, पद्य १७

८५. रिपोर्ट मर्दुमशुमारी राज्य मारवाड़, सन् १८९१, पृ० २८८।

सं० १७६९ में दीक्षा ली थी।[८६] गुरु-मंत्र ग्रहण करने के कुछ वर्ष पश्चात् दरियावजी जैतारण से रैण नामक गाँव में चले गये और वहाँ पर इन्होंने अपनी गद्दी स्थापित की, जो अभी तक विद्यमान है। जोधपुर के सिवा राजस्थान की दूसरी रियासतों में भी दरियावजी के रामसनेहियों की संख्या काफी है। इनका स्वर्गवास सं० १८०५ में हुआ था।[८७]

दरियावजी को हिंदी, संस्कृत, फारसी आदि भाषाओं का अच्छा ज्ञान था और काव्य-रचना में भी ये निपुण थे। कहते हैं कि इन्होंने 'वाणी' नामक एक बहुत बड़ा ग्रंथ लिखा था, जिसमें १०००० के लगभग पद, दोहा आदि थे। पर आजकल तो इनकी बहुत कम कविताएँ मिलती हैं। रामसनेहियों में यही एक ऐसे कवि हुए हैं, जिनकी भाषा सुव्यवस्थित और रचना साहित्यिक कही जा सकती है।

निरंजनी-पंथ

यह पंथ संत हरिदास से चला है। इसके अनुयायी निरंजन निराकार परब्रह्म की आराधना करते हैं, जिसको वे आकाश की भाँति सब कहीं व्याप्त मानते हैं। इस पंथ के माननेवालों में घरबारी और निहंग, दोनों पाये जाते हैं। घरबारी गृहस्थियों के से कपड़े पहिनते और रामानंदी तिलक लगाते हैं। निहंग खाकी रंग की गुदड़ी गले में डाले रहते हैं और भिक्षा माँगकर खाते हैं। कोई-कोई निरंजनी साधु गले में सेली भी बाँधते हैं। प्रारंभ में ये लोग मूर्ति-पूजा नहीं करते थे, पर अब करने लग गये हैं। जोधपुर राज्य में डीडवाणे के पास गाढ़ा नामक एक छोटा-सा गाँव है। वहाँ प्रतिवर्ष फाल्गुन सुदी १ से १२ तक मेला लगता है। इस अवसर पर इस पंथ के अनुयायियों की भारी भीड़ लगती है, जिनको हरिदास की गुदड़ी के दर्शन कराये जाते हैं। गाढ़ा निरंजनियों का मुख्य केन्द्र है। वहाँ इनके महंत और साधु रहते हैं।

हरिदास के ५२ शिष्य थे, जिनसे हरिदासोत, पूर्णदासोत, अमरदासोत, नारायणदासोत आदि कई थाँभे स्थापित हुए। उनमें से कुछ थाँभे अभी तक वर्तमान हैं।

---

८६. श्रीरामस्नेह-धर्मप्रकाश, पृ० ३११।

८७. वही; पृ० ३११।

(२४८) हरिदास—ये जोधपुर राज्यान्तर्गत कापडोद गाँव में पैदा हुए थे।[८८] इनके अनुयायी इनको साँखला शाखा के क्षत्रिय बतलाते हैं। परन्तु कुछ अन्य लोगों का कहना है कि ये बीदा राठौड़ थे। कोई-कोई इनकी जाति जाट मानते हैं। ये ४५ वर्ष तक गृहस्थाश्रम में रहे। कहते हैं कि एक बार दुर्भिक्ष पड़ जाने के कारण ये जंगल में साथियों के साथ जाकर एक यात्री को लूटने लगे। उस समय भगवान् ने गुरु गोरख-स्वरूप में प्रकट होकर इन्हें डकैती करने से रोका और मंत्रोपदेश दिया। तब से इनके जीवन में परिवर्तन आ गया और ये घरबार छोड़कर ईश्वर की अराधना में लीन रहने लगे। इनका गोलोकवास सं० १७०० में हुआ था।

हरिदास एक व्यक्तित्वसंपन्न महात्मा और जन्मसिद्ध कवि थे। इनके रचे निम्नलिखित नौ ग्रन्थों का पता है—

(१) भक्तविरदावली, (२) भरथरी-संवाद, (३) साखी, (४) पद, (५) नाममाला, (६) नामनिरूपण, (७) ब्याहलो, (८) जोगग्रन्थ और (९) टोडरमल जोगग्रंथ।[८९]

संत हरिदास की कविता का राजस्थान में बड़ा मान है। इनकी भाषा बहुत सीधी-सादी और कविता ज्ञानवर्द्धक तथा मार्मिक है। इन्होंने प्रेम पर बड़ी सरस कविताएँ लिखी हैं। अध्यात्मवाद की दृष्टि से इनकी कविता गोरखनाथ की कविता से बहुत साम्य रखती है।

लालदासी-पंथ

इस पंथ के प्रवर्त्तक संत लालदास थे। इनके अनुयायियों में मेव जाति के लोग अधिक हैं, जो अलवर और उसके पास के स्थानों में पाये जाते हैं। यह कबीर-पंथ से मिलता-जुलता पंथ है। इसमें कुछ विशेषताएँ दादूपंथ की भी पाई जाती हैं। इस पंथ के माननेवाले राम-नाम के जप एवं कीर्तन को बहुत प्रधानता देते हैं और परमात्मा को 'राम' ही कहते हैं।

(२४९) लालदास—ये अलवर राज्यान्तर्गत धौलीधूप गाँव-निवासी मेव थे। इनका जन्म सं० १५९७ में हुआ था।[९०] ये लकड़हारे का काम करते थे। ये पढ़े-लिखे न थे, पर सत्संग के प्रभाव से ज्ञान, भक्ति, सदाचार संबंधी

८८. रिपोर्ट मर्दुमशुमारी राज्य मारवाड़, सन् १८९१, पृ० २८०।
८९. पुरोहित हरिनारायण; सुन्दर-ग्रन्थावली, पृ० ९२ (जीवन-चरित्र)।
९०. परशुराम चतुर्वेदी; उत्तरी भारत की संत-परंपरा, पृ० ४०४।

अनेक बातें सीख गये थे, जिनका जनसाधारण में प्रचार किया करते थे। इन्होंने विवाह भी किया था। इनके एक पुत्र और एक कन्या हुई थी। ये सं० १७०९ में परलोकवासी हुए थे।[९१] इनका शव नगला नामक गाँव में समाधिस्थ किया गया था। उस स्थान को इनके अनुयायी बहुत पवित्र मानते हैं।

संत लालदास काव्य-रचना भी करते थे। इनकी 'वाणी' के कुछ अंश इधर-उधर संग्रह-ग्रन्थों में देखने में आते हैं। इन्होंने गेय पद अधिक लिखे हैं, जो इनकी सूक्ष्म बुद्धि और गहन अनुभूति के परिचायक हैं।

फुटकर संत

(२५०) संतदास—ये स्वामी रामानंद की शिष्य-परंपरा में नारायणदास के चेले थे।[९२] इनका जन्म मेवाड़ राज्य के दांतड़ा नामक गाँव में सं० १६८६ में हुआ था[९३] और दीक्षा इनकी सं० १७४२ में हुई थी।[९४] ये अच्छी गति के महात्मा और कुशल उपदेशक थे। इनका स्वर्गवास सं० १८०६ में हुआ था।[९५] उस समय इनकी आयु १२० वर्ष की थी।

इनकी 'वाणी' मिलती है। इसको नवलराम नामक इनके एक शिष्य ने सं० १८३० में अंगबद्ध किया था[९६]। इसमें दोहा, पद, रेखता आदि सब मिलाकर १४४३ छंद हैं। इनकी भाषा सीधी और भावना स्पष्ट है।

(२५१) बालकराम—ये संतदासोत साधु मीठाराम के शिष्य थे। नाभादास-कृत भक्तमाल पर इनकी लिखी एक टीका उपलब्ध है, जिसमें इन्होंने अपनी गुरु-परंपरा इस प्रकार बताई है—

---

९१. वही; पृ० ४०६।

९२. रामानंद—कृष्णदास पैहारी—अग्रदास—नारायणदास (बड़े)—प्रेमपठाजी—प्रेमभूराजी—बनखंडी रामदास—नारायणदास (छोटे)—संतदास।

९३. श्रीरामस्नेह-धर्मप्रकाश, पृ० ३९१।

९४. वही; पृ० ३९१।

९५. अठारासै षट वर्ष में, संत भये निरकार।
बुध फागुन तिथि सतमी, वार सनीसर वार।
—श्रीरामचरणजी की वाणी, पृ० ६३

९६. शाहपुरे सतसंग में, गुरु अम्बा उर धार।
नवलराम अँग बाँधिया, वाणी सोध विचार॥
—श्रीरामचरणजी की वाणी, पृ० ६३

नारायण अंग धरा ईंदराय धतिराज
ताकी पद्धति में रामानुज प्रतिकास है।
तास पद्धति मैं रामानंद ता कौ पौत्र सिष्य
श्रीपैहारी की प्रनाली में भयौ संतदास है ॥
ताही कौ बालकदास तास प्रेम जाकौ खेम
खेम कौ प्रहलाददास मिष्ट्राम तास है।
मिष्ट्राम जू कौ सिष्य सौ बालकराम रची
टीका भक्तदाम-गुण-चित्रनी विलास है।"[97]

'मिश्रबंधु-विनोद' में बालकराम का रचना-काल सं० १८३३ बताया गया है, जो[98] अशुद्ध है। वास्तव में इनका रचना-काल सं० १९३२ है, जैसा कि उपरोक्त टीका से प्रकट है—

"भक्तदामचित्रनी सो टीका अद्य सिध होत,
संमत द्वि नव वर्ष त्रिंस बिताइयै।"[99]
"संमत उगणीसौ र बतीसा। चौदस भादू दीत को वासा"[100]

उल्लिखित भक्तदाम-गुण-चित्रनी टीका ब्रजभाषा की एक बृहत् रचना है। यह अभी तक अप्रकाशित है। इसकी दो हस्तलिखित प्रतियाँ उपलब्ध हैं। एक उदयपुर के सरस्वती भंडार में है और दूसरी यहाँ के बड़े रामद्वारे में। टीका यह कहने मात्र को है। वास्तव में यह एक स्वतंत्र रचना है। नाभादास ने अपने 'भक्तमाल' में कबीरदास पर केवल एक छंद लिखा है। परंतु बालक-राम ने १०८ छंदों में उनका जीवन-वृत्तान्त दिया है और उनके विषय की कतिपय नवीन बातों पर प्रकाश डाला है। इसी प्रकार अन्य सभी संतों का इसमें बड़े विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। इसमें दोहा, छप्पय, घनाक्षरी इत्यादि अनेक छंदों का प्रयोग हुआ है, पर प्रधानता चौपाई छन्द की है। इसकी भाषा अत्यंत सरल एवं प्रवाहयुक्त और वर्णन-शैली चित्रोपम है। पढ़ते-पढ़ते वर्ण्य विषय का चित्र आँखों के सामने आ जाता है। रचना का नमूना देखिये—

---

९७. स० भं० उ० की हस्तलिखित प्रति, पत्र ४६४।

९८. पृ० ८११।

९९. स० भं उ० की हस्तलिखित प्रति, पत्र ४६६।

१००. वही; पत्र ४६७।

तब मीराँ रणछोड़ सकासा । बिदा होन कूं अरिजि प्रकासा ॥
प्रभु मैं न्यून तिया तनधारी । पै आई अब सरन तिहारी ॥६८॥
तजि पीहर सासुर गृह बासा । चहत तिहारौ चरननि बासा ॥
उही लौ भक्ति हीन है देवा । बृथा पठै द्विज मौकूं लेवा ॥६९॥
राणा संग न मौहि सुहावहि । अब कैसे तुम मौहि पठावहि ॥
तजौ किधौं प्रभू राखौ मोही । अस कहि मीराँ दृग जल रोही ॥७०॥
प्रेम मगिन ताकूं प्रभु जानी । करी लीन्ह हरि देह समानी ॥
पुनि मीराँ कूं काहु न पाई । ऐसी हरि रति प्रगट दिखाई ॥७१॥[१०१]

(२५२) संत मावजी—ये डूंगरपुर राज्यान्तर्गत साबला नामक गाँव के रहनेवाले औदीच्य ब्राह्मण थे । इनका जन्म सं० १७७१ में हुआ था ।[१०२] इनके पिता एक कर्तव्यनिष्ठ और भगवद्भक्त ब्राह्मण थे । मावजी पर भी उनका प्रभाव पड़ा और ये बारह वर्ष की आयु में घर छोड़कर सोम और मही नदी के संगम पर एक गुफा में तपस्या करने लगे । तपस्या के पश्चात् इन्होंने धर्मोपदेश देना प्रारंभ किया । ये लोकसेवा और ईश-भक्ति का उपदेश देते थे । धीरे-धीरे इनके अनुयायी बढ़ने लगे और इनका एक पंथ-सा बन गया, जिसके माननेवाले इस समय भी बागड़ प्रान्त में दस हजार के लगभग हैं । इनमें सुतार, छीपी आदि जातियों के लोग अधिक हैं । ये सभी गृहस्थ हैं । मावजी का देहान्त सं० १८०१ में हुआ था ।[१०३]

मावजी बड़े ज्ञानी और योगी थे । ये थोड़ा पढ़-लिख भी लेते थे । इनकी भी 'वाणी' है, जो चौपड़ा कहलाती है । यह अभी तक अमुद्रित है । इसमें इन्होंने ज्ञान-शिक्षा के अतिरिक्त अनेक भविष्यवाणियाँ की हैं । इसकी भाषा बागड़ी अथवा भीली भाषा से प्रभावित पिंगल है ।

(२५३) दीन दरवेश—उदयपुर से १४ मील उत्तर दिशा में मेवाड़ के महाराणाओं के इष्टदेव श्रीएकलिंगजी का मंदिर है । जिस गाँव में यह मंदिर अवस्थित है उसे कैलासपुरी कहते हैं । दीनजी इसी गाँव के रहनेवाले थे । ये जाति के लोहार थे । इनका जन्मकाल अज्ञात है । इनकी रचना से इनका निर्माण-काल सं० १८६३-८८ निश्चित होता है ।

---

१०१. वही; पत्र ३५६ ।

१०२. कल्याण, अगस्त १९३५, पृ० ८१७ ।

१०३. वही; पृ० ८१८ ।

मिश्रबंधु-विनोद में दीनजी को काठियावाड़ी लिखा है।[104] कुछ अन्य विद्वानों ने इनको पाटन अथवा पालनपुर का निवासी बतलाया है। परंतु ये सब उनकी भ्रान्त धारणाएँ हैं। वास्तव में दीनजी काठियावाड़ी नहीं थे। काठियावाड़ी थे इनके गुरु, जो गिरनार के रहनेवाले थे और जिनका नाम बालगुरु था। इस विषय में दीनजी ने एक स्थान पर स्पष्ट लिखा है—

गुरु स्थान गिरनार, हौ उदैपुर देस एकलिंगवासी।[105]

दीनजी एक योगी और चमत्कारी पुरुष थे। ये जात-पाँत, छुआ-छूत आदि के घोर विरोधी थे और हिन्दू-मुसलमानों के भेद-भाव को वृथा समझते थे। ये थे तो साधु पर अपनी रहन-सहन और वेश-भूषा से पूरे रईस मालूम पड़ते थे। बढ़िया खाते, बढ़िया पहिनते और बढ़िया घोड़े पर सवार होकर घर से बाहर निकलते थे।

मेवाड़ के महाराणा भीमसिंह (सं० १८३४-८५) दीनजी को बहुत आदर भाव से देखते थे। अतएव महाराणा भीमसिंह जब तक जीवित रहे, दीनजी ने उदयपुर में निवास किया। परंतु बाद में कोटा चले गये। वहाँ एक दिन जब ये चंबल नदी में स्नान करने गये हुए थे, पानी में डूबकर मर गये। यह घटना सं० १८९० के आसपास हुई थी।

ये बहुत लिखे-पढ़े न थे। अधिकतर इधर-उधर से सुन-सुनाकर ज्ञानोपार्जन करते थे। इन्होंने तीन हजार से कुछ ऊपर फुटकर छंद लिखे हैं। इनकी भाषा कुछ उलझी हुई और वाक्यावली अस्तव्यस्त है। परंतु इनके भाव गंभीर और हृदय की सचाई को लिये हुए हैं।

(२५५) **गुमानसिंह**—ये मेवाड़ राज्य के बाठरड़ा ठिकाने के रावत कल्याणसिंह के तीसरे पुत्र थे। इनका जन्म सं० १८९७ में हुआ था। ये सारंगदेवोत शाखा के राजपूत थे। ये बड़े योगी एवं भक्त थे और कविता करने में निपुण थे। इनका देहान्त सं० १९७१ में हुआ था।

ये मेवाड़ी और ब्रजभाषा, दोनों में रचना करते थे और अधिकतर आध्यात्मिक कविताएँ लिखते थे। इनके रचे ग्रंथों के नाम ये हैं—

(१) मोक्षभवन, (२) मनीषालक्षणचंद्रिका, (३) योगभानुप्रकाशिका, (४) गीतासार, (५) योगांग शतक, (६) सुबोधिनी, (७) रत्नसार, (८) तत्त्व-

१०४. पृ० ८९८ (चतुर्थ भाग)।

१०५. दीनजी के काव्य-संग्रह की महता, जोधसिंह-पुस्तकालय, उदयपुर, की हस्तलिखित प्रति, पत्र १७९।

बोध, (९) रामरत्नमाला, (१०) अध्यात्मबत्तीसी, (११) समयसार बावनी, (१२) अद्वैतबावनी और (१३) राजनीति।

इनमें से दो-एक ग्रंथ प्रकाशित हुए हैं, शेष अप्रकाशित हैं। इनकी रचना इस ढंग की है।

है प्रियवादित सील वहै नित बोलत सत्य सु अमृत बानी।
एक हि सत्य उचारि निस्वालस ना करि डारत मान की हानी॥
जो वह मिष्ट कहै सब ही दिन औगुन की तिहिं होय बढ़ानी।
है कहनो द्वय साथ गुमान जु मानहु दूध में मिश्री मिलानी॥

चतुर्थ अध्याय का परिशिष्ट

(२५५) मसकीनदास, नरेना। नि० का० सं० १६५०; र० वाणी; वि० दादूजी के पुत्र।

(२५६) टीकाजी, मेवाड़। नि० का० सं० १६५०; र० वाणी; वि० दादूजी के शिष्य।

(२५७) प्रयागदास, डीडवाणा। नि० का० सं० १६५०; र० वाणी; वि० दादूजी के शिष्य।

(२५८) मोहनदास, मारोठ। नि० का० सं० १६५०; ग्रं० (१) ब्रह्मलीला और (२) छन्द; वि० दादूजी के शिष्य।

(२५९) जैमलजी जोगी, सांभर। नि० का० सं० १६५०, र० वाणी; वि० दादूजी के शिष्य।

(२६०) पूरणदास। नि० का० सं० १६५०; र० वाणी; वि० दादूजी के शिष्य।

(२६१) हरिसिंह, विद्याद; नि० का० सं० १६५०; र० वाणी; वि० दादूजी के शिष्य।

(२६२) माखूजी। नि० का० सं० १६५०; र० वाणी, वि० दादूजी के शिष्य।

(२६३) जैमलजी चौहाण, चौली। नि० का० सं० १६५०; ग्रं० (१) वाणी (२) भक्त विरुदावली और (३) रामरक्षा आदि; वि० दादूजी के शिष्य।

(२६४) चूजणदास, ईडवा। नि० का० सं० १६५०; र० वाणी; वि० दादूजी के शिष्य।

(२६५) तेजानंद, जोधपुर। नि० का० सं० १६५०; ग्रं० वाणी और ब्रह्मप्रमोद-ग्रन्थावली। वि० दादूजी के शिष्य।

(२६६) लालदास, सिरोही। नि० का० सं० १६५०; र० वाणी; वि० दादूजी के शिष्य।

(२६७) मोहनदास, मेवाड़। नि० का० सं० १६५०; ग्रं० आदिबोध और साधमहिमा नाममाला; वि० दादूजी के शिष्य।

(२६८) चतरदास। नि० का० सं० १६९२; ग्रं० भागवत एकादश स्कंध का पद्यानुवाद; वि० दादूपंथी संतदास के शिष्य।

(२६९) कल्याणदास। नि० का० सं० १६९३; ग्रं० गोपीचंद-वैराग; वि० दादूपंथी रज्जबजी के शिष्य।

(२७०) चैनजी। नि० का० सं० १७००; र० वाणी; वि० दादूपंथी जनगोपाल के शिष्य।

(२७१) अनगरीब। नि० का० सं० १७००; र० वाणी; वि० दादूपंथी।

(२७२) प्रह्लाददास। नि० का सं० १७००; र० वाणी; वि० दादूपंथी बड़े सुन्दरदास के शिष्य।

(२७३) माधौदास। नि० का० सं० १७१०; ग्रं० अमरायलीका, मदालसा आख्यान और कवित्त; वि० दादूपंथी जगजीवन के शिष्य।

(२७४) दामोदरदास। नि० का० सं० १७१०; ग्रं० मार्कण्डेय पुराण भाषा; वि० दादूपंथी।

(२७५) बालकराम। नि० का० सं० १७१०; र० कवित्त; वि० दादूपंथी छोटे सुन्दरदास के शिष्य।

(२७६) वाजी। नि० का० सं० १७२०-३०; ग्रं० (१) गुणनाटक, (२) पेय-परीक्षा, (३) भक्त विरुदावली और (४) अजामेल चरित्र; वि० दादूपंथी लालदास के शिष्य।

(२७७) छीतरजी। नि० का० सं० १७३०; र० कवित्त; वि० दादूपंथी रज्जबजी के शिष्य।

(२७८) दयालदास। नि० का० सं० १७३४; ग्रं० नासकेत आख्यान; वि० दादूपंथी जगन्नाथ के शिष्य।

(२७९) जैमलदास, बीकानेर। नि० का० सं० १७६०; र० अनुभव वाणी; वि० रामानंदी वैष्णव चरणदास के शिष्य।

(२८०) नारायणदास। नि० का० सं० १८०६-५२; ग्रं० साखी, चेतावनी और प्राणपरचा; वि० रामसनेही।

(२८१) परसराम। नि० का० सं० १८२४-९६; र० वाणी; वि० रामसनेही।

(२८२) लालदास। नि० का०

सं० १८३५; ग्रं० नाममाला और चितावनी; वि० दादूपंथी।

(२८३) हरदेवदास। नि० का० सं० १८३५-१८; ग्रं० करुणानिधान प्रश्नोत्तर और आत्मकृत; वि० रामसनेही।

(२८४) जनगोपाल, शाहपुरा। नि० का० सं० १८५०; ग्रं० प्रहलाद चरित्र; वि० ये रामसनेही साधु रामचरण के शिष्य थे।

(२८५) बाटमदास। नि० का० सं० १८५० के लगभग; र० फुटकर पद; वि० ये कोई रमते-फिरते साधु थे।

(२८६) चतरदास। नि० का० सं० १८५७; ग्रं० राघवदास-कृत भक्तमाल पर टीका; वि० दादूपंथी छोटे सुन्दरदास की शिष्य-परंपरा में थे।

(२८७) हिरदेराम, सियाणा। नि० का० सं० १८६०; ग्रं० नाममाला; वि० दादूपंथी।

(२८८) सहजराम। नि० का० सं० १८७५; ग्रं० सुरतिविलास। वि० दादूपंथी।

(२८९) दूल्हैराम, शाहपुरा। मृ० सं० १८८५; र० फुटकर वाणी; वि० ये रामसनेही साधु रामजन के शिष्य थे।

(२९०) पूरणदास। नि० का० सं० १८८९; ग्रं० जन्मलीला और चितइलोक; वि० रामसनेही।

(२९१) चतरदास, शाहपुरा। मृ० सं० १८८८; र० फुटकर वाणी; वि० ये रामसनेही साधु दूल्हैराम के शिष्य थे।

(२९२) आत्मबिहारी। नि० का० सं० १८९०; ग्रं० गूढार्थ अष्टपदी; वि० दादूपंथी।

(२९३) देवदास। नि० का० सं० १८९०; ग्रं० जम्बूसरप्रसंगवर्णन; वि० दादूपंथी।

(२९४) रतनभजन। नि० का० सं० १८९०; ग्रं० छंदरत्नमाला; वि० दादूपंथी।

(२९५) ध्यानदास। नि० का० सं० १८९०; ग्रं० सत्य हरिश्चन्द्र की कथा; वि० दादूपंथी।

(२९६) चतरदास। नि० का० सं० १८९० के लगभग; र० फुटकर पद; वि० दादूपंथी।

(२९७) चंपाराम। नि० का० सं० १८९६; ग्रं० क्षीरार्णव; वि० दादूपंथी।

(२९८) मधुपदास। नि० का० सं० १८९७; ग्रं० नागरलता; वि० दादूपंथी।

(२९९) निगमदास। नि० का० सं० १८९८; र० फुटकर पद; वि० दादूपंथी।

(३००) हरिदास। नि० का० सं० १८९८; ग्रं० बाणी; वि० दादूपंथी।

(३०१) लाल कवि, जयपुर। नि० का० सं० १८९८; ग्रं० विवेकरस; विशेष वृत्त ज्ञात नहीं।

(३०२) सेवगराम। नि० का० सं० १९००; र० अनुभव वाणी; वि० रामसनेही।

(३०३) चंदनदास। जयपुर; ज० सं० १९०१; ग्रं० छंदोविद्‌मंडन; वि० दादूपंथी।

(३०४) नारायणदास। नि० सं० १९३५; ग्रं० दादूचरित्र; वि० ये दादूपंथी जनगरीब की शिष्य-परंपरा में थे।

(३०५) अर्जुनदास। नि० का० सं० १९४०; ग्रं० पूर्वजन्म और परचीसार; वि० रामसनेही।

(३०६) अमृतनाथ, बीकानेर; नि० का० सं० १९७०; र० फुटकर पद; वि० नाथपंथी।

पाँचवाँ अध्याय

आधुनिक काल (सं० १९००-२००९)

पिंगल साहित्य का आधुनिक काल सं० १९०० से प्रारंभ होता है। विषय-वस्तु की दृष्टि से इस काल के कवियों ने कोई विशेष नवीनता प्रदर्शित नहीं की। अधिकांश कवि प्रेम, भक्ति, शृंगार आदि मध्यकालीन विषयों पर ही लिखते रहे। कुछ सुधारवादी कवियों ने सामाजिक कुरीतियों तथा मदिरा, मांस, भंग, तमाखू, विदेशी वेशभूषा आदि की बुराइयों पर रचनाएँ कीं, पर वे स्थायित्व प्राप्त न कर सकीं। एक बार सुन लेने के बाद उनको दूसरी बार सुनने का उत्साह लोगों ने नहीं दिखाया। इनमें से जो रचनाएँ प्रकाशित हुईं वे पोथियों ही में रह गईं; शिक्षित अथवा-अशिक्षित वर्ग में से किसी को प्रभावित न कर सकीं।

इस काल में सबसे बड़े कवि बूँदी के कविराजा सूरजमल मिश्रण हुए, जिनको चारण लोग अपनी जाति का सर्वश्रेष्ठ कवि मानते हैं। सूरजमल एक प्रतिभासम्पन्न पुरुष थे। अपने समकालीन कवियों पर इनका उतना ही गहरा प्रभाव था, जितना रवीन्द्रनाथ के जीवन-काल में रवीन्द्रनाथ का बंगाली कवियों पर रहा। रवीन्द्रनाथ की तरह सूरजमल की प्रखर प्रतिभा ने भी राजस्थान के कवियों की मौलिकता कुंठित कर दी और उन्हें स्वतंत्र रूप से नहीं पनपने दिया। छोटे-मोटे सैकड़ों कवि सूरजमल की काव्य-धारा के प्रचंड प्रवाह में बह गये। सूरजमल की कविता इतनी भावपूर्ण, इतनी सजीव और इतनी सुन्दर होती थी कि कुछ कवियों ने तो इन्हीं के भावों को ला-लाकर अपनी रचनाओं में उतारना प्रारंभ किया और कुछ स्वतंत्र कविता करना छोड़ इनकी कविता को सुना-सुनाकर वाहवाही लूटने लगे। छोटे-छोटे कई सूरजमल उस समय पैदा हो गये थे। कवि-गोष्ठियों में, राज-दरबारों में, साहित्य-सभाओं में, जहाँ देखो वहाँ सूरजमल की कीर्ति सुनाई पड़ती थी।

सूरजमल के पश्चात् व्रजभाषा-साहित्य-रचना की गति राजस्थान में मंद पड़ गई और उत्तरोत्तर मंद होती गई। इस गति-मंदता के दो मुख्य कारण थे—खड़ी बोली की उन्नति और राजस्थानी का पुनरुत्थान।

इस समय राजस्थान का कवि-समुदाय तीन भागों में बँटा हुआ है। पहला दल उन कवियों का है, जिन्होंने स्कूल-कॉलेजों में शिक्षा प्राप्त की

है। ये अधिकतर खड़ी बोली में लिखते हैं और नवीन विषयों पर एवं नवीन छंदों में काव्य-रचना करते हैं। दूसरे दल में राजस्थानी भाषा के कवि हैं। इनके मुख्य विषय हैं, राजस्थान का प्राचीन गौरव और राजस्थान की वर्तमान राजनीतिक दुर्दशा। तीसरा दल ब्रजभाषा के कवियों का है। ये कवि दोहा, कवित्त, सवैया आदि प्राचीन छंदों का प्रयोग करते हैं और इनके विषय भी वही पुराने हैं, जैसे, राम-कृष्ण की भक्ति, ऋतु-वर्णन, होरी, फाग आदि। ये कवि संख्या में कम हैं और इनके प्रशंसक भी अब थोड़े रह गये हैं। कवि-सम्मेलनों के रंग-मंच से तो प्रायः इनका निष्कासन हो गया है। लेकिन जहाँ तक काव्य-कला का सम्बन्ध है, ये कवि उक्त दोनों दलों के कवियों की तुलना में पिछड़े हुए नहीं हैं, बल्कि उनसे बहुत आगे हैं और इनका यही गुण ब्रजभाषा-काव्य को राजस्थान में अभी तक जीवित रखे हुए है, यद्यपि समय उसके पक्ष में नहीं है।

(३०७) सूरजमल—ये मिश्रण शाखा के चारण बूँदी के निवासी थे। इनका जन्म सं० १८७२ में हुआ था।[1] इनके पिता का नाम चंडीदान और दादा का बदनजी था।[2] ये दोनों बूँदी दरबार के बहुत प्रतिष्ठावान कवि थे। बदनजी को बूँदी के महाराव राजा विष्णुसिंह ने रोसूंदा गाँव, लाखपसाव और कविराजा की पदवी प्रदान की थी।[3] सूरजमल के छः स्त्रियाँ थीं।[4] परंतु इनके कोई सन्तान नहीं हुई। इसलिये इन्होंने मुरारिदान को गोद लिया था। इनका देहान्त सं० १९२५ में हुआ था।[5]

सूरजमल षड्भाषा के पंडित तथा न्याय, योगशास्त्र, शालिहोत्र आदि अनेक विषयों के तलस्पर्शी विद्वान् थे।[6] ये डिंगल और पिंगल, दोनों में रचना करते थे। इनके बनाये पिंगल भाषा के तीन ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं—वंशभास्कर, बलवंतविलास और छंदोमयूख। कहा जाता है कि इन्होंने सतीरासो और धातुरूपावली नामक दो ग्रन्थ और भी रचे थे। परंतु ये ग्रन्थ देखने में नहीं आये।

---

१. मिश्रबंधु-विनोद, पृ० ९३४।

२. मुरारिदान; डिंगल-कोश, पृ० १९।

३. वंशभास्कर; पृ० ३९।

४. वही; पृ० ४०।

५. मुंशी देवीप्रसाद; कविरत्नमाला, पृ० १११।

६. मुरारिदान; डिंगल-कोश, पृ० १९।

सूरजमल के उपरोक्त तीनों ग्रन्थ पिंगल अथवा ब्रजभाषा में हैं। परंतु इनकी भाषा शुद्ध ब्रजभाषा नहीं है। उस पर राजस्थानी का भी कुछ प्रभाव पाया जाता है। इनकी भाषा कठिन बहुत है। सूरजमल ने कहीं-कहीं अपने निज के गढ़े हुए शब्द रख दिये हैं और कहीं-कहीं ऐसे क्लिष्ट एवं अप्रचलित शब्दों का प्रयोग किया है कि एक साधारण पढ़े-लिखे व्यक्ति के लिये इनके ग्रन्थों को समझना तो दूर रहा, उनको हाथ में लेने का साहस ही कम होता है। इनकी कठिन भाषा का नमूना देखिये—

वितंड बाटिकान दंत हस्ति दंत उप्परैं।
किरैं सुकुम्भ कोह लेप लांडु घंट निक्करैं॥
कटंत सुंडि कक्करी प्रवृत्ति पाथ पीन के।
किलास नास ईषिकारु आलु अंखि कीन के॥ २५॥
कटिल्ल कर्णिकावली भटा हृदावली भये।
अरिष्ठ के अपष्ठ वृन्द क्लोम कंद उन्नये॥
बनै अरी पलास कान अंदु नाग बल्लरी।
कलेजु पीलु कर्णिका कसेरु तोरई करी[7]॥ २६॥

ये वीर रस की कविता लिखने में सिद्धहस्त थे। इनके जैसी वीर रस की सुन्दर कविता करनेवाला कवि हिंदी में कोई दूसरा नहीं हुआ। हिंदी में भूषण वीर रस के सर्वश्रेष्ठ कवि माने जाते हैं। वास्तव में भूषण की कविता बहुत उत्तम कोटि की है और वह अपने युग की अनुभूति को प्रत्यक्ष करती है। परंतु उसमें अधिकतर काव्य के कला-पक्ष का निर्वाह हुआ है। उसका भाव-पक्ष बहुत निर्बल है। लेकिन सूरजमल की कविता में इन दोनों की सुन्दर योजना हुई है। इन्होंने वीर-वीरांगनाओं की मनोदशाओं का भाव-प्रधान वर्णन भी किया है और उनके युद्ध-पराक्रम, आतंक आदि का कलात्मक वर्णन भी। विशेषकर रणभूमि की विकरालता, युद्ध की भयंकरता और सैन्य समूह की हाय-हत्या का वर्णन इनका ऐसा मार्मिक, सजीव और स्वाभाविक हुआ है कि पढ़कर दिल दहल जाता है।

(२०८) जीवनलाल—ये बूँदी-निवासी नागर ब्राह्मण थे। इनका जन्म सं० १८७० में हुआ था।[8] इनके पिता का नाम तुलाराम था। जीवनलाल बूँदी के महाराव राजा रामसिंह के प्रीतिपात्र थे। कई वर्षों तक बूँदी के प्रधान

७. उमेदसिंह-चरित्र, पृ० ११३।

८. मिश्रबंधु-विनोद, पृ० १०२४।

मंत्री रहे और अपनी कार्य-कुशलता तथा ईमानदारी से राज्य को बहुत लाभ पहुँचाया। सं० १९१४ के गदर में इन्होंने बूँदी राज्य का बहुत चतुराई से प्रबंध किया, जिससे प्रसन्न होकर उक्त महाराव राजा ने इन्हें ताजीम, कटार, हाथी आदि प्रदान कर गौरवान्वित किया।[9] इनका देहान्त सं० १९२६ में हुआ।[10]

ये संस्कृत, हिंदी तथा फारसी के प्रौढ़ विद्वान् थे। सोलह वर्ष की अवस्था में इन्होंने बारह हजार श्लोकों का 'कृष्णलंड' नामक एक ग्रन्थ बनाया था। इसके बाद इन्होंने संस्कृत-हिंदी के सात ग्रन्थ और भी रचे थे—उदाहरण, दुर्गाचरित्र, भागवत भाषा, रामायण, गंगाशतक, अवतारमाला और संहिता-भाष्य।[11]

इनकी रचना में भक्ति तथा शृंगार की प्रधानता है। भाषा सरल एवं कविता रोचक और मधुर है।

(३०९) बख्तावरजी—ये जाति के राव थे। इनका जन्म मेवाड़ राज्य के बसी नामक गाँव में सं० १८७० के लगभग हुआ था[12]। इनके पिता का नाम सुखराम था। ये जब बालक थे तब इनके पिता की मृत्यु हो गई थी। इसलिए बसी के ठाकुर अर्जुनसिंह ने इनको पढ़ा-लिखाकर होशियार किया था। ये सं० १९०९ में पहली बार उदयपुर आये थे। उस समय वहाँ महाराणा स्वरूपसिंह राज्य करते थे। उन्होंने इनको अपने पास रख लिया और मिहारी तथा डाँगरी नामक दो गाँव, पाँव में सोना, बैठक और रहने के लिये मकान देकर इनका मान बढ़ाया।[13] महाराणा स्वरूपसिंह के बाद के तीन महाराणाओं के शासन समय में भी इनकी प्रतिष्ठा पूर्ववत् बनी रही। इनकी मृत्यु सं० १९५१ में हुई थी।[14] उदयपुर के राजकीय दग्ध-स्थान महासतियों में महाराणा अमरसिंह (प्रथम) की छतरी के सामने इनका भी स्मारक बना हुआ है।

ये ब्रजभाषा और राजस्थानी, दोनों में कविता करते थे। इनके बनाये ब्रजभाषा के ग्रंथों के नाम ये हैं—

९. वही; पृ० १०२५।

१०. मुंशी देवीप्रसाद; कविरत्नमाला, पृ० ७२।

११. मिश्रबंधु-विनोद, पृ० १०२४।

१२. केहरप्रकाश, पृ० १।

१३. वही; पृ० २।

१४. वही; पृ० ३।

(१) रसोत्पत्ति, (२) स्वरूप-यश-प्रकाश, (३) शंभु-यश-प्रकाश, (४) सज्जन-यश-प्रकाश, (५) फतह-यश-प्रकाश, (६) सज्जन-चित्र-चंद्रिका, (७) संचार्णव (८) अन्योक्ति-प्रकाश, (९) सामंत-यश-प्रकाश और (१०) राग-रागिनियों की पुस्तक ।[१५]

बख्तावरजी की कविता अत्यन्त मधुर, सानुप्रास तथा सरस है । वर्णन-सौन्दर्य्य भी उसमें यथेष्ट है । इन्होंने दीनदयाल गिरि की भाँति अन्योक्तियाँ भी कही हैं, जिनमें बड़ी मार्मिकता और स्वाभाविकता पाई जाती है ।

(३१०) गोपाल—ये जयपुर राज्य के उदयपुरा गाँव के निवासी कविया शाखा के चारण थे । इनका जन्म सं० १८७२ के आसपास हुआ था ।[१६] इनके पिता का नाम खुंमाण और दादा का नाम ज्ञानजी था ।[१७] ये सीकर के राव राजा माधोसिंह के आश्रित थे ।[१८] इनकी मृत्यु सं० १९४२ में हुई थी ।[१९]

ये पिंगल भाषा के उत्कृष्ट कवि और इतिहास के प्रौढ़ विद्वान् थे । विशेषकर जयपुर राज्य के इतिहास का इनको भारी ज्ञान था । इनके बनाये तीन ग्रन्थ मिलते हैं—कृष्णविलास, लावारासौ और शिखर-वंशोत्पत्ति । ये तीनों इतिहास-विषयक पद्यात्मक रचनाएँ हैं । इनकी भाषा में ढूँढाड़ी बोली का मेल पाया जाता है, जो स्वाभाविक है । पर इन तीनों की रचना-शैली समान रूप से सजीव और चमत्कारपूर्ण है । इनकी रचना का नमूना देखिये—

फैलि रह्यौ एक सो प्रकास भुवमंडल में
कंज कविराजन के आनँद घनेरो है ।
कहत गुपालदान वाकौ सठौर ताप
विप्रन के मंदिर बचाय, ताप तेरो है ॥
केते जग मानत न मांनत है वाहि केते
तेरो सब ही के सीस आतप घनेरो है ।

---

१५. वही; पृ० ४ ।
१६. पुरोहित हरिनारायण; शिखर-वंशोत्पत्ति, पृ० ५ ।
१७. वही; पृ० २ ।
१८. वही; पृ० ७ ।
१९. वही; पृ० ५ ।

भान को उजेरो दिन मान में पिछान्यों जात
माधौ भान तेरो निसि-बासर उजेरो है ।।[20]

(३११) प्रतापकुँवरि बाई—इनका जन्म सं० १८७३ के लगभग जोधपुर राज्य के जाखण ग्राम के एक सुप्रसिद्ध भाटी परिवार में हुआ था।[21] इनके पिता का नाम गोयंददास था।[22] सोलह वर्ष की उम्र में इनका विवाह जोधपुर के महाराजा मानसिंह के साथ हुआ। वैसे ईश्वर-भक्ति की ओर इनका झुकाव बाल्यावस्था ही से था, पर पति की मृत्यु (सं० १९००) के बाद से इनका मन सांसारिक कार्यों से बिलकुल उचट गया और अपना अधिक समय भगवद्-भजन और पूजा-पाठ में व्यतीत करने लगीं। इनकी रहन-सहन सादी और प्रकृति सरल थी। राज्य की ओर से इन्हें कई गाँव मिले हुए थे, जिनकी आय का अधिकांश ये दान-पुण्य तथा साधु-सेवा में खर्च किया करती थीं। कवियों, विद्वानों और चारण-भाटों को भी इन्होंने प्रचुर धन-दान दिया। इनका देहान्त सं० १९४९ में हुआ था।[23]

प्रतापकुँवरि बाई ने कुल मिलाकर १५ ग्रन्थों का निर्माण किया, जिनके नाम ये हैं—

(१) ज्ञानसागर, (२) ज्ञानप्रकाश, (३) प्रतापपचीसी, (४) प्रेमसागर, (५) रामचंद्रनाममहिमा, (६) रामगुणसागर, (७) रघुवरस्नेहलीला, (८) रामप्रेम सुखसागर, (९) रामसुजस पच्चीसी, (१०) रघुनाथजी के कवित्त, (११) भजन पद हरिजस, (१२) प्रतापविनय, (१३) रामचंद्रविनय, (१४) हरिजस-गायन और (१५) पत्रिका।[24]

इनकी भाषामें मँजे हुए और प्रतिदिन उपयोग में आनेवाले उर्दू-फारसी के शब्द स्वतंत्रता के साथ प्रयुक्त हुए हैं। कविता इनकी राम-भक्ति-पूर्ण और प्रसाद गुण से ओतप्रोत है।

(३१२) गणेशपुरी—ये पदमजी चारण के पुत्र थे और सं० १८८३ में जोधपुर राज्य के चारवास गाँव में पैदा हुए थे।[25] इनका जन्म-नाम गुलजी

२०. वही; पृ० ११९।
२१. मुंशी देवीप्रसाद; महिलामृदुवाणी, पृ० ३७।
२२. वही; पृ० ३८।
२३. वही; पृ० २।
२४. वही; पृ० ४६।
२५. मिश्रबंधु-विनोद, पृ० ११११।

था। प्रसिद्धि है कि 'वंशभास्कर' के रचयिता कविराजा सूरजमल का नाम सुनकर ये उनसे मिलने के लिये एक बार बूँदी गये। जिस समय ये उनके घर पहुँचे उस समय उनका एक नौकर द्वार पर बैठा हुआ था। उसने आकर सूरजमल को सूचना दी कि एक चारण दरवाजे पर खड़ा है और आपसे मिलना चाहता है। सूरजमल अपढ़ व्यक्तियों से प्रायः बहुत कम मिलते थे। उन्होंने नौकर से कहा—'आकर पूछो कि वह पढ़ा हुआ है या नहीं'। नौकर लपका हुआ बाहर आया और वही प्रश्न गुप्तजी से किया। सुनकर ये सुन्न रह गये। कुछ क्षण तक प्रस्तर-मूर्ति की तरह खड़े रहे। फिर गर्दन हिलाकर बोले—'नहीं'। इस 'नहीं' की ध्वनि अंदर कविराजा के कानों में पड़ी। वहीं से चिल्लाकर उन्होंने कहा—'सूरजमल अपढ़ चारण का मुँह देखना नहीं चाहता। तुम यहाँ से चले जाओ'। ये शब्द गुप्तजी को घाव कर गये। उन्हें लज्जा भी आई। फौरन वहाँ से लौट पड़े। यह घटना उस समय की है जब इनकी उम्र २७ वर्ष की थी। यहीं से इनके जीवन का नया अध्याय शुरू हुआ। ये साधु हो गए और अपना नाम बदलकर गणेशपुरी रख लिया। फिर काशी पहुँचे और लगभग दस वर्ष तक वहाँ रह कर हिन्दी-संस्कृत का ज्ञान प्राप्त किया।

काशी से लौटने के पश्चात् गणेशपुरी कुछ वर्षों तक राजस्थान में इधर-उधर घूमते रहे और अंत में मेवाड़ के गुणग्राही महाराणा सज्जनसिंह के आग्रह से मेवाड़ को स्थायी रूप से अपना निवास-स्थान बना लिया। गणेशपुरी एक सुयोग्य साहित्य-सेवी और काव्य-कुशल व्यक्ति थे। इनके संपर्क से महाराणा सज्जनसिंह भी अच्छी कविता करने लग गए थे। संस्कृत, ब्रजभाषा एवं डिंगल का उच्चारण गणेशपुरी का बहुत शुद्ध तथा स्पष्ट होता था और कविता पढ़ने का ढंग ऐसा प्रभावशाली होता था कि सुननेवाले झूमने लग जाते थे। साधारण कोटि की कविता भी जब इनकी जबान से निकलती तब उच्च कोटि की प्रतीत होती थी।

इनके रचे फुटकर कवित्त-सवैये और 'वीरविनोद' नामक एक ग्रंथ राजस्थान में बहुत प्रसिद्ध है। वीर-विनोद महाभारत के कर्ण-पर्व का पद्यानुवाद है। अनुवाद में मौलिकता, भावों की स्पष्टता और शब्द-योजना के सौष्ठव का अच्छा आनन्द मिलता है, पर क्लिष्ट शब्दों की बहुलता के कारण प्रसाद गुण को कहीं-कहीं बड़ा आघात पहुँचा है। इनकी फुटकर कविताएँ भी बड़ी जोरदार, चमत्कारपूर्ण एवं मार्मिक बन पड़ी हैं, पर प्रसाद की कमी इनमें भी है और शायद यही कारण है कि काव्य-कला-कलित होते हुए

भी इनका इतना प्रचार नहीं है जितना होना चाहिए। वास्तविक बात यह है कि गणेशपुरी की कविता के पीछे चेष्टा है; वह उनके हृदय की अनुभूति नहीं, मस्तिष्क की उपज है। अतः उनके भाव तक पहुँचने के लिए पाठक को भी काफी मानसिक श्रम करना पड़ता है।

(३१३) गुलाबजी—ये बूँदी के दरबारी कवि थे। इनका जन्म सं० १८८७ में अलवर राज्यान्तर्गत राजगढ़ में हुआ था।[२६] जाति के राव थे। जब ये ४१ वर्ष के थे तब अलवर से बूँदी चले गये और आजीवन वहीं रहे। बूँदी के महाराव राजा रामसिंह ने इन्हें दो गाँव प्रदान किये थे और दुशाला, हाथी ताजीम इत्यादि देकर इनकी प्रतिष्ठा बढ़ाई थी। ये बूँदी स्टेट कौंसिल तथा वाल्टर-कृत राजपूत-हितकारिणी सभा के सदस्य थे और महकमा रजिस्टरी के भी हाकिम थे। इनका देहान्त सं० १९५८ में हुआ था।

गुलाबजी सिद्धहस्त कवि और काव्य-मर्मज्ञ थे। इनके संसर्ग से कई लोग अच्छी कविता करना सीख गये थे, जिनमें बिहदसिंह और चंद्रकला बाई के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इनकी कविताएँ सामयिक पत्र-पत्रिकाओं में छपा करती थीं, जिससे राजस्थान के बाहर के लोग भी इन्हें जानते थे। कानपुर की 'रसिक-सभा' ने इन्हें 'साहित्य-भूषण' की उपाधि से विभूषित किया था।[२७]

इनका ब्रजभाषा और डिंगल दोनों भाषाओं पर समतुल्य अधिकार था। परन्तु अधिकतर ये ब्रजभाषा में लिखा करते थे। इनके रचे ग्रन्थों के नाम ये हैं—

(१) रुद्राष्टक, (२) रामाष्टक, (३) गंगाष्टक, (४) कालाष्टक, (५) पावस-पच्चीसी, (६) प्रनपचीसी, (७) रसपचीसी, (८) समस्या पचीसी, (९) गुलाबकोष, (१०) नामचंद्रिका, (११) नामसिंधु कोष, (१२) व्यंग्यार्थ चंद्रिका, (१३) बृहत् व्यंग्यार्थ चंद्रिका, (१४) भूषण चंद्रिका, (१५) 'ललित कौमुदी, (१६) नीतिसिंधु, (१७) नीति मंजरी, (१८) नीतिचन्द्र, (१९) काव्य-नियम, (२०) वनिता-भूषण, (२१) बृहत् वनिताभूषण, (२२) चिंता-तंत्र, (२३) मूर्ख-शतक, (२४) ध्यान रूप सवतिका बद्ध कृष्णचरित्र, (२५) आदित्यहृदय, (२६) कृष्णलीला, (२७) रामलीला, (२८) सुलोचना लीला, (२९) विभीषण

२६. राजस्थान के हिन्दी-साहित्यकार, पृ० २९।
२७. मुंशी देवीप्रसाद; कविरत्नमाला, पृ० ८७।

लीला, (१०) दुर्गास्तुति, (११) लक्षण कौमुदी, (१२) कृष्णचरित्र, (१३) शारदाष्टक और (१४) कृष्णचरित्र सूची।[२८]

गुलाबजी की रचना भाषा और कविता, दोनों ही दृष्टियों से प्रशंसनीय है। इनकी भाषा बहुत सरल, कोमल और विशुद्ध ब्रजभाषा है। कविता कर्णप्रिय, सुरुचिपूर्ण और प्रभावोत्पादक है।

(३१४) मुरारिदान—ये बूँदी के सुप्रसिद्ध कवि सूरजमल के दत्तक पुत्र थे।[२९] इनका जन्म सं० १८९५ में और देहान्त सं० १९६४ में हुआ था।[३०] अपने पिता सूरजमल की तरह ये भी षड्भाषा-प्रवीण और प्रतिभावान कवि थे। 'वंशभास्कर' लिखते समय जब सूरजमल ने रावराजा रामसिंह के गुण-दोषों का विवेचन करना प्रारम्भ किया तब रावराजा उनसे सहमत न हुए और विवश होकर उन्हें अपना ग्रन्थ अधूरा छोड़ना पड़ा। इसे सूरजमल की मृत्यु के बाद मुरारिदान ने पूरा किया। इनके अतिरिक्त इन्होंने दो ग्रंथ और भी बनाए थे, डिंगल-कोष और वंशसमुच्चय। ये डिंगल और पिंगल, दोनों में रचना करते थे। कविता इनकी गम्भीर और सानुप्रास होती थी।

(३१५) बिड़दसिंह—ये चौहाण राजपूत अलवर राज्य के किशनपुर गाँव के जागीरदार थे। इनका जन्म सं० १८९७ में हुआ था।[३१] कविता करना इन्होंने बूँदी के राव गुलाबजी से सीखा था। ये बहुत अच्छे कवि एवं गुणग्राही पुरुष थे। इनके यहाँ कवि-कोविदों का जमघट लगा रहता था। ग्रंथ तो इन्होंने कोई नहीं लिखा, पर फुटकर कवित्त, सवैये सैकड़ों की संख्या में रचे हैं। कविता में ये अपना नाम 'माधव' लिखा करते थे। इनकी कविता शृंगार रस प्रधान है और उसमें कला-पक्ष का निर्वाह खूब हुआ है।

(३१६) ऊमरदान—ये जोधपुर राज्य के ढाढरवाला ग्राम में सं० १९०८ में पैदा हुए थे[३२] और जाति के चारण थे। इनके पिता का नाम बख्शीराम और दादा का मेघराज था। ये तीन भाई थे—नवलदान, ऊमरदान और शोभादान। बाल्यावस्था में माता-पिता का देहान्त हो जाने से घर पर इनकी ठीक तरह से देख-रेख करनेवाला कोई नहीं रह गया

२८. वही; पृ० ८८।

२९. मिश्रबन्धु-विनोद, पृ० ११३०।

३०. मुंशी देवीप्रसाद; कविरत्नमाला; पृ० ११९।

३१. वही; पृ० ८।

३२. ऊमर-काव्य, पृ० २६।

था, जिससे ये बहुत उद्दंड हो गये और मौजीराम नामक एक रामसनेही साधु के बहकाने में आकर इन्होंने रामसनेही पंथ को अंगीकार कर लिया। कोई १९ वर्ष की उम्र तक ये रामसनेहियों की मंडली में रहे[३३]। बाद में उनका साथ छोड़कर वापस गृहस्थ बन गये और रामसनेही पंथ का छिद्रोद्घाटन करने लगे।

ऊमरदान बहुत सरल प्रकृति के पुरुष थे और वेश-भूषा से पूरे किसान दिखाई पड़ते थे। ये खूब प्रसन्न रहते और सब से हँसकर मिलते-जुलते थे। यदि कोई इन्हें पूछता कि तुम्हारा मकान कहाँ है तो ये कहते—

दुकान है दुकान माँ, मकान ना मकान माँ।
उठाय लट्ट अट्ठ जाम, मैं फिराँ घमाँ-घमाँ॥

ऊमरदान अच्छे कवि थे। इसलिये जोधपुर, उदयपुर आदि राज्यों के राज-दरबारों में इनका अच्छा आदर होता था। इनका देहान्त सं० १९६० में हुआ था[३४]।

इनकी रचनाओं का संग्रह 'ऊमर-काव्य' के नाम से प्रकाशित हो चुका है। इसमें ४० से अधिक फुटकर प्रसंग हैं। बाल्यावस्था में जब मनुष्य के संस्कार बनते और दृढ़ होते हैं तब ऊमरदान रामसनेहियों के साथ रहे। इसलिए इनकी भाषा, रचना-शैली और विषय-सामग्री सभी पर रामसनेही पंथ का रंग है। रचना इनकी बुरी नहीं है, पर थोड़ी-सी फूहड़ता उसमें अवश्य है। और यही कारण है कि शिक्षित समुदाय की अपेक्षा निम्न वर्ग के लोगों में उसका प्रचार अधिक है।

(३२७) फतहकरण—ये नाथूराम चारण के पुत्र सं० १९०९ में पैदा हुए थे।[३५] इनका जन्म-स्थान जोधपुर राज्य का उजाला गाँव था, जहाँ से मेवाड़ के *महाराणा सज्जनसिंह (सं० १९३१–४१) के समय में ये उदयपुर चले आये थे।*[३६] ये बड़े विद्या-व्यसनी, सभाचतुर और काव्य-कला में निपुण थे। इन गुणों के कारण ये महाराणा सज्जनसिंह के बड़े कृपा-पात्र हो गये थे और उनके दाहिने हाथ समझे जाते थे। इनका देहान्त सं० १९७८ में हुआ था।[३७]

३३. वही, पृ० २०।
३४. वही, पृ० २६।
३५. पत्र प्रभाकर, पृ० २।
३६. वही; पृ० २।
३७. वही; पृ० २।

इन्होंने केवल एक ही ग्रन्थ लिखा, जिसका नाम 'पत्रप्रभाकर' है। इसमें मेवाड़ के इतिहास और मेवाड़ की प्राकृतिक शोभा का वर्णन है। इसकी छंद-संख्या ११०८ है। इसमें रस, अलंकार आदि काव्योचित गुणों का अच्छा सन्निवेश हुआ है। फतहकरण ने कविराजा सूरजमल की क्लिष्ट भाषा-शैली का अनुकरण किया है। अतएव कविता इनकी भी कुछ कठिन है। यथा—

कहूँ क्रकचच्छद औ थल कंज, कहूँ सुम जाति रु कुन्द करञ्ज।
मयूर सनृत्य रु कुक्कुट मत्त, तथा रत कोकिल व्है अविरत्त॥

सभृंग पिकीरुत वाद्य सु गीति, नभस्वत वंगन में बहु रीति।
मनो करतैं करसाख मिलाय, रहे इत पादप नृत्य रचाय॥

मनो घनस्याम मृगत्वच मान, सरित उतरै उपवीत्त समान।
दरीमुख मारुत ध्वंरुत दच्छ, पढ़े मनु पर्वत वेद प्रतच्छ॥

द्विरेफन की मनु तंत्रि विधाय, प्लवंगम घुंकृति ताल लगाय।
पिकीरुत सुस्वर राग प्रगीत, सुनावत ज्यां गिरिशाख सँगीत[३८]॥

(३१८) बालाबख्श—ये पालावत शाखा के चारण[३९] जयपुर राज्य के हणूंतिया गाँव के निवासी थे। इनका जन्म सं० १९१२ में हुआ था[४०]। इनके पिता का नाम निरसंचदास और पितामह का जसराज था। ये चार भाई थे—बालाबख्श, शिवबख्श, डालजी और सालजी। ये चारों कवि थे। बालाबख्श की प्रारम्भिक शिक्षा घर ही पर हुई। फिर दादूपंथी खेमदास से धर्म-ग्रंथ एवं रीति-ग्रंथ पढ़े और छन्द-अलंकार आदि काव्यांगों का ज्ञान प्राप्त किया।[४१] ये बड़े मिलनसार एवं व्यवहार-कुशल चारण थे और राजपूत सरदारों को रिझाना जानते थे। इसलिए कई ठिकानों से इनको अच्छी भूसंपत्ति प्राप्त हुई। इनका देहान्त सं० १९८८ में अपने जन्म-स्थान हणूंतिया में हुआ था।[४२]

---

३८. वही; पृ० १३।

३९. पु० हरिनारायण; स्वर्गीय बारहठ बालाबख्श पालावत, पृ० ५।

४०. वही; पृ० ६।

४१. वही; पृ० ११।

४२. वही; पृ० १८।

बारहठजी एक प्रतिभावान साहित्यकार और इतिहास के मर्मज्ञ विद्वान् थे। विशेषकर जयपुर राज्य के इतिहास का इनको अच्छा ज्ञान था। ये दानी भी थे। इन्होंने नागरीप्रचारिणी सभा, काशी, को सात हजार रुपयों का दान दिया था। जिसके ब्याज से 'बालाबक्श राजपूत-चारण पुस्तकमाला' में राजपूत-चारणों के रचेहुए इतिहास व कविता-विषयक ग्रंथों का प्रकाशन होता है।[43]

ये डिंगल और पिंगल, दोनों में कविता करते थे। इनके रचे ग्रंथों के नाम नीचे दिये जाते हैं, जिनमें दो-एक को छोड़कर शेष सभी अप्रकाशित हैं—

(१) अश्वविधान-सूचना, (२) भूपाल-सुजस-वर्णन, (३) आसीस-विगता-वली, (४) आसीस-अष्टक, (५) आसीस-पच्चीसी, (६) षट्शास्त्र-सारांश, (७) खंडेला पाना सुर्द की वंशावली, (८) शस्त्रविधान-सूचना, (९) शस्त्रप्रकाश, (१०) शास्त्रसार (११) संध्योपासना-उत्थानिका, (१२) क्षत्रिय-शिक्षा-पंचा-शिका (१३) छंद देवियों के, (१४) छंद राजाओं के, (१५) राव राजा माधवसिंहजी सीकरवालों का स्मारक काव्य, (१६) मानमहोत्सवमहिमा, (१७) मरसिया ठाकुर जोरावरसिंहजी का, (१८) शोक-शतक और (१९) कछावों की खाँपें और ठिकाने[44]।

इनके अतिरिक्त फुटकर गीत, कवित्त आदि भी हैं।

इन्होंने अपनी रचना में प्राचीन चारण काव्य-परिपाटी का अनुकरण किया है और प्रशंसात्मक कविता अधिक लिखी है। इनकी कविता में उच्च कोटि के साहित्यिक गुण पाये जाते हैं। भाषा परिपक्व, मार्जित और भावपूर्ण है।

(३१९) ईश्वरीसिंह—ये कृपाराम के पुत्र और बिरदसिंह उपनाम माधव कवि के छोटे भाई थे। अलवर राज्य का किशनपुर गाँव इनकी जन्म-भूमि थी।[45] इनका जन्म सं० १९१३ में[46] और देहान्त सं० १९७१ में हुआ

४३. वही; पृ० २।

४४. वही; पृ० १७।

४५. अलवर में पश्चिम तरफ, पंच कोस परमान।
ग्राम किसनपुर नाम मम, जन्मभूमि को थान॥
तीन ग्राम जागीर के, तेरह हय के मांहि॥
अल्वर पति की ओर तैं, लिखित पटा जिन आँहि॥
पुनि ढेडरिया खाँप में, आल्हणोत चौहान।
नाम ईश्वरीसिंह नित, कविजन दास निदान॥

४६. मिश्रबंधु-विनोद, पृ० १२४९।

था ।[47] ये कट्टर आर्यसमाजी और ब्रजभाषा के मँजे हुए कवि थे। इनके रचे सात ग्रंथों का पता है, जो अभी तक अप्रकाशित हैं। उनके नाम ये हैं—

(१) अज्ञान-नाशक-स्वप्न, (२) विनयाष्टक, (३) ज्ञानमंगल, (४) कलियुगाष्टक, (५) अहिंसापचीसी, (६) प्रार्थनापचीसी और (७) बारहमासी।

इन्होंने श्रृंगार और शान्त रस की कविताएँ अधिक लिखी हैं। रचना मार्मिक है।

(३२०) आम्बिकादत्त व्यास—ये गौड़ ब्राह्मण थे। इनका जन्म सं० १९१५ में जयपुर में हुआ था।[48] ये भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के घनिष्ठ मित्रों में से थे। इनके पिता का नाम दुर्गादत्त था, जो दत्त कवि के नाम से कविता करते थे। व्यासजी संस्कृत के प्रतिभाशाली विद्वान् और ब्रजभाषा के उत्तम कवि थे। ये हिंदी गद्य और पद्य, दोनों लिखते थे और समस्यापूर्ति में इतने अभ्यस्त थे कि देखते-देखते नया छंद बनाकर सामने रख देते थे। इनकी काव्य-प्रतिभा से मुग्ध होकर कई प्रतिष्ठित व्यक्तियों और साहित्य-सभाओं ने इनको 'भारतभूषण', 'शतावधान' इत्यादि उपाधियों से विभूषित किया था। साहित्य के नाम पर इनको द्रव्य-लाभ भी यथेष्ट हुआ, पर ये अन्त समय तक ऋणग्रस्त ही बने रहे।[49] इनकी मृत्यु सं० १९५७ में हुई थी।[50]

व्यासजी हरिश्चन्द्र-युग के उन इने-गिने साहित्य-सेवियों में से हैं, जिनको हिन्दी-क्षेत्र में भरपूर ख्याति मिली है। इन्होंने संस्कृत और हिन्दी में कुल ७८ पुस्तकें लिखीं, जिनमें से अधिकांश प्रकाशित हो चुकी हैं।[51] इनकी प्रकाशित पुस्तकों में 'बिहारी-बिहार' बहुत प्रसिद्ध है। इसमें इन्होंने बिहारी के दोहों पर कुंडलियाँ रची हैं और उनके भाव बड़ी मार्मिकता से पल्लवित किये गये हैं। उदाहरण—

सोहत ओढ़े पीत पट स्याम सलोने गात।
मनो नीलमनि सैल पर आतप पर्‌यौ प्रभात॥
आतप पर्‌यौ प्रभात ताहि सों खिल्यो कमल-मुख।
अलक भौंर लहराय जूथ मिलि करत विविध सुख॥

४७. राजस्थान के हिन्दी-साहित्यिकार, पृ० २७।

४८. पं० रामचन्द्र शुक्ल; हिंदी-साहित्य का इतिहास, पृ० ४१४।

४९. रामनरेश त्रिपाठी; कविता-कौमुदी, भाग दूसरा, पृ० ७७।

५०. पं० रामचन्द्र शुक्ल; हिंदी-साहित्य का इतिहास, पृ० ४१४।

५१. रामनरेश त्रिपाठी, कविता-कौमुदी, भाग दूसरा, पृ० ७८।

चकवा से दोउ नैन देखि इहि पुलकत मोहत ।
सुकवि विलोकहु स्याम पीत पट ओढ़े मोहत ।।[५२]

(३२१) विष्णुप्रसाद कुंवरि—यह रीवाँ के महाराजा रघुराजसिंह की पुत्री थीं। इनका विवाह जोधपुर के महाराजा तख्तसिंह के छोटे कुँवर किशोरसिंह के साथ सं० १९२१ में हुआ था ।[५३] यह बड़ी भगवद्भक्त और धर्मपरायणा महिला थीं। इनके रचे तीन ग्रन्थ मिलते हैं—अवधविलास, कृष्ण-विलास और राधारासविलास ।[५४] इनके अतिरिक्त इनकी फुटकर कविताएँ भी बहुत हैं। इनकी रचना साहित्यिक-गुण-संपन्न और अच्छी श्रेणी की हैं। भक्ति भाव उसमें खूब भरा हुआ है।

(३२२) मदनेश—ये मुगल सम्राट् अकबर के दरबारी कवि नरहरि भाट की वंश-परंपरा में दौलतराम के पुत्र थे ।[५५] ये मेवाड़ के महाराणा सज्जनसिंह के आश्रित थे। इनका लिखा 'सज्जनप्रकाश' ग्रन्थ प्राप्त है, जो अभी मुद्रित नहीं हुआ है। यह काव्य-शास्त्र का एक बहुत बड़ा और उत्तम ग्रन्थ है। इसका रचना-काल सं० १९३४ है ।[५६] इसमें नौ अध्याय हैं, जिनमें काव्यांगों का विस्तारपूर्वक विवेचन किया गया है। इसमें लक्षण दोहों में और उदाहरण कवित्त-सवैया में दिये गये हैं और स्वरचित छन्दों के अतिरिक्त कवि ने बिहारी, मतिराम, देव आदि अन्य कवियों के छंद भी उदाहरण में रखे हैं। यह बहुत श्लाघ्य और पठनीय ग्रन्थ है। उदाहरण—

तीज गनगौरि के पिछौला के उछाह करि
आइ जुरि अंगना अनूप छवि भारी हैं।
बनि बनि बानिक मो विधिनै बनाउ दीन्हौ
लीन्हीं छवि छीन छटा ससि की निनारी हैं ।।
वारि जात आनन अनोखी अवलोकि रही
वदन तिहारो भूली सुधि बुधि सारी हैं ।।

---

५२. वही; पृ० ७९।
५३. मुंशी देवीप्रसाद; महिलामृदुवाणी, पृ० ८४ ।
५४. ज्योतिप्रसाद; स्त्री-कवि-कौमुदी, पृ० १५७।
५५. स० भ० उ० की हस्तलिखित प्रति, पत्र १६-१९।
५६. वही; पत्र २४२।

ओछी कद ओछी बैस उदित उरोज उर
जाती आजु सजन सरूप पर वारी हैं ॥[५७]

(३२३) वल्लभ—ये मालवा के रहनेवाले ओसवाल महाजन थे और मेवाड़ के महाराणा सज्जनसिंह की कीर्ति को सुनकर उनके आश्रय में उदयपुर चले आये थे।[५८] इनके पिता का नाम अनूपचन्द था। इनका वास्तविक नाम बालचन्द था।[५९] इन्होंने अपने आश्रयदाता महाराणा सज्जनसिंह को भेंट करने के लिये 'सज्जन-विलास' नाम का एक नीति-विषयक ग्रन्थ बनाया, जिसकी मूल प्रति उदयपुर के सरस्वती भंडार में विद्यमान है। यह ग्रन्थ महाभारत के आधार पर रचा गया है। इसका निर्माणकाल सं० १९३५ है।[६०] इसमें चालीस अध्याय हैं। इसमें साहित्यिक सौन्दर्य प्रायः नहीं के बराबर है, पर व्यावहारिक ज्ञान कूट-कूट कर भरा है और इस दृष्टि से यह ग्रन्थ मनन करने योग्य है। इसकी भाषा इस ढंग की है—

नर केवल हू धन लोभ चहै तहँ धर्म की हानि निदान प्रमानी।
पुनि केवल धर्म के लोभस तें वयरागिन को हुव अर्थ की हानी ॥
मदमत्त अनंग के बीच सोऊ दोउ खोवत धर्म रु अर्थ अज्ञानी।
तिहिं तें इन तीन हु बीच अभाव चहौ तुम रोज प्रजा सुखदानी ॥[६१]

(३२४) मारकंडेलाल—इनका विशेष वृत्त नहीं मिलता। ये गाजीपुर के रहनेवाले कोई अच्छे प्रतिभावान कवि थे, जो मेवाड़ के महाराणा सज्जनसिंह के समय में उदयपुर में आ बसे थे[६२]। वहाँ इन्होंने महाराणा सज्जनसिंह के लिए 'सज्जन-विनोद' नाम का एक ग्रन्थ सं० १९३९ में बनाया था। इन बातों का उल्लेख इन्होंने अपने इस ग्रन्थ के प्रारम्भ में किया है—

---

५७. वही; पत्र ३१।

५८. महिमा सुनी महान, हिंद भान भुव रान की।
वल्लभ चित उमँगान, आयो श्री उदयापुरी ॥

५९. सं० भं० उ० की हस्तलिखित प्रति, पृ० २८।

६०. वही; पृ० २०९।

६१. वही; पृ० ३९।

६२. स० भं० उ० की हस्तलिखित प्रति, पत्र ३।

सज्जनसिंह नरेन्द्र हित, ग्रन्थ सु सजन-विनोद।
धर्‍यो नाम चिरजीव कवि, मानि महा मन मोद॥
संवत ग्रह गुन अंक ससि, आस्विन सुक्ल पवित्र।
विजया दशमी द्योस रवि, पूज्यौ ग्रन्थ विचित्र॥[63]

यह नायिका-भेद का ग्रंथ है। इसकी छंद-संख्या नौ सौ है। रचना काव्य-कलापूर्ण और मार्मिक है। इसमें से एक छंद यहाँ दिया जाता है।

रूप प्रिया को बन्यौ नँद नँद प्रिया वर्नो स्याम को रूप अगाधा।
वै उनको हठि अंक भरैं अरु वै उनको मुख चूमति आधा॥
त्यौं चिरजीव प्रिया रुठि जाति औ प्यारो मनाय पुजावत साधा।
कुंजन मैं सुख लूटि रहे भले गोरे गुपाल औ साँवरी राधा॥[64]

(३२५) जगदीशलाल—ये गोस्वामी कृष्णलाल के पुत्र थे। इनका जन्म सं० १९२० में बूँदी में हुआ था।[65] इनके मृत्यु-काल का निश्चित पता नहीं है, पर कहा जाता है कि ये सं० १९७० में वर्तमान थे। ये ब्रजभाषा के अधिकारी विद्वान् एवं उत्कृष्ट कवि थे और नवों रसों में बहुत उत्तम कोटि की कविता करते थे। इन्होंने कुल अठारह ग्रन्थ बनाये, जिनके नाम ये हैं—

(१) ब्रजविनोद, (२) साहित्यसार, (३) प्रस्तारप्रकाश, (४) बूँदीन्द्र नृप रामपचीसी, (५) लालबिहारी भागवत पचीसी, (६) लालबिहारी अष्टक, (७) करुणाष्टक, (८) महावीर-अष्टक, (९) षट्-उपदेश, (१०) ध्यानषट्पदी, (११) कृष्णसत, (१२) विनयसत, (१३) नीति-अष्टक, (१४) गुरु-महिमा, (१५) अश्वचालीसा, (१६) संप्रदायसार, (१७) उत्सव-प्रकाश और, (१८) पद्यपद्मावली[66]।

जगदीशलाल की भाषा साधारण बोलचाल को लिये हुए बड़ी ज़ोरदार है। इन्होंने विविध छंदों में कविता की है। इनकी कविता में अनुप्रास की छटा दर्शनीय है :

६३. वही; पत्र ३।
६४. वही; पत्र ११३।
६५. मिश्रबंधु-विनोद, पृ० १२१४।
६६. मुंशी देवीप्रसाद; कविरत्नमाला, पृ० ६०–७०।

(३२६) रामनाथ—ये बूँदी के राव गुलाबजी के पुत्र थे। इनका जन्म सं० १९२० में और देहान्त सं० १९८६ में हुआ था[६७]। ये बहुपठित विद्वान् और व्रजभाषा के उत्तम कवि थे। इन्होंने छोटे-छोटे ११ ग्रन्थ बनाये, जिनके नाम ये हैं—

(१) समस्यासार, (२) सतीचरित्र, (३) रामनीति, (४) नीतिसार, (५) शंभुशतक, (६) परमेश्वराष्टक, (७) गणेशाष्टक, (८) सूर्य्याष्टक, (९) दुर्गाष्टक, (१०) शिवाष्टक और (११) नीति-शतक[६८]।

रामनाथ ने भक्ति-विषयक कविता अधिक लिखी है। इनकी कविता सरल और मनोहर है। उसमें अनूठापन और सूक्ति का प्राधान्य है।

(३२७) चन्द्रकला—चंद्रकलाबाई पूर्वोक्त राव गुलाबजी के घर की दासी थीं।[६९] इनका जन्म सं० १९२३ में और देहावसान सं० १९६५ के लगभग हुआ था[७०]। यह विशेष पढ़ी-लिखी नहीं थीं, पर कविता के मर्म को खूब समझती थीं। इनकी स्मरण-शक्ति बहुत तीव्र थी, जिससे इन्होंने सैकड़ों कवित्त-सवैये मुखाग्र कर लिए थे। राव गुलाबजी की तो प्रायः सभी अच्छी-अच्छी कविताएँ इन्हें कंठस्थ थीं। इन्होंने गुलाबजी से कविता करना भी सीख लिया था। समस्या-पूर्ति का इन्हें विशेष शौक था और इस कला में थी भी ये बहुत निपुण। एक समस्या की पूर्ति कई तरह से, कई रसों में, कर सकती थीं और काव्य-चमत्कार सभी में एक-सा पाया जाता था। हिंदी के 'रसिकमित्र', 'काव्य-सुधाकर' इत्यादि पत्रों में इनकी कविताएँ प्रायः छपा करती थीं। इनकी रचनाओं से मुग्ध होकर सीतापुर जिले के बिसवाँ गाम के कवि-मंडल ने इन्हें 'वसुन्धरा-रत्न' की उपाधि प्रदान की थी[७१]।

इन्होंने करुणा-शतक, पदवी-प्रकाश, रामचरित्र, महोत्सव-प्रकाश इत्यादि ग्रंथ बनाए थे[७२]। परन्तु इनकी कीर्ति श्रृंगार रसात्मक फुटकर कवित्त-सवैयों के कारण विशेष है। इनकी भाषा सालंकार, सरस तथा व्यवस्थित है। वस्तुतः हिंदी की कवयित्रियों में कला की दृष्टि से इतनी अधिक श्रेष्ठता

६७. राजस्थान के हिंदी साहित्यकार, पृ० ५४३।

६८. मुंशी देवीप्रसाद; कविरत्नमाला, पृ० ९४।

६९. मुंशी देवीप्रसाद; महिलामृदुवाणी, पृ० ९।

७०. ज्योतिप्रसाद मिश्र; स्त्री-कवि-कौमुदी, पृ० १६७।

७१. वही; पृ० १६८।

७२. वही; पृ० १७०।

किसी ने प्रदर्शित नहीं की जितनी इन्होंने की है। यह करुण रस के लिखने में भी सिद्धहस्त थीं। विषाद की एक हृदय-वेधक रेखा इनके 'करुणाशतक' में चित्रित देख पड़ती है।

(३२८) मुरारिदान—ये आशिया शाखा के चारण जोधपुर-नरेश महाराजा जसवंतसिंह (द्वितीय) के आश्रित थे। इनका रचना-काल सं० १९५० है।[७३] इनके पिता का नाम भारतदान था[७४]। डिंगल भाषा के सुप्रसिद्ध कवि बाँकीदास इनके पितामह थे। इन्होंने 'जसवंत-जसो-भूषण' बनाया, जो हिंदी के अलंकार-ग्रंथों में सबसे बड़ा है। इस पर इन्हें 'कविराजा' की पदवी के साथ लाखपसाव मिला था।[७५]

'जसवंत-जसो-भूषण' ८५२ पृष्ठों का एक भारी ग्रंथ है। इसका लघु रूप जसवंत-भूषण है, जो ३५१ पृष्ठों में समाप्त हुआ है। ये दोनों ग्रंथ मारवाड़ स्टेट प्रेस, जोधपुर की ओर से प्रकाशित हुए हैं। 'जसवंत-जसो-भूषण' में मुरारिदान ने अलंकारों के नामों को ही उनका लक्षण माना है और उदाहरण में अपने आश्रयदाता महाराजा जसवंतसिंह का यशोगान किया है। इसमें संदेह नहीं कि इसके लिखने में इन्होंने हिंदी-संस्कृत के बहुत से प्राचीन ग्रंथों से सहायता ली है। परंतु नाम में ही लक्षण की कल्पना करने से अनेक स्थानों पर खींचातानी का आश्रय लेना पड़ा है और ऐसे उद्योग में सर्वत्र सफलता भी नहीं हुई है। इन्होंने अतुल्ययोगिता, अनवसर तथा अपूर्वरूप ये तीन नये अलंकार बनाये हैं और प्रमाण को अलंकार ही नहीं माना है।

ग्रंथ की रचना-शैली और विषय-विवेचना कलापूर्ण एवं हृदयग्राही है और इससे मुरारिदान के साहित्य-विषयक ज्ञान का अच्छा परिचय मिलता है।

---

७३. मिश्रबंधु-विनोद; पृ० २०४ (चतुर्थ भाग)।

७४. बाँकीदास-ग्रंथावली; भाग पहला, पृ० ९ (भूमिका)।

७५. इक गज द्वै हयराज, कनक भूषन सौं भूषित।
मुक्तमाल सिरपेच, रत्न-जटित जु कर अति हित॥
कुंडल कंकन बसन, खड्ग जमदढ़ जुत भूषन।
पच सहस्र मुद्रिका, अपर परिजन हित दिय गज॥
प्रतिवर्ष सहस्र षट्र उपज के, लक्षपूर्ति को ग्राम दिय।
निज ग्रन्थ रीझ जसवंत नृप, यह विध जग थिर नाम किय॥

(३२९) ख्यारसीराम—ये बूँदी-निवासी हीरालाल मिश्र के पुत्र थे। इनका रचना-काल सं० १९४६-७० है। ये बूँदी के महाराव राजा रघुवीरसिंह के बड़े कृपापात्र थे और प्रायः उन्हीं के पास रहा करते थे। ये आशुकवि थे। इनके रचे ग्रंथों के नाम ये हैं—

(१) वंशप्रदीप

(२) ललितलहरी

(३) सर्वसमुच्चय

(४) रघुबरसुयश-प्रकाश[७६]

(३३०) किशनजी—ये सिंढायच कुलोत्पन्न जाति के चारण थे।[७७] इनका रचना-काल सं० १९६५ है। ये डूँगरपुर के महारावल उदयसिंह के आश्रित थे। महारावल के आग्रह से इन्होंने उदयप्रकाश नामक एक ग्रंथ बनाया, जिसमें उनका जीवन-चरित्र वर्णित है।[७८] यह ग्रंथ प्रकाशित भी हो चुका है। इसमें ४५५ छंद हैं। ग्रंथ इतिहास का है और इतिहास की दृष्टि से लिखा गया है, पर इसमें स्थान-स्थान पर साहित्यिक छटा भी अच्छी दरसाई गई है।

(३३१) जगन्नाथ—ये सं० १९२८ में पैदा हुए थे।[७९] बूँदी के प्रसिद्ध कवि ख्यारसीराम इनके पिता थे। अपने पिता के समान ये भी ब्रजभाषा के मँजे हुए और काव्य-मर्मज्ञ थे। इन्होंने रामायण-सार, माथुर-कुलकल्पद्रुम, शिक्षादर्पण, जमुना-पच्चीसी और अलंकारमाला ये पाँच ग्रंथ लिखे थे। इनके अतिरिक्त इनकी फुटकर रचनाएँ भी हैं। इनकी भाषा प्रवाहयुक्त और कविता मधुर है।

(३३२) जयदेव—ये रावजाति के कवि इन्द्रमल के बेटे थे। इनका जन्म सं० १९२८ में हुआ था। ये अलवर के दरबारी कवि थे। ये ब्रजभाषा के बड़े पृष्ठपोषक और खड़ी बोली के विरोधी थे। कहा

७६. मुंशी देवीप्रसाद; कविरत्नमाला, पृ० ५३–५४।

७७. उदय-प्रकाश, पृ० १४२।

७८. कियो तीन बेरा हुकुम, उदयसिंह नृप एह।
कविता छंद प्रबंध क्रम, किसना ग्रन्थ करेह॥
सुधा रूप यह बचन सुन, हित धरि हृदय हुलास।
कर्यो ग्रन्थ भाषा किसन, प्रगट सु उदय-प्रकास॥

७९. मुंशी देवीप्रसाद; कविरत्नमाला, पृ० ५६।

करते थे कि खड़ी बोली के कवि ब्रजभाषा के बाधक हैं। इनके बनाये अनेक फुटकर पद्य और छोटे-बड़े पाँच-सात ग्रंथ मिलते हैं, जिनमें 'राधाशतक' सबसे अच्छा है।[८०] इसमें १०० कवित्त हैं। श्रीराधिका के वर्णन में यह ग्रंथ अनूठा है। जयदेवजी का देहान्त कुछ ही वर्ष पूर्व हुआ है।

(३३३) चतुरसिंह—ये मेवाड़ के राजवंश से संबंधित कवि सीसोदिया शाखा के क्षत्रिय थे और 'महाराज' कहलाते थे। इनका जन्म सं० १९३६ में हुआ था।[८१] इनके पिता का नाम सूरतसिंह और दादा का अनूपसिंह था।[८२] ये चार भाई थे—हिम्मतसिंह, लक्ष्मणसिंह, तेजसिंह और चतुरसिंह[८३]। इनमें ये सबसे छोटे थे।

महाराजा चतुरसिंह के पिता बड़े धर्मात्मा एवं ईश्वर-भक्त पुरुष थे और अहर्निश पूजा-पाठ तथा भजन-स्मरण में लगे रहते थे। इसलिए चतुरसिंह के हृदय मे भक्ति, ज्ञान तथा वैराग्य के अंकुर जन्म ही से विद्यमान थे। अठारह वर्ष की आयु में इनका विवाह हुआ, जिससे इनके दो कन्याएँ हुईं। परन्तु १० वर्ष बाद इनकी धर्मपत्नी का देहावसान हो गया। इससे सांसारिक विषय-वासनाओं से इनका मन उचट गया और दूसरा विवाह करने का विचार छोड़ ये अपना अधिक समय योगाभ्यास, ईश-भजन, शास्त्राध्ययन आदि में व्यतीत करने लगे। घर में रहने से स्वाध्याय में बाधा पड़ती थी, इसलिये इन्होंने घर को भी छोड़ दिया और उदयपुर शहर के बाहर सूकेर नामक गाँव के पास एक टेकरी पर झोंपड़ी बनाकर रहने लगे।

इस झोपड़ी में महाराज साहब कई वर्षों तक रहे। प्रकृति के दीर्घ-कालीन मनन ने इनके व्यक्तित्व को भी प्रकृतिमय बना रखा था। ये बड़े सरलहृदय, साधु-प्रकृति और उदार थे। ऊँच-नीच का विचार छोड़ सभी श्रेणियों के लोगों से बड़ी विनम्रता और प्रेम-भाव से मिलते और संभाषण करते थे। सरलता तो इनके जीवन का मूल मंत्र था। इनके अंग-प्रत्यंग से, व्यवहार से, वार्तालाप से, जहाँ देखो वहाँ से सादगी प्रस्फुटित होती थी। वस्त्र इतने

---

८०. राजस्थान के हिंदी साहित्यकार, पृ० ३४।

८१. श्री गीताजी; पृ० १।

८२. ओझा; उदयपुर राज्य का इतिहास; पृ० ९३१।

८३. श्री गीताजी; पृ० ५।

सादे पहिनते थे कि दूर से पूरे किसान मालूम पड़ते थे। बातचीत करते समय ये इतनी सरल और स्निग्ध भाषा का प्रयोग करते थे कि देखते ही बनता था। कठिन से कठिन विषय को सरलता से समझा देना इनके बायें हाथ का खेल था। कैसा भी कठिन विषय क्यों न होता, महाराज साहब की प्रतिभा के खराद पर चढ़कर नवीन रूप धारण कर लेता था और उसकी दुरूहता हवा हो जाती थी।

सं० १९८६ के जेठ महीने के कृष्ण पक्ष में इनको सॉजिश की व्याधि हुई और कोई दस-बारह दिन की बिमारी के बाद आषाढ़ बदि ९ को प्रातः नौ बजे इन्होंने अपनी सांसारिक लीला संवरण कर ली।[८४]

चतुरसिंह संस्कृत, हिंदी, राजस्थानी आदि अनेक भाषाओं के सुज्ञाता और मर्मज्ञ कवि थे। मीरॉबाई के बाद मेवाड़ में यही एक ऐसे कवि हुए हैं, जिनकी रचनाओं का घर-घर में प्रचार है। इन्होंने मेवाड़ी भाषा में अधिक लिखा है। इसलिए कोई-कोई इनको मेवाड़ी का महाकवि मानते हैं।

महाराज साहब ने ब्रजभाषा में ग्रन्थ कोई नहीं लिखा, केवल फुटकर रचना की है, जो प्रचुर मात्रा में है। इनकी भाषा बहुत सरल, मधुर और भावोपयोगी है। इन्होंने जो कुछ लिखा है वह अपने व्यक्तिगत अनुभव के आधार पर लिखा है, इसलिए इनके काव्य में सचाई और स्वाभाविकता है। एक बहुत बड़ी विशेषता जो इनकी कविता में दृष्टिगोचर होती है वह यह है कि अत्यन्त भावमयी एवं मौलिकतापूर्ण होने के साथ-साथ वह सदुपदेशों से ओतप्रोत है और मनुष्य को उच्च आदर्शों की ओर ले जाती है। उदाहरण—

उन उरझीली अलक पै, जो मन उरझै नांहि।
तो उरझैगो ताहि की, माया ही के मॉहि॥
जो मानुस मोकों बिरंचि, बिमुख आप सौं कीन।
तो मानुसता को कहो, कौन पदारथ दीन॥
पसु तें यही बिसेसता, नर में मोहि लखाय।
पसु अनजाने भ्रमत जग, नर जानत ही जाय॥

८४. वही; पृ० ५।

घरी घरी निरखै घरी, बढ़ी काम की चाह।
वहै घरी तो कौ खरी, सुधि आवै की नाह॥
लै धरनी मे अलभ तनु, है हरिनी दृग-लीन।
बैतरनी के तरन की, तैं करनी नहि कीन॥
राम रावरे नाम मे, यहै अनोखी बात।
दो सूधे आखर तऊ, आखर याद न आत॥

(३३४) राजेन्द्रसिंह—ये झालावाड़-नरेश भवानीसिंह के पुत्र थे। इनका जन्म सं० १९५७ में हुआ था।[८५] इनकी प्रारंभिक शिक्षा राज-महलों में हुई। बाद में ये मेयो कॉलेज, अजमेर, में भरती हुए और कुछ वर्ष वहाँ रहकर फिर इंगलैंड चले गये। वहाँ इन्होंने आक्सफोर्ड में उच्च शिक्षा प्राप्त की। अपने पिता की मृत्यु के बाद ये सं० १९८६ में झालावाड़ की गद्दी पर बैठे और १४ वर्ष तक राज करने के पश्चात् सं० २००० मे स्वर्गवासी हुए।[८६]

राजेन्द्रसिंह बड़े प्रजा-हितैषी, सुधारप्रिय और व्यवहार-कुशल राजा थे। ये साहित्य-सेवी भी पूरे थे। ये ब्रजभाषा और उर्दू, दोनों में कविता करते थे। ये ब्रजभाषा की कविता मे अपना उपनाम 'सुधाकर' और उर्दू कविता में 'मखमूर' रखते थे। ये कवित्त-सवैया अधिक लिखते थे और समस्या-पूर्ति में प्रवीण थे। इनकी कविताओं का बृहत् संग्रह 'सुधाकर-काव्य-कला' के नाम से प्रसिद्ध है। इसके अतिरिक्त इनकी लिखी हुई 'मधुशाला' और 'मधुबाला' नाम की दो रचनाएँ और भी हैं, जो अभी अप्रकाशित है।

ये सुधारवादी कवि थे। इनकी कविता में देश-भक्ति और देश-कल्याण की गूँज रही है।

(३३५) केसरीसिंह—ये सौदा बारहठ कुलोत्पन्न जाति के चारण हैं। इनका जन्म सं० १९२७ में मेवाड़ राज्य के सोन्याण गाँव मे हुआ था। इनके पिता का नाम खेमराज था। इनके पूर्वज गुजरात के रहनेवाले थे, जहाँ से कोई ६०० वर्ष पूर्व वे मेवाड़ में आ बसे थे। बारहठजी की मृत्यु अभी सं० २०१४ (३० अक्तूबर, १९५७) में हुई।

---

८५. सुकवि, नवंबर १९३४, पृ० १७।
८६. राजस्थान के हिंदी-साहित्यकार; पृ० ५०८।

केसरीसिंह जी डिंगल-पिंगल के सुज्ञाता, इतिहास-प्रेमी एवं आशुकवि थे। समस्या-पूर्ति में ये इतने चतुर थे कि पल भर में कठिन से कठिन समस्या की पूर्ति कर सुना देते थे। ये बहुत सीधी-सादी भाषा लिखते थे और कविता में रूप की अपेक्षा रस को अधिक महत्त्व देते थे। इनके रचे ग्रंथों के नाम ये हैं—

(१) प्रताप-चरित्र, (२) राजसिंह-चरित्र, (३) दुर्गादास-चरित्र, (४) जसवंतसिंह-चरित्र, (५) अमरसिंह राठौड़ और (६) रूठी राणी।

बारहठजी प्राचीन चारण काव्य-परंपरा के अनुवर्ती थे। अतएव इनकी कविता में वीर रस का प्राधान्य है। भाव की सचाई, कल्पना की सुघड़ता और पुरुषोचित शक्ति उसकी इतर विशेषताएँ हैं।

(३३६) सुजानसिंह—ये भूतपूर्व मेवाड़ राज्यके भगवानपुरा ठिकाने के जागीरदार थे। इनका जन्म सं० १९३५ में और देहान्त सं० २०१३ (१८ दिसंबर, १९५६) में हुआ था। ये बड़े इतिहास-प्रेमी, साहित्यानुरागी एवं काव्य-कला के मर्मज्ञ विद्वान् थे। राजस्थान के साहित्य, राजस्थान के इतिहास और राजस्थान की संस्कृति के प्रति इनकी बड़ी निष्ठा थी। राजस्थानी वीर-वीरांगनाओं की हजारों वीरगाथाएँ इनको जबानी याद थीं, जिनको ऐसे आकर्षक ढंग से ये लोगों को सुनाते थे कि उन्हें रोमांच हो आता था। ये काव्य-रचना में भी निपुण थे। इन्होंने 'गजेन्द्र-मोक्ष' नामक एक बहुत उत्तम कोटि का ग्रन्थ बनाया, जो अभी तक अप्रकाशित है। यह विशुद्ध ब्रजभाषा में है। इस ग्रंथ के अतिरिक्त इन्होंने फुटकर कविताएँ भी प्रचुर परिमाण में लिखी हैं।

(३३७) उमाशंकर—ये उदयपुर के रहनेवाले पालीवाल ब्राह्मण थे। इनका जन्म सं० १९४९ में हुआ था। इनके पिता का नाम नानजीराम था जो ज्योतिष के अच्छे जानकार थे। पं० उमाशंकर हिन्दी के बड़े पक्षपाती एवं साहित्य-रसिक सज्जन थे। ये सुकवि भी थे और अधिकतर कवित्त-सवैया लिखते थे। इनकी अधिकांश रचनाएँ अप्रकाशित हैं, केवल थोड़ी-सी हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुई हैं। इनमें भाव-सौन्दर्य की अपेक्षा उक्ति-वैचित्र्य अधिक पाया जाता है।

पंडित उमाशंकर का देहावसान सं० २०१२ (७ सितम्बर, १९५५) में हुआ।

(३३८) अमृतलाल—ये जाति के कायस्थ थे। इनका जन्म सं० १९५१ में भूतपूर्व जोधपुर राज्य के कुचेरा नामक गाँव में हुआ था। इनके पिता का नाम गोपाललाल था। अमृतलालजी की मृत्यु सं० २०१० में हुई।

ये व्रजभाषा के बहुत उत्तम श्रेणी के कवि थे। इन्होंने रामरसामृत, यमक रामायण और गंगालहरी ये तीन ग्रन्थ बनाये। इनमें श्रीरामरसामृत बहुत प्रसिद्ध है। यह प्रकाशित भी हो चुका है। इसी का दूसरा नाम अमृत-सतसई है। इसमें मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान् श्री रामचन्द्र का जीवन-चरित्र वर्णित है। यह सात काण्डों में विभक्त है। पूरा ग्रन्थ दोहा छन्द में लिखा गया है और कुल मिला१२ ७६६ दोहों मे ग्रन्थ पूरा हुआ है। इसकी भाषा सालंकार एवं विषय के अनुकूल सरल तथा श्रुतिमधुर है। कवि ने प्रत्येक काण्ड में अपने विषय का सफलतापूर्वक सजीव वर्णन किया है। काव्य-चमत्कार से भी अधिक महत्त्वपूर्ण उसमें की वह अटल श्रद्धा है जिससे उसकी प्रत्येक पंक्ति ओतप्रोत है।

(३३९) मोहनसिंह—ये जाति के राव हैं। इनका जन्म मेवाड़ राज्य के बसी नामक गाँव में सं० १९५६ में हुआ। ये बड़े अध्ययनशील व्यक्ति और हिन्दी भाषा के मँजे हुए कवि हैं। ये डिंगल और पिंगल, दोनों में चमत्कारपूर्ण कविता लिखते हैं। इनके रचे ग्रन्थों के नाम ये हैं—

(१) प्रतापयशचन्द्रोदय, (२) भूपालभूषण, (३) कुम्भाकीर्तिप्रकाश, (४) कूर्मयशकलानिधि, (५) व्यंग्यार्थ प्रकाश, (६) कुण्डलिया-शतक, (७) नीति-शतक, (८) मोहन-सतसई, (९) मृगया-बावनी, (१०) महाराणा चरितामृत, (११) रागबहार, (१२) रघुवंशचरित्र, (१३) मानपचीसी, (१४) वणिक-बहत्तरी, (१५) प्रपंच-पचीसी, (१६) जैमल-पचीसी, और (१७) रामदास-पचीसी।

सुकवि होने के साथ-साथ मोहनसिंह काव्यानुवाद करने में भी परम प्रवीण हैं। इन्होंने सूर, रसखान आदि व्रजभाषा के कवियों की कुछ कविताओं का डिंगल भाषा में बहुत सुन्दर अनुवाद किया है। बिहारी-सतसई के दो दोहों का अनुवाद देखिये—

पतड़ाँ मिळवे मत्तड़ी, उण झूँपड़ले वाट।
पून्यूँ रातड़-दीहड़े, मुखड़ा रै मरळाट॥
सोकाँ साज्या तीज नै, सकल साज सणगार।
सब रै मुख सळवट पड़्या, धण सळवट पट धार॥[८७]

(२४०) रैवतसिंह—ये भाटी राजपूत हैं। इनका जन्म सं० १९६२ में किशनगढ़ राज्यान्तर्गत नरवर नामक गाँव में हुआ। इनके पिता का नाम जोरसिंह था। ये अच्छी कविता करते हैं। इन्होंने लक्ष्मणविलास, श्रीराम-रहस्य, श्रीगोहिल-गौरव-प्रकाश और श्रीछत्रसाल-शतक नामक ग्रन्थोंका प्रणयन किया है। ये चारों ग्रन्थ ब्रजभाषा में हैं। ये बहुत प्रौढ़ एवं परिमार्जित भाषा लिखते हैं, जो विषय-वस्तु का एकान्त अनुसरण करती है।

(२४१) रणवीरसिंह—ये पिपलाज-निवासी सामंतसिंह के पुत्र हैं और जाति के शकावत राजपूत हैं। इनका जन्म सं० १९६७ में हुआ। ये ब्रजभाषा के परम भक्त एवं सिद्धहस्त कवि हैं और तेरह वर्ष की आयु से कविता करते आ रहे हैं। इनके रचे 'नरसी-चरित' और 'हनुमच्चरित' नामक दो खण्डकाव्य प्रकाशित हुए हैं। इनके अलावा इनकी लगभग ५०० फुटकर रचनाओं का एक संग्रह भी 'काव्य-कुंज' नाम से छपा है। ये वीर, शृंगार, हास्य आदि नवों रसों में बड़ी मार्मिक कविता लिखते हैं। विशेषकर इनकी भाषा देखने योग्य है। वह देव और पद्माकर का स्मरण दिलाती है।

अभी-अभी इनका 'प्रताप' नामक एक और ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है। यह महाकाव्य है और खड़ी बोली में लिखा गया है। रचना मनोहारिणी है।

---

८७. पत्रा हीं तिथि पाइयै, वा घर कैं चहुँ पास।
नितप्रति पून्यौई रहै, आनन-ओप-उजास॥
तीज-परब सौतिनु सजे, भूषन बसन शरीर।
सबै मरगजै-मुँह करी, इही मरगजै चीर॥

पंचम अध्याय का परिशिष्ट

(३४२) कुंजीलाल, जयपुर। नि० का० सं० १९००; ग्रं० भागवत दशम स्कंध भाषा। वि० ये चैनराम के पुत्र थे।

(३४३) शंभुजी; जयपुर। नि० का० सं० १९००। ग्रं० अधलाह-सुजस सरोवर और वाग्विलास; वि० ये भट्ट व्रजपालके पुत्र थे।

(३४४) गोविन्दलाल, जयपुर। नि० का० सं० १९००; ग्रं० कलियुगरासौ, साँच-झूठ-वर्णन और माधव विनोद। वि० ये व्रजपाल के पुत्र थे।

(३४५) संगम, जयपुर। नि० का० सं० १९००; र० स्फुट; वि० ये कान्यकुब्ज ब्राह्मण चैनराम के पुत्र थे।

(३४६) सुन्दरलाल, जयपुर। नि० का० सं० १९००; ग्रं० राम-सुजस-सागर, और सत्यासत्य-निरूपण; वि० इनके फुटकर छंद भी बहुत मिलते हैं।

(३४७) चंडीदान, कोटा। नि० का० सं० १९००; र० फुटकर कवित्त; वि० ये मैंहारिया गोत्र के चारण थे।

(३४८) वासुदेव, जयपुर। नि० का० सं० १९००; ग्रं० राधाकृष्ण-चरित्र-चंद्रिका, दादूदयाल-चरित्र चंद्रिका और नखशिख; वि० ये भट्ट व्रजपाल के पुत्र थे।

(३४९) जीवनलाल, जयपुर। नि० का० सं० १९००; ग्रं० मथुरा-वर्णन; वि० ये गोपाल के पुत्र थे।

(३५०) साँवलदास, उदयपुर। नि० का० सं० १९०१; र० फुटकर भजन। वि० ये कोई साधु थे।

(३५१) चंद कवि, जयपुर। नि० का० सं० १९०४। ग्रं० महाभारत भाषा और भेदप्रकाश; वि० महाराजा रामसिंह (द्वितीय) के आश्रित।

(३५२) पुरुषोत्तम, मेवाड़। नि० का० सं० १९०५; र० स्फुट; वि० ये श्रृंगार रस के उत्कृष्ट कवि थे।

(३५३) सुन्दरलाल; जयपुर। नि० का० सं० १९०९; ग्रं० सुन्दर चंद्रिकारसिक, कुंजकौतुक और पूजा विभास; वि० इनका उपनाम रसिक था।

(३५४) श्रीधर भट्ट, जयपुर। नि० का० सं० १९०९; ग्रं० भारत सार और राजेन्द्र-चिंतामणि; वि० ये पद्माकर के वंशज थे।

(३५५) लक्ष्मीधर भट्ट, जयपुर। नि० का० सं० १९१०; ग्रं० गज-सालोत्र और हयसालोत्र। वि० पद्माकर के पौत्र थे।

(३५६) वंशीधर, जयपुर। नि० का० सं० १९१०; र० स्फुट; वि० ये पद्माकर के पौत्र थे।

(३५७) विजयचंद्र, जयपुर; नि० का० सं० १९१०; ग्रं० मान-महोदधि।

(३५८) शालिग्राम चौबे, बूँदी। नि० का० सं० १९१४; र० स्फुट।

(३५९) हीरालाल चौबे, बूँदी। नि० का० सं० १९१४; र० स्फुट।

(३६०) थिरपाल; जोधपुर। नि० का० सं० १९१४; ग्रं० गुलाब चम्पा।

(३६१) रामनाथ, अलवर। नि० का० सं० १९१६; र० स्फुट; वि० ये बारहठ ज्ञानजी के पुत्र थे।

(३६२) पारसदास जैन, जयपुर। नि० का० सं० १९२०; ग्रं० ज्ञान सूर्योदय, पारसविलास और सार चतुर्विंशतिका की वचनिका।

(३६३) पुरंदरजी, जयपुर। नि० का० सं० १९२०; ग्रं० रघुराज-विनोद; वि० ये रीवाँ से जयपुर में आये थे।

(३६४) फतहलाल, जयपुर। नि० का० सं० १९२०; ग्रं० जैन विवाह-पद्धति, दशावतार नाटक, राजवार्तिका-लंकार रत्नकुरंडश्रावकाचंपू, न्याय-दीपिका और तत्वार्थ सूत्र की वचनिका; वि० ये जैन थे।

(३६५) गोविंदराम, जयपुर। नि० का० सं० १९२०; ग्रं० गूजर-गीत-संग्रह; वि० ये जाति के गूजर थे।

(३६६) बंसीधर, जयपुर। नि० का० सं० १९२०; र० फुटकर पद; वि० ये तैलंग ब्राह्मण थे।

(३६७) शिवलाल जैन, जयपुर। नि० का० सं० १९२०; ग्रं० चर्चा-संग्रह बोधसार, दर्शनसार और अध्यात्म तरंगिनी आदि।

(३६८) रामगोपाल, अलवर। नि० का० सं० १९२१; स्फुट; ये सनाढ्य ब्राह्मण थे।

(३६९) बालकृष्ण चौबे, बूँदी। नि० का० सं० १९२५; र० स्फुट। वि० ये सतसईकार बिहारी के वंशज थे।

(३७०) चन्द्रधर, जयपुर। नि० का० सं० १९२५; र० स्फुट; वि० पद्माकर के पौत्र।

(३७१) जमनालाल, जयपुर। नि० का० सं० १९२८-६०; र० जमन-विलास; वि० ये सेठ चिमन लाल के पुत्र थे।

(३७२) चतुर्भुज मिश्र, जयपुर। नि० का० सं० १९२६; ग्रं० ब्रज-परिक्रमा सतसई और वंश-विनोद; वि० ये कुलपति मिश्र के वंशज थे।

(३७३) मुकुंदलाल, भरतपुर। नि० का० सं० १९३०; ग्रं० मुकुंद-विनोद।

(३७४) मीढ़जी, मेवाड़। नि० का० सं० १९३०; र० स्फुट; वि० ये म्हैयारिया गौत्र के चारण थे।

(३७५) इन्द्रमल, अलवर। नि० का० सं १९३०; र० स्फुट; वि० ये जाति के राव थे।

(३७६) गौर गुसाँई, जयपुर। नि० का० सं० १९३०; र० फुटकर; वि० ये महाकवि भूषण के वंशज थे।

(३७७) गुलाबसिंह, भरतपुर। नि० का० सं० १९३०; ग्रं० प्रेम-सतसई और कार्तिक माहात्म्य। वि० ये जाति के गूजर थे।

(३७८) रामचंद्र, जयपुर। नि० का० सं० १९३०; र० स्फुट; वि० ये गौड़ ब्राह्मण थे।

(३७९) श्रीकृष्ण भट्ट, जयपुर। नि० का० सं० १९३०; ग्रं० जयपुर-विनोद, सारशतक आदि; वि० ये संस्कृत और पिंगल दोनों में रचना करते थे।

(३८०) श्यामलदास, उदयपुर। नि० का० सं० १९३५; ग्रं० सज्जन यश-वर्णन। वि० ये दधवाड़िया गोत्र के चारण थे।

(३८१) सज्जनसिंह; उदयपुर। नि० का० सं० १९३५; ग्रं० रसिक-विनोद; वि० ये मेवाड़ के महाराणा थे।

(३८२) जोधसिंह महता, उदयपुर। नि० का० सं० १९३५; र० स्फुट; वि० ये इतिहास के भी मर्मज्ञ थे।

(३८३) रामप्रसाद गौड़, अलवर। नि० का० सं० १९३५; वि० ये ब्रजभाषा के उत्तम कवि थे। इनके बनाये ग्रंथों की संख्या ५० के लगभग है। इनका उप-नाम परसाद था।

(३८४) रसिकलाल, अलवर। नि० का० सं० १९३७; ग्रं० श्रीमद्भगवद्गीता का पद्यानुवाद; वि० ये जाति के कायस्थ थे।

(३८५) हरिबख्श, खेतड़ी। नि० का० सं० १९४०; र० हरिभक्त-प्रकाश; वि० ये खेतड़ी के मंत्री-पद पर थे।

(३८६) दामोदर, अलवर। नि० का० सं० १९४०; ग्रं० कृष्णकेलि; वि० ये तैलंग भट्ट अलवर दरबार के आश्रित थे।

(३८७) अमरकृष्ण चौबे, बूँदी। नि० का० सं० १९४०; र० स्फुट; वि० ये बालकृष्ण चौबे के पुत्र थे।

(३८८) खुमाणसिंह, करौली। नि० का० सं० १९४०; र० स्फुट; ये करौली-नरेश मदनपाल के आश्रित थे।

(३८९) साधुजी, जयपुर। नि० का० सं० १९४०; ग्रं० कृष्णचंद्र-भक्तिविलास।

(३९०) गंगादीन, अलवर। नि० का० सं० १९४०; र० स्फुट; वि० ये कविया शाखा के चारण रामनाथ के पुत्र थे।

(३९१) गंगजी, खेतड़ी । नि० का० सं० १९४०; र० फुटकर; वि० ये गौड़ ब्राह्मण साधुराम के पुत्र थे ।

(३९२) हरिनारायण, जयपुर । नि० का० सं० १९४४; र० फुटकर; वि० ये गंगजी के वंशज थे ।

(३९३) कृष्णराम, जयपुर । नि० का० सं० १९४४; र० स्फुट; वि० गौतम गोत्रीय ब्राह्मण कुन्दनराम के बेटे थे ।

(३९४) हनुमंतसिंह, अलवर । नि० का० सं० १९४५; ग्रं० (१) हिंडोलाष्टक और (२) पावसाष्टक; वि० ये नरूका क्षत्रिय थे ।

(३९५) रामनाथ, जयपुर । नि० का० सं० १९४७; ग्रं० आर्य-विनोद ।

(३९६) भैरवदान, बीकानेर । नि० का० सं० १९४९; ग्रं० अलंकार-कला-निधि ।

(३९७) बालकृष्ण, कांकरौली । नि० का० सं० १९५०; र० स्फुट; वि० ये कांकरौली के गोस्वामी थे ।

(३९८) रामकुमार, अलवर । नि० का० स० १९५०; र० स्फुट; वि० ये खंडेलवाल महाजन थे ।

(३९९) रामलाल, गोलावास । नि० का० स० १९५०; र० स्फुट; वि० ये चारण थे ।

(४००) मन्नालाल, जयपुर; नि० काल सं० १९५०; ग्रं० मधुमास-वर्णन; वि० ये कुंजीलालजी के पुत्र थे ।

(४०१) प्रभुदान, दौलतगढ़ । नि० का० स० १९५०; र० स्फुट; वि० ये देथा गोत्र के चारण थे ।

(४०२) गंगाप्रसाद, जयपुर । नि० का० सं० १९५२; ग्रं० भक्ति-विलास; वि० ये नंदलाल के पुत्र थे ।

(४०३) गंगाधर, जयपुर । नि० का० सं० १९५०; र० स्फुट; वि० ये गुर्जरगौड़ ब्राह्मण बलदेव के पुत्र थे ।

(४०४) छोगालाल, मारवाड़ । नि० का० सं० १९५०; र० स्फुट; वि० ये बडलू गाँव-निवासी जाति के सेवग थे ।

(४०५) अजीतसिंह, खेतड़ी । नि० का० सं० १९५०; वि० ये खेतड़ी के राजा थे ।

(४०६) जगन्नाथ चौबे, बूँदी । नि० का० सं० १९५०; ग्रं० अलंकार माला; रामायण-सार, माथुर-कुल-कल्पद्रुम, शिक्षा-दर्पण और जमुना-पचीसी ।

(४०७) रामसिंह, उदयपुर; नि० का० सं० १९५१; र० स्फुट; वि० ये चारण जाति के कवि उदयपुर दरबार के पोलपात थे ।

(४०८) रामद्विज, अलवर । नि० का० सं० १९५२; र० स्फुट; वि० ये कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे । इनका पूरा नाम रामचन्द्र था ।

(४०९) बजरंग, कोटा । नि० का० सं० १९५२; र० स्फुट; वि० ये जाति के राव थे ।

(४१०) बिहारीदान, जोधपुर। नि० का० सं० १९५२; र० स्फुट; वि० ये देथा गोत्र के चारण थे।

(४११) शंभुदान, नागौर। नि० का० सं० १९५२; र० स्फुट; वि० ये जाति के चारण थे।

(४१२) शिवप्रताप, अजमेर। नि० का० सं० १९५२; वि० ये कोटा-नरेश के अध्यापक थे।

(४१३) शिवबख्श, अलवर। नि० का सं० १९५२; र० स्फुट; वि० ये पालावत शाखा के चारण थे।

(४१४) राम्रोदान, सिरोही। नि० का० सं० १९५२; र० स्फुट; वि० ये आढ़ा गोत्र के चारण थे।

(४१५) जयलाल, किशनगढ़। नि० का० सं० १९५२; ग्रं० छप्पन भोग-चन्द्रिका, प्रतिष्ठा-प्रकाश और कवि-सार-समुच्चय; वि० ये वृन्द कवि की वंश-परम्परा में थे।

(४१६) भैरोदान, घाणेराव। नि० का० सं० १९५२; स्फुट; वि० ये चारण थे।

(४१७) भोपालदान, धानणी। नि० का० सं० १९५२; र० स्फुट; वि० ये चारण थे।

(४१८) कृष्णचन्द्र, किशनगढ़। नि० का० सं० १९५२; र० स्फुट; वि० ये जाति के कायस्थ थे।

(४१९) किशोरदान, शाहपुरा। नि० का० सं० १९५२; स्फुट; वि० ये दधवाड़िया गोत्र के चारण थे।

(४२०) चाककदान; उदयपुर। नि० का० सं० १९५२; र० स्फुट; वि० ये आशिया शाखा के चारण थे।

(४२१) चतरसिंह, कर्णवास। नि० का० सं० १९५२; र० स्फुट; ये चारण थे।

(४२२) विचारसिक, आबू। नि० का० सं० १९५२; र० स्फुट; विशेष वृत्त ज्ञात नहीं।

(४२३) हरदेव, करौली। नि० का० सं० १९५२; ग्रं० शृंगार शतक; ये चन्द्रलाल के पुत्र थे।

(४२४) हमीरदान, मारवाड़। नि० का० सं० १९५२; र० स्फुट; वि० ये लालस शाखा के चारण थे।

(४२५) सूरतदान, जोधपुर। नि० का० सं० १९५२; र० स्फुट; वि० ये दधवाड़िया गोत्र के चारण थे।

(४२६) गोपालजी, मारवाड़। नि० का० सं० १९५२; वि० ये जाति के सेवग थे।

(४२७) बलभद्रसिंह, जोधपुर (?)। नि० का० सं० १९५३; र० स्फुट; विशेष वृत्त ज्ञात नहीं।

(४२८) गिरवरसिंह, केलवा। नि० का० सं० १९५३; र० स्फुट; वि० ये जाति के राव थे।

(४२९) बालचन्द, सीकर। नि० का० सं० १९५४; र० फुटकर पद; वि० ये गौड़ ब्राह्मण थे।

(४३०) हरदान, मोगड़ा। नि० का० सं० १९५६; र० स्फुट; वि० ये सिंढायच शाखा के चारण थे।

(४३१) विजयनाथ, जयपुर। नि० का० सं० १९५७; र० स्फुट; वि० ये जाति के चारण थे।

(४३२) पीताम्बर, किशनगढ़। नि० का० सं० १९५७; र० स्फुट; वि० ये देवीदास के पुत्र थे।

(४३३) गंगादान, बदनोर। नि० का० सं १९५७; र० स्फुट; वि० ये चारण थे।

(४३४) रघुनाथसिंह, किशनगढ़। नि० का० सं० १९५७; र० स्फुट; वि० महाराजा शार्दूलसिंह के आश्रित।

(४३५) शुकदेव, खरवा। नि० का० सं० १९५७; र० स्फुट; वि० ये कोई ब्राह्मण थे।

(४३६) चंडीदान, किशनगढ़। नि० का० सं० १९५७; र० स्फुट; वि० ये चारण थे।

(४३७) लक्ष्मीनारायण, जयपुर। नि० का० सं० १९६०; र० स्फुट; वि० गंगजी के वंशज थे।

(४३८) सामन्तसिंह, पिपलाज। नि० का० सं० १९६०; र० स्फुट; वि० ये शक्तावत राजपूत थे।

(४३९) घनश्याम, नाथद्वारा। नि० का० सं० १९६०; र० फुटकर कवित्त; वि० ये ब्राह्मण थे।

(४४०) सम्पतराम, अलवर। नि० का० सं० १९६२; र० स्फुट।

(४४१) नाथूराम, जयपुर। नि० का० सं० १९६२; ग्रं० भैरव-विलास।

(४४२) श्यामलाल मिश्र, जयपुर। नि० का० सं० १९६०; र० स्फुट; वि० थे कुलपति मिश्र की वंस-परम्परा में रघुनाथ जी के बेटे थे।

(४४३) हनुमन्तसिंह, बूँदी। नि० का० सं० १९६८; र० स्फुट; वि० ये हाडा राजपूत बलवन्तसिंह के बेटे थे।

(४४४) कन्हैयालाल, बूँदी। नि० का० सं० १९६८; र० फुटकर; वि० ये गोस्वामी जगदीशलाल के पुत्र थे।

(४४५) जीवनसिंह, करौली। नि० का० सं० १९६८; र० स्फुट; वि० ये राव खुमाणसिंह के बेटे थे।

(४४६) उमादत्त, अलवर। नि० का० सं० १९६८; र० स्फुट; वि० ये कान्यकुब्ज ब्राह्मण अलवर के दरबारी कवि थे।

(४४७) विष्णुसिंह, करौली। नि० का० सं० १९७०; र० स्फुट; वि० ये राव जीवनसिंह के पुत्र थे।

(४४८) कृष्णकर, करौली। नि० का० सं० १९७०; र० स्फुट; वि० ये राव जीवनसिंह के पुत्र थे।

(४४९) कदम्बलाल, बूँदी। नि० का० सं० १९७०; र० स्फुट; वि० ये गोस्वामी कन्हैयालाल के पुत्र थे।

(४५०) लक्ष्मीनारायण, जयपुर। नि० का० सं० १९७०; र० फुटकर; वि० ये रामप्रताप सिंहानिया के पुत्र थे।

(४५१) गदाधरप्रसाद, जयपुर। नि० का० सं० १९७०; ग्रं० झुल्ल-सतसई; वि० ये कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे।

(४५२) फूलचंद भट्ट, जयपुर। नि० का० सं० १९७०; र० फुटकर; वि० ये वंशीधर भट्ट के पौत्र थे।

(४५३) मोहनलाल, अलवर। नि० का० सं० १९७०; ग्रं० माधवेन्दुप्रकाश और मानमहोत्सव।

(४५४) माधौसिंह, बूँदी। नि० का० सं० १९७०; र० स्फुट; वि० ये राव रामनाथ के पुत्र थे।

(४५५) शिवदयाल, जयपुर। नि० का० सं० १९७०; ग्रं० सरस-सागर; वि० ये घासीराम के पुत्र थे।

(४५६) घायल कवि, राजनगर। नि० का० सं० १९७८; र० फुटकर पद; वि० ये मुसलमान थे। इनका असली नाम कमालशाह था।

(४५७) रामदयाल नेवटिया, फतहपुर। मृ० सं० १९७५; ग्रं० (१) प्रेमांकुर (२) बलभद्र-विजय (३) लक्ष्मण-मंगल और पदावली।

(४५८) घनश्यामजी; किशनगढ़। नि० का० सं० १९८७; र० फुटकर; वि० ये वृन्द कवि के वंशज थे।

(४५९) कृष्णदत्त, अलवर। नि० का० सं० १९८०; र० कीचकवध, पद्य-पंचाशिका और दोहावली।

(४६०) प्यारेलाल मिश्र, जय-पुर। नि० का० सं० १९८०; र० स्फुट; वि० ये कुलपति के वंशज थे।

(४६१) श्रीमन्नारायण, अलवर। नि० का० सं० १९८०; र० प्रेमो-ल्लास और विनय-विनोद।

(४६२) शोभालाल, उदयपुर। नि० का० सं० १९८५; र० फुटकर पद; वि० ये दशोरा ब्राह्मण थे।

(४६३) शम्भुदयाल तिवारी; उदयपुर। नि० का० स० १९९०; र० फुटकर; वि० ये बड़े प्रतिभावान कवि थे।

(४६४) श्रीनारायण, जवास। नि० का० सं० १९९०; ग्रं० प्रताप-पचासा; वि० ये वीर रस के कवि थे।

ऊपर वर्तमान काल के कुछ बहुत प्रसिद्ध कवियों का विवरण दिया गया है। लेकिन इनके अतिरिक्त ब्रजभाषा के कई कवि इस काल में हो गये हैं, और इस समय भी विद्यमान हैं, जिनकी कृतियों का काव्य-प्रेमियों में आदर है। परन्तु उनकी संख्या इतनी अधिक है कि इस छोटे से ग्रंथ में उन सबका परिचय आदि देना तो दूर रहा, उनकी नामावली प्रस्तुत करना भी कठिन है। अतएव उनको जान-बूझकर छोड़ दिया गया है, जिसके लिए लेखक क्षमा-प्रार्थी है।

छठा अध्याय

उपसंहार

आज से कोई साढ़े चार सौ वर्ष पूर्व ब्रजभाषा साहित्यिक भाषा के रूप में प्रकट हुई थी और राजस्थान के कवियों में सर्वप्रथम भक्त मीराँबाई ने इसमें पद-रचना की थी। तब से लेकर आज तक इसको जो गौरव प्राप्त हुआ और इसमें जो साहित्य लिखा गया उसकी रूप-रेखा दे देने के बाद अब हम उस इतिहास के अन्तिम पृष्ठ पर आ गये हैं।

एक समय था जब ब्रजभाषा समस्त राजस्थान की साहित्यिक भाषा के पद पर आरूढ़ थी। यहाँ के छोटे-बड़े सभी राज्यों के कविगण इसमें कविता लिखते थे। परन्तु अब समय बहुत बदल गया है। लोगों के मन में अब ब्रजभाषा के प्रति उतना अनुराग नहीं रहा, जितना पहले था। ब्रजभाषा को पद-च्युत कर खड़ी बोली ने उसका स्थान ग्रहण कर लिया है। राजस्थानी भी उसकी प्रतिद्वंद्विता के लिये उठ खड़ी हुई है। अब केवल कुछ नगण्य से स्थान यहाँ ऐसे रह गये हैं जहाँ ब्रजभाषा की चर्चा और उसमें काव्य-रचना होती है और वह भी सिर्फ शौक पूरा करने के लिए। ब्रजभाषा की यह स्थिति केवल राजस्थान में ही नहीं, उसकी जन्मभूमि ब्रजप्रदेश में भी है। ऐसा लगता है कि ब्रजभाषा का थोड़ा बहुत प्रभाव जो राजस्थान तथा राजस्थान के बाहरी अन्य स्थानों में रह गया है वह भी आगामी दस-बीस वर्षों में लुप्त हो जायगा और संस्कृत भाषा की तरह यह भी स्कूल-कालेजों में अध्ययनमात्र की वस्तु रह जायगी।

ब्रजभाषा अपने आपमें एक पूर्ण भाषा है। इसका विशाल शब्द-समूह है। इसमें दूसरी भाषाओं के शब्दों को पचाने की अद्भुत शक्ति है। इसकी अभिव्यंजना-शक्ति अनुपम है। विशेषकर शृंगार रस के सूक्ष्म से सूक्ष्म भावों को व्यक्त करने की जो विलक्षण क्षमता इसमें पाई जाती है वह अन्य भारतीय भाषाओं में कम देखने में आती है। और इसका-सा माधुर्य तो इसी में है। किन्तु इन सब गुणों के होते हुए भी ब्रजभाषा आज अस्ताचल की ओर अग्रसर हो रही है। इसका दायित्व किस पर है? इसके कवियों पर। उन्होंने बिना समय की गति को जाने-पहचाने इसका अन्धाधुन्ध दुरुपयोग किया है और इसे जनसाधारण

से दूर जा पटका है। सन् १८५७ में भारतवर्ष में विद्रोह हुआ। तदनन्तर अंग्रेजी साम्राज्यवाद के विरुद्ध हमारी आजादी की लंबी लड़ाई हुई। जलियांवाला बाग में निर्दोष नर-नारियों पर गोलियाँ चलीं। किंतु ऐसी रोमांचकारी घटनाओं से भी ब्रजभाषा के कवियों के मन में कोई क्षोभ उत्पन्न न हुआ। वे श्रीकृष्ण-सुदामा, नरसी महता, होरी, बसंत और राजा-महाराजाओं आदि के गीत गाते रहे। अभी-अभी जब बंगाल में अकाल-पीड़ित लाखों मनुष्य हाय-हाय कर रहे थे और भूख से छटपटा कर प्राण दे रहे थे, तब ब्रजभाषा के कवि इस प्रकार की समस्याएँ लिख रहे थे—

"लाज की आँख जहाज तें भारी"
"राधा देत माधव को सादर बधाई है"
"कब धौं मिटेगी हाय रात यह जाड़े की"
"कृष्ण-मन बाँध्यौ वीर त्रिवली-तरंग मे"
"सादे ही नैन कटारी से लागैं"

अतएव जो कवि अपने युग-धर्म को नहीं समझ सकते, जिनकी रचना में लोक-जीवन की झाँकी नहीं मिलती और जो अपने देश-वासियों के दुख-दर्द में भागीदार नहीं बन सकते, वे अपनी भाषा को रसातल में पहुँचा दें तो इसमें आश्चर्य ही क्या है। वस्तुतः आश्चर्य की बात तो यह है कि लगभग सौ वर्षों से ऐसी चोटें खाकर भी ब्रजभाषा अभी निष्प्राण नहीं हुई है।

परंतु ये सब अतीत की बातें हैं। इनकी पुनरावृत्ति से विशेष लाभ होने की संभावना नहीं। इस समय हमारे सोचने की बात यह है कि वर्तमान स्थिति में ब्रजभाषा को बचाया जा सकता है अथवा नहीं और यदि बचाया जा सकता है तो किस प्रकार। हमारा अपना खयाल यह है कि ब्रजभाषा को जीवित रखने का समय अब हाथ से निकल गया। यह पुनः उठकर खड़ी बोली के सामने टिक नहीं सकती। यदि भरपूर प्रयत्न किया जाय, जैसा कि मथुरा आदि स्थानों में किया जा रहा है, तो वह अधिक से अधिक ब्रजप्रदेश की साहित्यिक भाषा बनी रह सकती है जहाँ कि यह बोली भी जाती है। समस्त हिंदी-क्षेत्र की साहित्यिक भाषा बना रहना तो कठिन है। और राजस्थान में तो अब इसका काव्य-भाषा के रूप में टिका रहना असंभव ही है। अतः इस दिशा में प्रयत्न करना निरर्थक है।

लेकिन एक काम राजस्थान-वासी भी कर सकते हैं। वह यह कि ब्रजभाषा के सैकड़ों-हजारों ग्रंथ जो यहाँ के विभिन्न राजभांडारों, रामद्वारों, चारण-भाटों के घरों आदि में अस्तव्यस्त और उपेक्षित दशा में पड़े हुए हैं वे उन सब को एकत्र करें, उनके प्रामाणिक संस्करण निकालें और स्कूल-कॉलेजों में उनके पठन-पाठन की व्यवस्था करें। इससे ब्रजभाषा के साथ जो उनका प्राचीन संबंध है वह बराबर बना रहेगा और हिंदी की बल-वृद्धि होगी। यदि उन्होंने यह नहीं किया तो ब्रजभाषा की वह अतुल सामग्री, जो उनके पास धरोहर के रूप में रखी हुई है, धीरे-धीरे नष्ट हो जायगी और आगे आनेवाली पीढ़ियों के सामने वे अपराधी सिद्ध होंगे।

संदर्भ-सूची

प्रकाशित ग्रंथ

हिंदी

१. अणभैवाणी (रामचरण)
२. अलंकार-रत्नाकर (दलपतिराय-वंसीधर)
३. अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय (दीनदयालु गुप्त)
४. उत्तरी भारत की संत-परंपरा (परशुराम चतुर्वेदी)
५. उदय-प्रकाश (किशनजी)
६. ऊमर-काव्य (ऊमरदान)
७. कविता-कौमुदी (रामनरेश त्रिपाठी), भाग १—२
८. कविरत्नमाला (मुंशी देवीप्रसाद)
९. केसरीसिंह-समर (हरिनाभ)
१०. कोशोत्सव स्मारक संग्रह (ना० प्र० स०)
११. गरीबदासजी की वाणी (स्वामी मंगलदास)
१२. चतुर-चिंतामणि (चतुरसिंह)
१३. चौरासी वैष्णवन की वार्ता (वें० प्रे०)
१४. छत्रप्रकाश (लाल)
१५. छत्रशाल-दशक (भूषण)
१६. जयपुर का इतिहास (हनूमान शर्मा)
१७. जसवंत-उद्योत (दलपत मिश्र)
१८. जसवंतजसोभूषण (मुरारिदान)
१९. तुलसीदास (डा० माताप्रसाद गुप्त)
२०. दशमग्रंथ (श्रीगुरुमत प्रेस, अमृतसर)
२१. दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता (वें० प्रे०)
२२. नागरसमुच्चय (नागरीदास)
२३. पंचामृत (स्वामी मंगलदास)
२४. पत्रप्रभाकर (फतहकरण)
२५. पद्माकर की काव्य-साधना (अखौरी गंगाप्रसाद)
२६. पांडवयशोन्दुचंद्रिका (स्वरूपदास)
२७. पृथ्वीराज रहस्य की नवीनता (श्यामलदास)
२८. पृथ्वीराज रासौ की प्रथम संरक्षा (मोहनलाल-विष्णुलाल पंड्या)

२९. पृथ्वीराज रासौ (ना० प्र० स०)
३०. पृथ्वीराज रासौ (पृ० सो० बं०)
३१. प्रतापचरित्र (केसरीसिंह)
३२. बखनाजी की वाणी (स्वामी मंगलदास)
३३. बिहारी की वाग्विभूति (विश्वनाथप्रसाद)
३४. बिहारी-रत्नाकर (जगन्नाथदास)
३५. ब्रजनिधि-ग्रंथावली (पु० हरिनारायण)
३६. ब्रजभाषा व्याकरण (धीरेन्द्र वर्मा)
३७. ब्रजभाषा साहित्य का नायिका-वर्णन (प्रभुदयाल मीतल)
३८. ब्रजमाधुरी-सार (वियोगी हरि)
३९. भक्तनामावली (ध्रुवदास)
४०. भक्तमाल (नाभादास)
४१. महिला-मृदुवाणी (मुंशी देवीप्रसाद)
४२. मारवाड़ का इतिहास (विश्वेश्वरनाथ रेउ)
४३. मिश्रबंधु-विनोद, भाग १—४
४४. मीराँबाई का जीवनचरित्र (मुंशी देवीप्रसाद)
४५. मीराँबाई की शब्दावली (वें० प्रे०)
४६. मीराँ-माधुरी (ब्रजरत्नदास)
४७. मीराँ-स्मृति-ग्रंथ (हिंदी बंगीय परिषद, कलकत्ता)
४८. मुहणोत नैणसी की ख्यात (ना० प्र० स०)
४९. राजपूताने का इतिहास (ओझा)
५०. राजरसनामृत (मुंशी देवीप्रसाद)
५१. राजस्थान के हिंदी-साहित्यकार (हिंदी-साहित्य-परिषद, जयपुर)
५२. राजस्थान में हिंदी के हस्तलिखित ग्रंथों की खोज, भाग १ (मोतीलाल मेनारिया)
५३. राजस्थान में हिंदी के हस्तलिखित ग्रंथों की खोज, भाग २ (अगरचंद नाहटा)
५४. राजस्थानी भाषा (सुनीतिकुमार चटर्जी)
५५. राजस्थानी भाषा और साहित्य (मोतीलाल मेनारिया)
५६. रामचंद्रिका (केशवदास)
५७. रामचरितमानस (तुलसीदास)
५८. रिपोर्ट मर्दुमशुमारी राज्य मारवाड़, सन् १८९१

५९. ललित ललाम (मतिराम)
६०. वंशभास्कर (सूरजमल)
६१. वीरविनोद (श्यामलदास)
६२. वीरविनोद (गणेशपुरी)
६३. शिखर-वंशोत्पत्ति (गोपाल)
६४. शिवसिंह-सरोज (ठा० शिवसिंह)
६५. श्रीदादूजन्मलीलापरची (सुखदयाल दादू)
६६. श्रीरामस्नेहधर्मप्रकाश (चौकसराम)
६७. श्रीनागरीदास का जीवनचरित्र (राधाकृष्णदास)
६८. श्रीरामरसामृत (अमृतलाल)
६९. श्रीवल्लभ वंश-वृक्ष (विद्याविभाग, कांकरौली)
७०. संतमाल (शिवव्रतलाल)
७१. संतवाणी-संग्रह (वें० प्रें०)
७२. सहज प्रकाश (सहजोबाई)
७३. सुन्दर-ग्रंथावली (पु० हरिनारायण)
७४. सुजानचरित्र (सूदन)
७५. स्त्री-कवि-कौमुदी (ज्योतिप्रसाद)
७६. स्वर्गीय बारहठ बालाबख्श (पु० हरिनारायण)
७७. हस्तलिखित हिंदी पुस्तकों का संक्षिप्त विवरण (श्यामसुन्दरदास)
७८. हिंदी काव्य-धारा (राहुल सांकृत्यायन)
७९. हिंदी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय (बड़थ्वाल)
८०. हिंदी काव्य-शास्त्र का इतिहास (डा० भगीरथ मिश्र)
८१. हिंदी-नवरत्न (मिश्रबन्धु)
८२. हिंदी भाषा का इतिहास (धीरेन्द्र वर्मा)
८३. हिंदी साहित्य (श्यामसुन्दरदास)
८४. हिंदी साहित्य का इतिहास (रामचन्द्र शुक्ल)
८५. हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास (डा० रामकुमार वर्मा)
८६. हिंदी साहित्य की भूमिका (डा० हजारीप्रसाद)

अँगरेजी

१. आक्सफार्ड हिस्ट्री ऑव इण्डिया (वी० ए० स्मिथ)
२. इण्डो आर्य एंड हिंदी (सुनीतिकुमार चटर्जी)
३. इम्पीरियल गजेटियर, वोल्यूम २३वाँ

४. ए डिस्क्रिप्टिव केटेलॉग ऑव बार्डिक ऐण्ड हिस्टोरिकल मैनुस्क्रिप्टस् (तैस्सितोरी)
५. एनसाइक्लोपीडिया ऑव रिलीजन एण्ड इथिक्स (टी० क्लार्क)
६. एज यू लाइक इट (शेक्सपियर)
७. गुजरात ऐण्ड इट्स लिटरेचर (के० एम० मुन्शी)
८. दि इण्डियन लिटरेचर्स ऑव टुडे (बी० कुमारप्पा)
९. दि एनल्स ऐण्ड ऐंटिक्विटीज ऑव राजस्थान (कर्नल टॉड)
१०. दि माडर्न वर्नाक्युलर लिटरेचर ऑव हिंदुस्तान (ग्रियर्सन)
११. दि रूलिंग प्रिंसेज, चीफ्स ऐण्ड लीडिंग पर्सनेजेज इन राजपूताना ऐण्ड अजमेर
१२. दि हिस्ट्री ऑव इण्डियन ऐण्ड ईस्टर्न आर्किटेक्चर (फर्ग्यूसन)
१३. प्रेलिमिनेरी रिपोर्ट ऑन दि आपरेशन इन सर्च आव मैनुस्क्रिप्टस् ऑव बार्डिक क्रोनिकल्स (हरप्रसाद)
१४. प्रोसीडिंग्ज़ ऑव दि रायल एशियाटिक सोसाइटी ऑव बंगाल
१५. फॉल ऑव दि मुगल एम्पायर (जदुनाथ सरकार)
१६. महाराणा कुंभा (हरबिलास सारडा)
१७. महाराणा साँगा (हरबिलास सारडा)
१८. मैमोरियल्स ऑव दि जयपुर एग्ज़िबिशन (टी० एच० हैंडले)
१९. लिंग्विस्टिक सर्वे ऑव इंडिया (ग्रियर्सन), वोल्यूम ९, भाग १—२
२०. सेंटेनरी रिव्यू ऑव दि एशियाटिक सोसाइटी ऑव बंगाल
२१. हिस्ट्री ऑव क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर (एम० कृष्णमाचार्य)
२२. हिस्ट्री ऑव हिंदी लिटरेचर (की)
२३. हिंदी सर्च रिपोर्ट्स (ना० प्र० स०)

संस्कृत और अपभ्रंश

१. अपभ्रंशकाव्यत्रयी (गायकवाड़ ओरियंटल सीरीज़)
२. गीतगोविंद की टीका (महाराणा कुंभा)
३. चंद्रालोक (जयदेव)
४. पुरातन प्रबंध-संग्रह (मुनि जिनविजय)
५. पृथ्वीराज विजय महाकाव्य (जयानक)
६. राजप्रशस्ति महाकाव्य (रणछोड़ भट्ट)
७. संदेशरासक (अब्दुल रहमान)

राजस्थानी

१ केहरप्रकाश (बख्तावरजी)
२ डिंगल-कोश (मुरारिदान)
३ बाँकीदास-ग्रंथावली (ना० प्र० स०)
४ रतनरासौ (जग्गाजी)
५ राजरूपक (ना० प्र० स०)
६ वीर-सतसई (सूरजमल)
७ वेलि क्रिसन रुकमणी री (पृथ्वीराज)
८ श्रीगीताजी (चतुरसिंह)
९ हालाँ झालाँ रा कुंडलिया (ईसरदास)

गुजराती

१ कविचरित (केशवराय-काशीराम)
२ गुजराती भाषा नी उत्क्रान्ति (बेचरदास)
३ जैन गूर्जर कविओ (मोहनलाल-दलीचन्द देसाई), भाग १–४
४ बृहत् काव्य दोहन (इच्छाराम-सूर्यराम), भाग ७वाँ

उर्दू और फारसी

१ आइने अकबरी (अबुलफजल)
२ पृथ्वीराज रासौ (राजपूत प्रिंटिंग वर्क्स लाहौर)

बंगला

१ दादू (क्षितिमोहन सेन)

हस्तलिखित ग्रंथ

	नाम	लिपिकाल
१	अनुभवप्रकाश (जसवंतसिंह)	सं० १७३२
२	अनूप-रसाल (उदयचंद)	१८वीं शताब्दी
३	अनूप-शृंगार (अभयराम)	१८वीं शताब्दी
४	अपरोक्षसिद्धान्त (जसवंतसिंह)	सं० १७३२
५	अमरचंद्रिका (सूरति मिश्र)	सं० १८११

१७

नाम	लिपिकाल
६ अलसमेदिनी (नंदराम)	१८ वीं शताब्दी
७ अवतारचरित्र (नरहरिदास)	सं० १८८२
८ अश्वमेध-कथा (मुरली)	सं० १८४८
९ आनंदविलास (जसवंतसिंह)	सं० १७३३
१० इच्छाविवेक (जसवंतसिंह)	१८वीं शताब्दी
११ इश्कचमन (नागरीदास)	सं० १८५७
१२ कवित्त (तत्ववेत्ता)	१८वीं शताब्दी
१३ कविवल्लभ (जान)	१८वीं शताब्दी
१४ कविवल्लभ (हरिचरणदास)	सं० १८६६
१५ काव्यसिद्धान्त (सूरत मिश्र)	१९वीं शताब्दी
१६ खेमदास-ग्रंथावली	सं० १७५७
१७ खुँमाणरासौ (दलपति विजय)	१८वीं शताब्दी
१८ ख्यात (मुहणोत नैणसी)	सं० १८९९
१९ ज्ञानसमुद्र (सुन्दरदास)	सं० १७८२
२० चमत्कारचंद्रोदय (रसपुंज)	सं० १८६६
२१ चरणदास—ग्रंथावली	सं० १८७९
२२ छंदसार (सूरति मिश्र)	१८वीं शताब्दी
२३ जगतविनोद (पद्माकर)	सं० १८७५
२४ जगविलास (नंदराम)	सं० १८७८
२५ जसवंत—उद्योत (दलपत मिश्र)	सं० १७४१
२६ जहाँगीरचंद्रिका (केशवदास)	सं० १७९६
२७ क्रियाविनोद (मुरली)	सं० १८००
२८ दादूजी की वाणी	सं० १८८८
२९ दीन-काव्य-संग्रह (दीनजी)	सं० १८५९
३० ध्यान-मंजरी (अग्रदास)	सं० १८७०
३१ नरसीजी रो माहेरो	सं० १९९८
३२ नेहतरंग (बुधसिंह)	सं० १७९७
३३ परशुराम—सागर	सं० १८३६
३४ पिंगल-शिरोमणि (कुशललाभ)	सं० १८००
३५ पृथ्वीराजरासौ (चंद)	सं० १७६०
३६ बिहारी-सतसई (चित्रित)	१८वीं शताब्दी

	नाम	लिपिकाल
३७	बिहारी-सतसई	सं० १७२४
३८	बिहारी-सतसई	सं० १७४६
३९	बिहारी-सतसई की टीका (मानसिंह)	सं० १७७३
४०	बुद्धिरासौ (जल्ह)	सं० १७०४
४१	ब्रजराज-पद्यावली (जवानसिंह)	सं० १८८६
४२	भक्तमाल (नाभादास)	सं० १७२४
४३	भक्तमाल की टीका (प्रियादास)	सं० १८५९
४४	भक्तमाल की टीका (बालकराम)	सं० १९३२
४५	भक्तिविनोद (सूरति मिश्र)	सं० १८७८
४६	भर्तृहरि-शतक भाषा (प्रतापसिंह)	सं० १८८५
४७	भाषाभूषण (जसवंतसिंह)	सं० १७७३
४८	मदनविनोद (जान)	१८वीं शताब्दी
४९	रसकोष (जान)	सं० १६८२
५०	रसपीयूषनिधि (सोमनाथ)	सं० १८७६
५१	रसमंजरी (जान)	सं० १७११
५२	रसरत्न (सूरति मिश्र)	१८वीं शताब्दी
५३	रसलरस (शिवदास)	सं० १७९४
५४	रसिकप्रिया की टीका (सूरति मिश्र)	सं० १९२६
५५	रसिकविलास (केहरी)	१८वीं शताब्दी
५६	रसिकहुलास (सूरदत्त)	सं० १७४९
५७	रागमाला (चित्रित)	१८वीं शताब्दी
५८	राजविलास (मानजी)	सं० १७४६
५९	राजस्थानी वार्ता (बाँकीदास)	२०वीं शताब्दी
६०	राणा रासौ (दयालदास)	सं० १९४४
६१	राधाजी नुँ रूसणुँ (वल्लभ)	सं० १८३३
६२	रैण रूपारस (नागरीदास)	सं० १८५७
६३	वाराणसी-विलास (देवकरण)	सं० १८०३
६४	विज्ञानगीता (केशवदास)	सं० १७९९
६५	वृंद-रत्नावली (घनश्यामजी)	सं० १९९५
६६	संग्रामसार (कुलपति मिश्र)	१८वीं शताब्दी
६७	संतगुणसागर (माधौदास)	सं० १८१७

	नाम	लिपिकाल
६८	सज्जनप्रकाश (मदनेश)	सं० १९३४
६९	सज्जनविनोद (मार्कण्डेलाल)	सं० १९३०
७०	सज्जनविलास (वल्लभ)	सं० १९३५
७१	सत्यभामाजी नुं रूसणुं (वल्लभ)	सं० १८३३
७२	सिद्धान्तसार (जसवंतसिंह)	सं० १७३३
७३	हरिव्यास छब्बीसी	१९वीं शताब्दी

पत्र-पत्रिकाएँ

१ चाँद
२ जर्नल ऑव दि एशियाटिक सोसाइटी ऑव बंगाल (कलकत्ता)
३ जर्नल ऑव दि रायल एशियाटिक सोसाइटी (लंदन)
४ नागरीप्रचारिणी पत्रिका
५ भारतीय विद्या
६ माडर्न रिव्यू
७ माधुरी
८ राजस्थान-भारती
९ राजस्थानी
१० विशाल भारत
११ सुकवि
१२ हिंदुस्तानी
१३ हितैषी

कवि-नामानुक्रमणिका